सौंदर्यशास्त्र

डॉ. ममता चतुर्वेदी

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
जयपुर

सौंदर्यशास्त्र

कलात्मक विवेचन

{ कला स्नातक, स्नातकोत्तर एवं डिप्लोमा पाठ्यक्रमानुसार }

डॉ॰ ममता चतुर्वेदी

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर

मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार की विश्वविद्यालय-स्तरीय ग्रन्थ-निर्माण योजना के अन्तर्गत, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर द्वारा प्रकाशित।

प्रथम संस्करण : 1997

ISBN-81-7137-222-8

मूल्य : 83.00 रुपये मात्र

© सर्वाधिकार प्रकाशक के अधीन

प्रकाशक :

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

प्लाट नं॰ 1, झालाना संस्थानिक क्षेत्र,

जयपुर-302 004

लैज़र कम्पोजिंग :

प्रेम मार्केटिंग,

1-क-1, जवाहर नगर,

जयपुर-4

मुद्रक :

कोटावाला ऑफसैट

जयपुर

प्रकाशकीय भूमिका

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी अपनी स्थापना के 27 वर्ष पूरे करके 15 जुलाई, 1996 को 28वें वर्ष में प्रवेश कर चुकी है। इस अवधि में विश्व-साहित्य के विभिन्न विषयों के उत्कृष्ट ग्रन्थों के हिन्दी अनुवाद तथा विश्वविद्यालय के शैक्षणिक स्तर के मौलिक ग्रन्थों को हिन्दी में प्रकाशित कर अकादमी ने पाठकों की सेवा करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है और इस प्रकार विश्वविद्यालय स्तर पर हिन्दी में शिक्षण के मार्ग को सुगम बनाया है।

अकादमी की नीति हिन्दी में ऐसे ग्रन्थों का प्रकाशन करने की रही है जो विश्वविद्यालय के स्नातक और स्नातकोत्तर पाठ्यक्रमों के अनुकूल हों। विश्वविद्यालय स्तर के ऐसे उत्कृष्ट मानक ग्रन्थ, जो उपयोगी होते हुए भी पुस्तक प्रकाशन की व्यावसायिकता की दौड़ में अपना समुचित स्थान नहीं पा सकते हों; और ऐसे ग्रंथ भी, जो अंग्रेजी की प्रतियोगिता के सामने टिक नहीं पाते हों; अकादमी प्रकाशित करती है। इस प्रकार अकादमी ज्ञान-विज्ञान के हर विषय में उन दुर्लभ मानक ग्रंथों को प्रकाशित करती रही है और करेगी, जिनको पाकर हिन्दी के पाठक लाभान्वित ही नहीं; गौरवान्वित भी हो सकें। हमें यह कहते हुए हर्ष होता है कि अकादमी ने 425 से भी अधिक ऐसे दुर्लभ और महत्त्वपूर्ण ग्रंथों को प्रकाशित किया है जिनमें से एकाधिक केन्द्र, राज्यों के बोर्डों एवं अन्य संस्थाओं द्वारा पुरस्कृत किये गये हैं तथा अनेक विभिन्न विश्वविद्यालयों द्वारा अनुशंसित।

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी को अपने स्थापना काल से ही भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय से प्रेरणा और सहयोग प्राप्त होता रहा है तथा राजस्थान सरकार ने इसके पल्लवन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है, अतः अकादमी अपने लक्ष्यों की प्राप्ति में उक्त सरकारों की भूमिका के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करती है।

सौंदर्यशास्त्र पुस्तक को दो खण्डों में विभक्त करके यूनानी सौंदर्यशास्त्र, नवप्लेटोवाद, नव-शास्त्रीय युग, आंग्ल-अनुभववादी सौंदर्यशास्त्र, जर्मन सौंदर्यशास्त्र, अभिव्यंजनावादी सौंदर्यशास्त्र, कलावादी सिद्धान्त, मनोवैज्ञानिक सौंदर्यशास्त्र, रूसी भौतिकवादी एवं मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र एवं आधुनिक सौंदर्यशास्त्र के साथ ही सौंदर्यशास्त्र की भारतीय परंपरा, रस-सिद्धान्त, भारतीय काव्य- शास्त्र के व्याख्याकार एवं आधुनिक भारतीय सौंदर्य विचारकों पर विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इससे सौंदर्यशास्त्र के अध्ययन के रुचिशील एवं सभी संबद्ध जनों के लिए पुस्तक बहु-उपयोगी सिद्ध होगी।

हम लेखिका डॉ॰ ममता चतुर्वेदी, प्रवक्ता चित्रकला, राजस्थान स्कूल ऑफ आर्ट, जयपुर एवं समीक्षक डॉ॰ पी॰ एन॰ चोयल, उदयपुर के प्रति प्रदत्त सहयोग हेतु आभारी हैं।

ललित किशोर चतुर्वेदी
उच्च शिक्षा मंत्री, राजस्थान सरकार एवं
अध्यक्ष, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी,
जयपुर

डॉ॰ वेद प्रकाश
निदेशक
राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी,
जयपुर

आमुख

भारतीय कला महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों में कला की उच्च शिक्षा के अन्तर्गत सौंदर्यमूलक सैद्धान्तिक अध्ययन भी समाविष्ट है । सौंदर्य तथा कला परस्पर संबंधित रहे हैं । कला में साहित्य, मनोविज्ञान, सौंदर्यशास्त्र, समाज, धर्म आदि भी अन्तर्सम्बद्ध हैं । फलस्वरूप इस बात का ज्ञान होना भी आवश्यक है कि सौंदर्यशास्त्रीय विचारों का पाश्चात्य तथा भारतीय कलाओं के आद्यान्त विकास पर क्या प्रभाव पड़ा अथवा विभिन्न वैचारिक क्रान्तियों से कला के विभिन्न आंदोलन तथा विधाएँ कैसे प्रभावित हुई, इस अध्ययन हेतु कला विद्यार्थियों को कलाओं का व्यापक दृष्टिकोण से अध्ययन प्रस्तुत करने वाली पुस्तकों की आवश्यकता है ।

प्रस्तुत पुस्तक लिखते समय मेरे सामने तीन उद्देश्य रहे हैं-प्रथम, कला विद्यार्थियों हेतु सौंदर्यशास्त्र की पाश्चात्य तथा भारतीय परंपराओं का पाठ्यक्रमानुसार एक ही पुस्तक में क्रमवत् परिशीलन प्रस्तुत हो सके । द्वितीय, सौंदर्यशास्त्रीय परंपराओं से विभिन्न कला आंदोलन कैसे प्रभावित हुए । तृतीय तथा सर्वप्रमुख उद्देश्य यह है कि यह पुस्तक हिंदी भाषा में हो । अनेक पुस्तकों में प्रस्तुत विषय का परिशीलन प्राप्त है तथापि उनका दृष्टिकोण कलात्मक न होकर दार्शनिक एवं साहित्यिक विचारधारा पर आधारित है तथा हिन्दी भाषा में कला के विद्यार्थियों के लिए अल्प मात्रा में उपलब्ध है ।

मैंने प्रस्तुत पुस्तक को दो खण्डों में विभाजित किया है- प्रथम खण्ड में पाश्चात्य परंपरा के आधार पर सौंदर्यशास्त्र का उद्‌भव तथा विकास, विभिन्न सौंदर्यशास्त्रियों के कला तथा सौंदर्य संबंधी मत प्रस्तुत करते हुए उनका यूनानी कला से बीसवीं शताब्दी तक के कला आंदोलन पर पड़ने वाले प्रभावों का संक्षिप्त विवेचन किया है । द्वितीय खण्ड सौंदर्यशास्त्र की भारतीय परंपरा से संबंधित है जिसमें वैदिककालीन सौंदर्य परंपरा से लेकर रस-सिद्धान्त की अत्याधुनिक सौंदर्य संबंधी परम्परा तक मत प्रस्तुत किये हैं । इनके अतिरिक्त ललितकलाओं की समस्त विधाओं के अन्तः संबंध का भी संक्षिप्त परिचय दिया है । परिशिष्ट में सहायक ग्रंथों की सूची तथा लेखक नामानुक्रमणिका भी विद्यार्थियों की सुविधा हेतु संलग्न की गयी है । आशा है यह पुस्तक कला-विद्यार्थियों हेतु इस विषय अध्ययन में पर्याप्त सहायक होगी ।

उक्त दिशा में किया गया यह मेरा प्रयास है जो पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है ।

इस पुस्तक की रचना में मुझे मेरे सहकर्मी श्री विद्यासागर उपाध्याय का मार्गदर्शन एवं मेरे पति श्री मुकेश चतुर्वेदी का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है । राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी के निदेशक डॉ॰ वेद प्रकाश एवं प्रकाशन अधीक्षक श्री महेशचन्द्र जैन की भी मैं बहुत आभारी हूँ जिन्होंने पुस्तक को सुन्दर रूप में प्रकाशित करके मेरा उत्साहवर्धन किया है ।

डॉ॰ ममता चतुर्वेदी

प्रवक्ता चित्रकला

राजस्थान स्कूल ऑफ आर्ट, जयपुर

दिनांक : 20-3-97

अनुक्रमणिका

आमुख	पृष्ठ संख्या
सौंदर्यशास्त्र : एक परिचय	1 - 8

प्रथम खण्ड : पाश्चात्य सौंदर्यशास्त्र

1.	**प्रारंभिक युग यूनानी सौंदर्यशास्त्र :** प्लेटो, अरस्तू	11 - 31
2.	**मध्ययुग : नवप्लेटोवाद** प्लाटिनस, संत आगस्टाइन, टॉमस एक्विनास	32 - 40
3.	**नवशास्त्रीय युग : बुद्धिवादी धारा** फ्रांसिस बेकन, रेने देकार्त, हॉब्स, जी०डब्ल्यू० लाइबनीज	41 - 48
4.	**आंग्ल–अनुभववादी सौंदर्यशास्त्र** लॉक, विलियम होगार्थ, शैफ्ट्सबरी, एडीसन, डेविड ह्यूम, एडमंड बर्क	49 - 56
5.	**जर्मन सौंदर्यशास्त्र** एलेक्जेन्डर बाउमगार्टेन, जे० जी० सुल्जर, एम० मेन्डलसन, विन्किलमान, जी० ई० लेसिंग, जे० जी० हर्डर, हाइन्स, इमानुएल कांट, गेटे, डब्ल्यू० वी० हम्बोल्ट, एफ० शिलर, जी० डब्ल्यू० एफ० हीगेल, आर्थर शॉपेनहावर, फ्रेडरिख़ नीत्शे	57 - 86
6.	**अभिव्यंजनावाद** बेनादतो क्रौचे	87 - 100
7.	**कलावादी सिद्धान्त** रोजर फ्राय, क्लाइव बेल	101 - 105
8.	**मनोवैज्ञानिक सौंदर्यशास्त्र** थियोडोर लिप्स, सिगमंड फ्रायड	106 - 114

9. **रूसी भौतिकवादी एवं मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र** 115 - 126
बी॰ जी॰ बेलिन्सिकी, एन॰ जी॰ चर्निशेवस्की,
मार्क्सवादी विचारधारा : द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, लियो टॉल्सटॉय

10. **आधुनिक सौंदर्यशास्त्र–प्रकृतवाद** 127 - 140
जॉन रस्किन, आई॰ ए॰ रिचर्ड्स, आर॰जी॰ कलिंगवुड, हर्बर्ट रीड़,
सूजन के॰ लैंगर, वर्नन ली, जॉर्ज संतायना, विल्हेल्म वारिंजर

द्वितीय खण्ड : भारतीय सौंदर्यशास्त्र

1. **सौंदर्यशास्त्र की भारतीय परंपरा** 143 - 161
वात्स्यायन, विष्णु-धर्मेतर पुराण, नग्नजित्, सोमेश्वर,
मानसार, समरांगणसूत्रधार, बौद्ध सौंदर्य-दर्शन

2. **रस–सिद्धान्त** 162 - 178
भरत मुनि, रस सिद्धान्त के व्याख्याकार – भट्ट लोल्लट : उत्पत्तिवाद,
शंकुक : अनुमितिवाद, भट्टनायक : भुक्तिवाद, अभिनवगुप्त :
अभिव्यक्तिवाद

3. **भारतीय काव्यशास्त्र के अन्य व्याख्याकार एवं मत** 179 - 182
ध्वनि सिद्धान्त : आनंदवर्धन,
अलंकार सिद्धान्त : आचार्य भामह, रीति मत : आचार्य वामन,
औचित्य सिद्धान्त : आचार्य क्षेमेन्द्र

4. **साधारणीकरण तथा रसानुभूति** 183 - 192
साधारणीकरण, रसानुभूति एवं सौंदर्यबोध,
चित्रकला में रसनिष्पत्ति तथा साधारणीकरण

5. **आधुनिक सौंदर्य विचारक** 193 - 203
रवीन्द्र नाथ ठाकुर, आनंद कुमार स्वामी, ई॰ बी॰ हैवेल

परिशिष्ट

प्रमुख सहायक ग्रंथ 204 - 205

लेखक नामानुक्रमणिका 206 - 208

□□□

जिनकी प्रेरणा व आशीर्वाद

मुझे निरन्तर कार्य करने को

उत्साहित करते रहे है,

उन वयोवृद्ध परिजनों

को

सादर समर्पित

सौंदर्यशास्त्र : एक परिचय

"ऐस्थेटिक" शब्द यूनानी भाषा से लिया गया है जिसका मूल रूप "Atoantikos" है । यही यूनानी शब्द बाद में "ऐस्थेसिस" हुआ जिसका अर्थ है-"ऐन्द्रिय सुख की चेतना" । इसी "ऐस्थेसिस शब्द से "ऐस्थेटिक" शब्द बना । हिन्दी भाषा में इसे "सौंदर्यशास्त्र" या "नन्दनशास्त्र" के रूप में जाना जाता है । "ऐस्थेटिक्स" का शाब्दिक अर्थ है-ऐन्द्रिय प्रत्यक्षों का ज्ञान के माध्यम से किया गया अध्ययन । बाद में "एस्थेटिक्स" उस शास्त्र को कहा जाने लगा जो ऐन्द्रिय बोध से प्राप्त सौंदर्यानुभूति के आत्मिक आनंद का विश्लेषण करता है ।

प्रारंभ में सौंदर्यशास्त्र दर्शनशास्त्र का ही एक अंग था । इसे तत्व दर्शन, आचार-शास्त्र तथा मनोविज्ञान ने प्रभावित किया जिससे इसका स्वरूप विकसित होता गया । सौंदर्यशास्त्र के अन्तर्गत चाक्षुष एवं श्रवण दोनों ऐन्द्रिय बोधों की प्रमुखता रही है क्योंकि समस्त इन्द्रियों में से ये दो इन्द्रियाँ ही सत्य के अधिक निकट हैं । इसके अतिरिक्त सौंदर्यशास्त्र में तीन प्रकार के सौंदर्य पर विचार किया जाता है :

(1) ऐन्द्रिय सौंदर्य,

(2) विधानगत सौंदर्य; तथा

(3) अभिव्यक्तिगत सौंदर्य ।

पश्चिम में भी 18वीं शताब्दी से पूर्व इस प्रकार के शास्त्र का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं था । "ऐस्थेटिक" शब्द का प्रथम अर्थ-विकास "ऐस्थेटिक वह शास्त्र है, जिसका संबंध कला और प्रकृति में व्याप्त समग्र "सुन्दर" तथा "उदात्त" से है"-के रूप में हुआ । 1750 ई० में ज़र्मन विद्वान ऐलेक्जेण्डर बाउमगार्टेन ने इसे दर्शनशास्त्र की एक शाखा के रूप में स्वीकार किया तथा अपने ग्रंथ "ऐस्थेटिक" में सौंदर्य तथा कला का क्रमबद्ध विवेचन करने वाले इस शास्त्र को "सौंदर्यशास्त्र" के नाम से संबोधित किया । अब तक दार्शनिकों ने ऐसे किसी शास्त्र की कल्पना नहीं की थी । फुटकर रूप में विभिन्न कलाओं के विषय में चिंतन की परंपरा अवश्य प्राचीन थी, किंतु बाउमगार्टेन ने ही इसे सर्वप्रथम एक शास्त्र के रूप में "सौंदर्यशास्त्र ऐन्द्रिय ज्ञान का विज्ञान है"- कहकर परिभाषित किया । कांट ने "संवेदनाओं के दार्शनिक विवेचन" को सौंदर्यशास्त्र कहा ।

समस्त कलाओं में निहित सामान्य आधारभूत तत्त्वों के दर्शन के रूप में सौंदर्यशास्त्र के अर्थ-निर्धारण का समर्थ प्रयास जर्मन विद्वान हीगेल ने किया । इन्होंने अपने ग्रंथ "द फिलॉसफी

ऑफ फाइन आर्ट" में कहा है कि सौंदर्यशास्त्र का संबंध सौंदर्य के संपूर्ण क्षेत्र से माना जा सकता है तथापि वास्तविक अर्थ में सौंदर्यशास्त्र का संबंध ललितकलाओं के माध्यम से अभिव्यक्त सौंदर्य से है न कि अन्य माध्यमों से अभिव्यक्त सौंदर्य से। हीगेल ने सौंदर्यशास्त्र को "ललितकलाओं का दर्शन" कहा, इसीलिए कुछ विचारक "एस्थेटिक्स" को 19वीं शताब्दी का हीगेलीय आविष्कार मानते हैं। हीगेल ने अपनी प्रतिभा के बल पर बिखरे हुए सूत्रों को व्यवस्थित करके एक विराट सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत किया था।

हीगेल के पश्चात् जर्मन विद्वान क्रोचे ने सौंदर्यशास्त्र को स्वतंत्र एवं स्वतः संपूर्ण विचार प्रणाली के रूप में प्रतिष्ठित किया। उन्होंने "ऐस्थेटिक" को अभिव्यक्ति की पुनः प्रत्यक्षात्मक तथा कल्पनात्मक क्रियाओं का विज्ञान माना। इनके मतानुसार सौंदर्यशास्त्र का विषय मानव की कल्पना, पुनः प्रत्यक्ष तथा अभिव्यक्ति से संबंधित है। सौंदर्यशास्त्र की परिभाषा में मनोवैज्ञानिक विचारक फैचनर (1801-1887) ने सौंदर्यशास्त्र का संबंध मनोविज्ञान या प्रयोगात्मक अनुभव से जोड़कर इसे नयी दिशा दी तथा प्रयोगात्मक सौंदर्यशास्त्र की स्थापना की। इस दृष्टि से सौंदर्यशास्त्र को सौंदर्य की अनुभूति या आनंद तथा कला-सृजन या कलाकृति का अध्ययन करने वाला शास्त्र कहा गया। तत्पश्चात् मार्क्सवादी विचारधारा में सौंदर्यशास्त्र के अन्तर्गत सामाजिक आर्थिक विकास के ऐतिहासिक संदर्भ में सौंदर्यबोध का अध्ययन किया गया, किंतु यह मत समाजवादी अधिक था। आधुनिक युग में दार्शनिक सौंदर्यशास्त्र के विरुद्ध तीव्र प्रतिक्रिया हुई तथा समस्त विचारों में संतुलन का प्रयास किया गया। इनमें सूजन के० लैंगर प्रमुख हैं। लैंगर के अनुसार "सौंदर्यशास्त्र ललितकलाओं के दार्शनिक विकल्पों तथा समस्याओं का सैद्धान्तिक निरुपण है। लैंगर ने सौंदर्यशास्त्र का संबंध अभिव्यक्ति से नहीं माना। उन्होंने कला के प्रभाव-पक्ष के विवेचन-विश्लेषण को ही प्रधान विवेच्य विषय माना।

पाश्चात्य देशों के समान ही पूर्वी देशों में भी सौंदर्यशास्त्रीय चिंतन-परंपरा मिलती है। पाश्चात्य कला-चिंतन का प्रमुख केन्द्र "सौंदर्य" है। जापान में "यूगेन" (कलाकृति के माध्यम से व्यंजित पदार्थगत आंतरिक गहन सौंदर्य) को कला-चिंतन का आधारभूत तत्त्व माना गया। चीन में ध्वनि-बोधक सिद्धान्त के द्वारा कला-चिंतन की अवधारणा की गयी। भारत में कला-चिंतन तथा सौंदर्यशास्त्र का विशिष्ट अन्वेषण "रस-सिद्धान्त" द्वारा किया गया। भारतीय कला-दर्शन के अनुसार चेतन, अचेतन तथा अतिचेतन मन से सृजन का प्रारंभ होता है, इसलिए कला की रूप-सृष्टि में व्यष्टि ही नहीं समष्टि भी अपनी छवि दर्शाती है। यही कला की सार्वभौमिकता है। कला एक की न रहकर सर्वमय, सर्वकालिक तथा अमर हो जाती है। कला में जड़ कुछ नहीं होता क्योंकि इसमें चैतन्य की अभिव्यक्ति होती है। भारतीय धर्म ऋषियों ने देखा कि आत्मा से बढ़कर और आत्मा के अतिरिक्त विश्व में कुछ भी प्रिय नहीं है। जो प्रिय है, वह सुंदर है, आनंद है, रस है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी कहा था कि "प्रेम से अधिक सुंदर यहाँ कुछ भी नहीं।" कला में आत्म-चैतन्य" अपनेपन की प्रतिच्छाया मिलती है। अचेतन, स्थूल माध्यम में चेतना का चमत्कार दर्शाना-यही कला का कृतित्व है। इस प्रकार सुंदर की अनुभूति में आत्मा का ही साक्षात्कार होता है। जिस रूप में प्रियतम आत्म-चेतना का विलास नहीं वह अर्थहीन है। जब अर्थ ही नहीं है तो उसमें सत्य भी नहीं है। जो प्रिय तथा सत्य नहीं है उसमें शिव अर्थात् शुभ का कैसे निवास हो सकता है।

आत्माभिव्यक्ति ही कला का प्राण है, आत्मा का प्रकटीकरण है, प्रत्यक्ष रूप है, इसलिए कला में सत्यम्-शिवम्-सुन्दरम् का अनुभव न हो, यह असंभव है । भारतीय कला-दर्शन तथा सौंदर्य-दृष्टि का मूल तत्त्व ही सत्यम्-शिवम्-सुन्दरम् है ।

वेदों में रस और आनंद है, रूप तथा रंग है, संगीत तथा ऋक् (पद्य) है, सूक्ति तथा गाथा है तथा अंत में सत्-चित्त-आनंद है अर्थात् वह सब कुछ है जिससे कला का निर्माण होता है । वेद की कलादृष्टि में "रूप" कला का सार है तथा रूप में लयविधान ही उसका सर्वस्व है । वेद में "अर्थ शून्य" कुछ भी नहीं है । कला अपने कौशल से अचेतन में चेतना का चमत्कार जगाती है तथा चैतन्य का यह चमत्कार ही "अर्थ" है । भरत मुनि ने अपने कला-चिंतन में इस "अर्थ" को ही नहीं स्वीकार किया, वरन् कहा कि काव्यार्थ वह होता है जो हृदय-संवादी-प्रिय-सुंदर हो । ऐसा काव्यार्थ मन की गंभीर वेदनाओं का स्पर्श करता है जिससे मन में भावनाओं के उद्रेक से वह भावित अर्थात् रसनीय हो जाता है । यही रसानुभूति सौंदर्य चेतना को जगाती है ।

भारतीय कला-चिन्तन में मन की सात्विक भावना पर बल दिया गया है । भारतीय दृष्टि में मन अन्तर्मुखी होकर सत्य तथा आत्मा के प्रत्यक्षीकरण से शांति का अनुभव करता है जो सत्य, शिव तथा सुंदर है । मन की रजोगुण तथा तमोगुण वृत्तियाँ सत्य में लीन होकर आत्म-प्रत्यक्ष करती हैं जिससे मन अखण्ड हो जाता है, इसीलिए भारतीय आचार्यों ने कहा है, "अखण्ड बुद्धि समास्वाद्यं काव्यम् "। यह अखण्डता रूप में प्रतिरूपित होती है । रूप का सृजन ही कलात्मक सृजन है जिसकी अनुभूति कला की अनुभूति है । कलाकार रूप का स्थूल माध्यमों से लय के चमत्कार द्वारा सृजन करता है जिसके श्रेष्ठ उदाहरण नटराज, कोणार्क की मूर्तियों तथा अजंता ऐलोरा की कला में मिलते हैं जहाँ जड़ता का कहीं भी दर्शन नहीं होता ।

पंचपगेश शास्त्री ने "सौंदर्यशास्त्र को रसानुभूति से प्राप्त आनंद का दार्शनिक विवेचन" कहा है । के० एस० रामस्वामी शास्त्री के अनुसार, "सौंदर्यशास्त्र कला में अभिव्यक्त सौंदर्य का विज्ञान है ।" के० सी० पाण्डेय के अनुसार, "सौंदर्यशास्त्र ललितकलाओं का विज्ञान तथा दर्शन है । "भारतीय सौंदर्य-दृष्टि व्यापक और उदार होने के कारण जीवन के सभी क्षेत्रों में अन्तर्प्रविष्ट है, वैदिक यज्ञ में साम-गान और वेदिकाओं के निर्माण से लेकर प्रत्येक लोक-अनुष्ठान तक सुंदर तथा लोक-शुभत्व की भावना ओतप्रोत है ।

भारतीय विचारकों का एक वर्ग सौंदर्यशास्त्र को काव्यशास्त्र, अलंकारशास्त्र, साहित्यशास्त्र आदि का पर्याय मानता है, किंतु काव्यशास्त्र का अध्ययन काव्य तक सीमित है तथा सौंदर्यशास्त्र समस्त कलाओं का शास्त्र है । सौंदर्यशास्त्र की सीमा काव्य के साथ काव्येतर कलाओं (स्थापत्य, मूर्ति, चित्र तथा संगीत) तक विस्तृत है, इसलिए सौंदर्यशास्त्र मात्र काव्यशास्त्र नहीं बल्कि कलाशास्त्र है ।

ऐतिहासिक अध्ययन के पश्चात् हम कह सकते हैं कि सौंदर्यशास्त्र का स्वतंत्र विकास ललितकलाओं के अपने शास्त्रों तथा विशेषकर काव्यशास्त्र के विकास के पश्चात् हुआ है । डॉ० कुमार विमल ने कहा है कि सौंदर्यशास्त्र काव्यशास्त्र का ही विकसित रूप है । पाश्चात्य तथा

पूर्वी काव्यशास्त्रीय परंपराओं में काव्यशास्त्र के विश्लेषण का प्रधान विषय सौंदर्य ही है जो सौंदर्यशास्त्रीय अध्ययन का भी मूलाधार है। पाश्चात्य काव्यशास्त्र की "ब्यूटी", "एक्सीलेन्स", "सब्लाइम" आदि तथा भारतीय काव्यशास्त्र के "चारुता", "चमत्कार", "वक्रता", "औचित्य", "अलंकार", "रस", "लावण्य", "रमणीयता" आदि शब्द भेद से सौंदर्य के ही पर्याय हैं।

कला का अर्थ तथा ललितकलाओं का अन्तः संबंध

कला के अनेक पहलू हैं, अनेक दिशायें हैं, विविध दिशाओं में अनेक उद्देश्य तथा विशेषताएँ हैं – इन विविधताओं में कला क्या है ? यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है उसी प्रकार, जैसे कि हम यह पूछें जीवन क्या है ? कला के सदंर्भ में दो प्रश्न उठते हैं-कला, कला के लिए है तथा कला जीवन के लिए है। कला और जीवन को पृथक् नहीं किया जा सकता। कला में प्रत्येक स्थान एवं काल में जीवन का स्पन्दन छिपा है जिसकी प्रस्तुति में विभिन्नता हो सकती है।

कला रूप की सर्जना करती है। अरूप को रूप देती है। अव्यक्त को व्यक्त करती है। जन-साधारण कला को मनोविनोद का साधन मानते हैं अर्थात् मन को आनंद देने वाला – विशिष्ट नोदन। यद्यपि मनोविनोद भी साधारण बात नहीं है, तथापि कला-मनोनिर्माण मन का निर्माण भी करता है। सृजन ही कला का सार है और सृजन का सर्वस्व है-नूतन चेतना का आविर्भाव, नये आयाम और स्फूर्ति का उदय। कला व्यापक है केवल चित्र संगीत व मूर्ति कला ही कला नहीं है। स्वर-शब्द, रंग-रेखा, आकार-आयाम, सज्जा अलंकार आदि सभी में अपनी समूची रूप-सपंदा व रूप-विधान को लेकर कला प्रकट होती है। अंतर केवल माध्यम का है।

पाश्चात्य तथा भारतीय विद्वानों ने कला को निम्नलिखित शब्दों में परिभाषित किया है :

प्लेटो के अनुसार, "कला सत्य की अनुकृति है। कला में हम ईश्वर द्वारा निर्मित सृष्टि को ही सत्यापित करते हैं।" अरस्तू ने कहा है कि "कला अनुकरणीय है। कला में सामान्य प्रत्यय को रूपायित किया जाता है क्योंकि विशिष्ट की अनुकृति उचित तथा संभव नहीं है। प्लाटिनस ने कला को "ऐन्द्रिय कल्पना न मानकर बौद्धिक कल्पना" कहा। बाउमगार्टेन ने कहा कि "कला प्रकृति की अनुकृति है"। हीगेल के अनुसार, "कला भौतिक सत्ता को व्यक्त करने का माध्यम है"। क्रोचे ने कला को "बाह्य प्रभाव की अभिव्यक्ति" माना। फ्रेडरिख़ नीत्शे ने कला को "आत्माभिव्यक्ति" कहकर परिभाषित किया। फ्रायड़ ने मनोवैज्ञानिक स्तर पर कला की कल्पना का संपूर्ण क्षेत्र "अर्धचेतन मस्तिष्क" की क्रिया माना। कलिंगवुड के अनुसार, "कला जीवन की आधारशिला है, संपूर्ण जीवन के अनुभवों की समग्र अभिव्यक्ति है, व्यक्ति और समाज की चेतना की एक महत्त्वपूर्ण क्रिया है।" रस्किन ने कला को ईश्वरीय कृति के प्रति "मानव आल्हाद की अभिव्यक्ति" माना। टाल्सटॉय के अनुसार, "अपने भावों को इस प्रकार अभिव्यक्त करना कि प्रेक्षक में भी वही भाव उत्पन्न हो; कला है।" हर्बर्ट रीड़ ने "कला को क्रीड़ा" माना। लैंगर ने कलादर्शन की दृष्टि से भावन अर्थात् प्रभाव-पक्ष को महत्त्व दिया है तथा "प्रभाव-पक्ष के विवेचन-विश्लेषण" को ही सौंदर्यशास्त्र का प्रधान विवेच्य विषय माना।

भारतीय दृष्टिकोण से साहित्य और कला का समान भाव रस-तत्त्व एक ही माना है। भारत में कला शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम ऋग्वेद में मिलता है "यथा कला यथा शफ, मघ शृण स नयामति।" ब्रह्मसूत्र में कहा गया है कि "अरूपदेव हित सुधानत्वात" अर्थात् जो आतंरिक भावों को कलात्मक रूप से अभिव्यंजित करे, वही कला है। "न तज्ज्ञानं न तच्छित्यं न सा विद्या न सा कला।" प्रथम शताब्दी में भरत मुनि ने कला की यथार्थवादी परिभाषा प्रस्तुत की। अभिनव गुप्त ने माना कि व्यंजना तथा ध्वनि रसानुभूति का स्वरूप तथा काव्य (कला) का लक्ष्य है। डॉ॰ श्यामसुंदर दास के मतानुसार, "जिस अभिव्यंजना में आतंरिक भावों का प्रकाशन तथा कल्पना का योग रहता है, वही कला है।" के॰ सी॰ पाण्डेय ने कहा कि "कला वह मानवीय क्रिया है जिसका विशेष लक्षण गहन निरीक्षण, गणना अथवा संकलन करना, मनन-चिंतन करना एवं स्पष्ट रूप से प्रकट करना है।" जयशंकर प्रसाद के मतानुसार, "ईश्वर की कर्तृत्व-शक्ति का संकुचित रूप जो हमें बोध हेतु मिलता है; कला है।" डॉ॰ जैनेन्द्र का मत है कि "कला वस्तुतः शिवत्व की उपलब्धि हेतु सत्य की सौंदर्यमयी अभिव्यक्ति है।" श्री भोलानाथ तिवारी के मतानुसार;

"शारीरिक या मानसिक कौशल जिसका प्रयोग किसी कृत्रिम निर्माण में किया जाये वही कला है।"

पाश्चात्य कला-दर्शन में कलाओं को दो भागों में विभाजित किया गया है-उपयोगी कला तथा ललित कला। उपयोगी कला का संबंध शिल्पकला से था जिसमें उपयोगिता तथा नैतिकता अपेक्षित है। ललित कला आवश्यक नहीं है कि उपयोगी भी हो। ललित कला भावों की अभिव्यक्ति है जबकि शिल्प कला कौशल है। भारतीय कला-विभाजन में उपयोगी तथा ललित कला का विभाजन कभी नहीं रहा।

उक्त विविध विचारों को ध्यान में रखते हुए कला के तीन अर्थ निश्चित होते हैं :

(1) कला एक क्रिया है जो सहज तथा संयमित है। यह प्रकृति की प्रक्रिया से भिन्न तथा विपरीत है। कला प्रकृति को नियंत्रित करने वाली एक बौद्धिक पद्धति है। मानवीय क्रिया-कलापों की दृष्टि से कला का क्षेत्र शिल्प, स्थापत्य, उद्योग, औषधि-विज्ञान, धर्म एवं शिक्षा तक विस्तृत है।

(2) सामाजिक सिद्धान्त तथा सौंदर्यशास्त्र की दृष्टि से कला का विभाजन ललित तथा उपयोगी दो वर्गों से किया जाता है। ललित कलाएँ किसी बाहरी उद्देश्य को पूरा नहीं करतीं। उपयोगी कलाएँ हमारे चारों ओर के वातावरण तथा वस्तुओं को प्रभावित करती हैं, तथापि कुछ कृतियों में दोनों प्रकार के गुण भी मिल सकते हैं।

(3) कला कोई एकार्थवादी नहीं है। कलाएँ अनेक हैं, उदाहरणार्थ, चित्रांकन की ललित कला, कालीन बुनने की उपयोगी कला आदि। रचना की प्रक्रिया के अनुसार ही कृति का नामकरण किया जाता है।

ललितकलाओं का अन्तः संबंध

समस्त ललित कलाएँ शैली, शिल्प, प्रेषणीयता आदि के माध्यम से भिन्न हो सकती हैं, किंतु कल्पना, बिम्ब, प्रतीक, प्रेषणीयता, विषय, विधान आदि सामान्य गुण सभी ललित कलाओं (स्थापत्य, मूर्ति, चित्र, काव्य, संगीत आदि) में समान रूप से मिलते हैं । ललित कलाओं का अन्तः संबंध दो दृष्टियों से समझा जा सकता है :

(1) प्रेरणा तथा तत्त्व-साम्य

समस्त ललित कलाओं के प्रेरणा-स्रोत मुख्यतः जीवन, धर्म तथा राष्ट्रीयता रहे हैं । मानव-मानव का परस्पर संबंध, मानव तथा समाज का संबंध, परस्पर प्रेम, घृणा, आकर्षण, हिंसा, विद्रोह, क्रोध, दया, शोक आदि प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न करता है जो मानव-मन में घनीभूत होकर कलाओं को जन्म देती हैं । जीवन के विविध भावों, वातावरण, मानवीय चेष्टाओं आदि ही कलाओं में माध्यम तथा शैली के भेद से प्रतिरूपित होते हैं । इस प्रकार मानव-जीवन से प्राप्त प्रेरणा तथा कलाएँ एक दूसरे से संबंधित हैं ।

धर्म भी कलाओं का प्रेरणा-स्रोत है । धर्म साधना की अनुभूतियों (उदात्तता, अलौकिकता, विश्व-करुणा, चमत्कार आदि) के प्रभाव को उत्पन्न करने का सभी कलाएँ प्रयास करती हैं । धार्मिक कार्यों के सम्पादन हेतु मंदिरों का निर्माण होता है, प्रतिमा स्थापित होती है, देव-माहिमा संबंधी चित्र बनाये जाते हैं तथा भक्ति संगीत गाया जाता है । इस प्रकार धर्म समस्त कलाओं को एक अंतःसूत्र में बाँधता है ।

राजनैतिक दृष्टि से भी कलाओं के माध्यम से राष्ट्र की परंपराएँ भौगोलिक सौंदर्य, जीवन, पूर्वजों का इतिहास, गौरव-गाथाओं आदि का प्रकाशन होता है । देशभक्ति संबंधी चित्र, प्रतिमाएँ तथा स्मारक बनाये जाते हैं, देशभक्ति गीतों की रचना होती है जिसके श्रेष्ठ उदाहरण "आनंद मठ" जैसा उपन्यास, "लिबर्टी गाइडिंग दी पीपुल" नामक चित्त तथा "विजयश्री की प्रतिमा" आदि महान् कलाकृतियाँ हैं । "युद्ध की विभीषिकाएं" तथा "ग्वेर्निका" जैसी कृतियाँ भी राजनैतिक प्रभाव लिए हैं ।

इस प्रकार कलाओं को समाज, धर्म तथा राजनीति से पृथक् नहीं किया जा सकता । कलाएँ भी समाज-सुधार, धर्म-प्रचार तथा देश की उन्नति में अत्यंत सहायक हैं ।

(2) ललित कलाओं की परस्पर निर्भरता

कलाओं की परस्पर निर्भरता भी उनके अन्तः संबंधों का प्रमुख कारण है । चित्रकला, मूर्तिकला, स्थापत्य कला तथा संगीत कला एक-दूसरे से गहन रूप से संबंधित हैं ।

चित्रकला, संगीत तथा काव्य कला परस्पर संबंधित है । भारतीय परंपरा में "रागमाला" चित्रों द्वारा राग-रागनियों का चित्रात्मक प्रदर्शन मिलता है । चित्र देखने मात्र से राग-रागनी, प्रकृति, रस, समय आदि का पूर्ण बोध हो जाता है । इसी प्रकार "केशवदास" तथा "बिहारी" की रचनाओं की विषयवस्तु को लघु चित्रों में अत्यंत मार्मिकता से चित्रित किया है । "गीतगोविन्द", भागवत-पुराण, "तूतीनामा", चित्रित जैन पोथी ग्रंथ आदि इसी श्रेणी की

कृतियाँ हैं जिनमें काव्य की विषयवस्तु को चित्रित किया गया है। आधुनिक भारतीय चित्रकारों रवीन्द्रनाथ ठाकुर, अमृता शेरगिल, यामिनी राय आदि ने भी भारतीय काव्य में वर्णित प्रसंगों को चित्रित किया।

पाश्चात्य कला परंपरा में भी संगीत, काव्य तथा चित्रकला का अन्तः संबंध दृष्टिगत होता है। "वीनस" के चित्रित रूप-वैभव पर अनेक काव्यकृतियाँ लिखीं गयीं। महान् चित्रकार रॉफेल ने काव्य से विषयों का चयन कर अनेक चित्र बनाये। चित्रकार कुर्बे की चित्रकृतियों से प्रेरित होकर चार्ल्स बॉदलेयर ने अपनी कविताओं में यथार्थवाद को अभिव्यक्त किया। बॉदलेयर ने अपने काव्य से संबंधित चित्र भी बनाये। उदाहरणार्थ, "चार्ल्स बॉदलेयर : सेल्फ पोर्ट्रेट", "पोर्ट्रेट ऑफ ए वूमैन" आदि। डी॰ जी॰ रोजेटी ने भी दान्ते की कविताओं के भावानुरूप चित्र बनाये। रोजेटी ने कीट्स की कविताओं पर भी चित्र बनाये। हलमन हन्ट तथा मिलेस भी ऐसे ही चित्रकार थे जिन्होंने शेक्सपियर के काव्य की छवियों को चित्रित किया। विलियम ब्लैक कवि तथा चित्रकार दोनों थे जिन्होंने अपने चित्रण में प्रतीकात्मकता को महत्त्व दिया। इसी प्रकार कान्डिन्स्की ने रंगों के मनोवैज्ञानिक प्रभाव से अपने चित्रों में संगीतात्मक प्रभाव उत्पन्न किया।

संगीत के आधार पर मूर्तियों में भी नृत्य की विविध मुद्राओं का अंकन मिलता है। इसका श्रेष्ठ उदाहरण नटराज की प्रतिमा है जिसमें कलाकारों ने नृत्य के तत्त्व को व्यापक तथा गंभीर दार्शनिकता के साथ व्यक्त किया है। मूर्तिकला पर नृत्यकला के प्रभाव का यह सर्वाधिक प्रबल प्रमाण है। चिदम्बरम् के नटराज मंदिर में भरत-नाट्यम् शैली पर आधारित नृत्यकलाओं की 108 मुद्राएँ अंकित हैं।

स्थापत्य कला, मूर्तिकला, चित्रकला तथा संगीत कला तीनों से अन्तः संबंधित है। संपूर्ण विश्व में पूजागृहों की बाह्य भित्तियाँ तथा आंतरिक भित्तियाँ, स्तंभ आदि मूर्तियों से अलंकृत हैं जो भवन का ही एक अंग हैं। पार्थेनन का मंदिर, मिस्र के पिरामिड, ऐलोरा की गुफाएँ, खजुराहो का शिव-मंदिर इसके उत्कृष्ट प्रमाण हैं। स्थापत्य कला में चित्रकला का प्रभाव भी मिलता है। छतों तथा भित्तियों पर अलंकरण किया जाता है। भित्तिचित्र बनाये जाते हैं तथा रंगीन काँच की खिड़कियों में भी चित्र संयोजित किये जाते हैं। संगीत भी स्थापत्य कला का ही एक महत्त्वपूर्ण अंग है। मनुस्मृति में सृष्टि की उत्पत्ति अण्डे की आकृति के समान तेज पुंज से बताई जो ब्रह्माण्ड कहलाया। "एकोऽहम् बहुस्याम" की ध्वनि निरंतर गूँजने से इसका आधा भाग ऊपर उठ गया। इसी विचार को लेकर भारतीय मंदिरों में गुम्बद या शिखर का निर्माण हुआ जिसमें घंटा तथा शंख की ध्वनियाँ निरन्तर गूँजती हैं, इसीलिये इसमें कोई गवाक्ष नहीं बनाया जाता।

उक्त सभी कलाओं में बाह्य संबंध के अतिरिक्त आंतरिक संबंध भी होता है। लयात्मक प्रवाह, ओज, माधुर्य, पोत या टैक्सचर सभी कलाओं में मिलता है। कविता, संगीत, नृत्य तथा चित्र में लय का स्पष्ट आभास होता है। स्थापत्य में भी हमारी दृष्टि क्रमशः आगे बढ़ती हुई विभिन्न ऊँचे-नीचे स्थानों पर गिरती-उठती है जो लय की ही अनुभूति है। इसी प्रकार पोत या

टैक्सचर चित्रकला, मूर्तिकला तथा स्थापत्य कला में स्पष्टतः दृष्टिगत होता है। संगीत में भी विभिन्न वाद्य-यंत्रों की ध्वनियों तथा स्त्री-पुरुष के कण्ठ-स्वरों में भिन्नता पोत का ही आभास देते हैं।

इस प्रकार इस संक्षिप्त विवेचन के आधार पर हम देखते हैं कि समस्त कलाओं की उत्पत्ति अभिव्यंजना के उद्देश्य से हुई है तथा एक कला का उद्भव पहले तथा दूसरी कला का उद्भव बाद में-यह निश्चित नहीं किया जा सकता। मानव जीवन ऐसा स्रोत है जहाँ सभी कलाएँ घुले-मिले रूप में प्रारंभ हुई हैं जिनका पारस्परिक अन्तः संबंध है जिसे विभाजित नहीं किया जा सकता।

भारतीय सौंदर्यशास्त्र की धारा कामसूत्र, चित्रसूत्र, चित्रलक्षण, रस-सिद्धान्त, ध्वनि सिद्धान्त, अलंकार सिद्धान्त, वक्रोक्ति सिद्धान्त, औचित्य सिद्धान्त तक कहती हुई आधुनिक काव्यशास्त्र तक जाती है। इन सब में रस-सिद्धान्त ही भारतीय सौंदर्यशास्त्र का मूल तत्त्व तथा अध्ययन विषय रहा है। आधुनिक भारतीय विचारकों ने केवल इसकी मूल्यवान विरासत को ही आवश्यकतानुसार विकसित करने का प्रयास किया। श्री के० एस० रामास्वामी ने इस धारणा का खण्डन किया कि सौंदर्यशास्त्र एक पाश्चात्य शास्त्र है। भारतवर्ष में भी इसकी एक विशिष्ट परंपरा है जिसकी मूल अवधारणा रस अर्थात् सौंदर्य, रसानुभूति अर्थात् सौंदर्यानुभूति अथवा आनंदानुभूति, अभिव्यक्ति, साधारणीकरण अर्थात् समानुभूति, भय तथा करुणा के संवेग अर्थात् विरेचन सिद्धान्त, करुण रस तथा त्रासदी आदि में मिलती है। इसका विस्तृत विवेचन पुस्तक के द्वितीय खण्ड में होगा।

इस प्रकार सौंदर्यशास्त्र की परंपरा में सौंदर्यानुभूति कलाकृति, रचना-प्रक्रिया, कलानुभूति आदि का अध्ययन किया जाता है। प्रकृति के विभिन्न पक्षों तथा मानव का भी सौंदर्यात्मक दृष्टिकोण से इसमें समावेश है। सौंदर्यशास्त्र इतिहास पुरातत्त्व, समाजशास्त्र तथा मनोविज्ञान से भी एक सीमा तक प्रभावित है। इसमें कलाओं का वर्गीकरण कलाओं का अन्तः संबंध, रूप तथा शैली, कला इतिहास के विकास के प्रमुख सिद्धान्त तथा सांस्कृतिक प्रभाव, मानव व्यवहार और अनुभूति का कलाओं से संबंध, कलाओं के मनोवैज्ञानिक और सामाजिक पक्ष तथा मूल्यों से संबंधित समस्याओं का अध्ययन किया जाता है। इस प्रकार सौंदर्यशास्त्र का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है तथा कला विषय के विद्यार्थियों को उक्त विषय का अध्ययन अवश्य करना चाहिये क्योंकि सौंदर्यशास्त्र का कला से गहन संबंध है।

□□□

प्रथम खण्ड

पाश्चात्य सौंदर्यशास्त्र

अध्याय 1

प्रारंभिक युग : ग्रीक सौन्दर्यशास्त्र

ग्रीक में सौंदर्यशास्त्र की समस्याएँ प्लेटो से पूर्व भी अन्य दार्शनिकों द्वारा उठायी गयी थीं किंतु उन्हें सैद्धान्तिक स्वरूप नहीं मिल पाया था। यहाँ दार्शनिक जिज्ञासा का प्रादुर्भाव लगभग छठी शताब्दी ई॰पू॰ हुआ तथा प्रथम दार्शनिक थेलीज थे। इन्होंने दर्शनशास्त्र को स्वतंत्र चिन्तन और समीक्षा से प्रारंभ किया था। थेलीज से प्रारंभ होकर दार्शनिक भाव ग्रीक में उत्तरोत्तर विकसित होता गया जिसकी चरमोन्नति सुकरात, प्लेटो तथा अरस्तू में हुई। इस दार्शनिक विकास का अपना एक स्वरूप है। यह यूनान की सभ्यता व संस्कृति का द्योतक और निर्धारक है, यूनान की जीवन-शैली का प्रतीक है। सभी कलाओं पर भी इस दार्शनिक विचारधारा का प्रभाव है। चिंतन इसका प्रधान बल है तथा सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् इसके प्रेरक आदर्श हैं। सुकरात, प्लेटो तथा अरस्तू यूनानी-दर्शन के शिखर रहे हैं। परवर्ती दार्शनिकों ने इन्हीं की विचारधाराओं को किंचित् परिवर्तित रूप में प्रस्तुत किया है।

प्लेटो से पूर्व जो दार्शनिक हुए, उन्हें सोफिस्ट कहा जाता था। ऐथेन्स में एक लंबे अन्तराल के पश्चात् प्रजातन्त्र आया तथा वहाँ एक ऐसे वर्ग की खोज होने लगी जो नागरिकों को उनके अभीष्ट लक्ष्य तक पहुँचाने में सहायक हो तथा ऐसी शिक्षा प्रदान करे जो जन-साधारण हेतु उपयोगी हो। इस आवश्यकता की पूर्ति करने वाला वर्ग दर्शन-शास्त्र के इतिहास में सोफिस्ट नाम से विख्यात हुआ। सुकरात भी सोफिस्ट थे जिनका दार्शनिक तथ्य प्लेटो के लिए आधार बना। इन दार्शनिकों ने व्यक्तिगत जीवन की पवित्रता पर बल दिया और सद्गुणों को जीवन की अमूल्य निधि माना। सोफिस्ट द्वारा की गयी इस वैचारिक क्रान्ति के फलस्वरूप ही सुकरात की नैतिक शिक्षा प्रस्तुत हुई तथा प्लेटो व अरस्तू के प्रौढ़ दर्शन का प्रादुर्भाव हुआ। धीरे-धीरे सोफिस्ट सत्य, ज्ञान व नैतिकता को बुद्धि की अपेक्षा व्यक्तिगत प्रवृत्तियों, भावनाओं तथा संवेदनाओं पर आधारित मानने लगे। इसके अतिरिक्त वे जिन महान् आदर्शों को लेकर जनता के सम्मुख आये, उन्हें तिलांजलि देकर धनोपार्जन को ही एकमात्र आदर्श मानने लगे। इसके परिणामस्वरूप यूनान में कला के दो समूह बन गये- प्रथम, जो कलाओं का अभ्यास केवल अपने आनंद हेतु करते थे और स्वान्तः सुखाय को ही कला की सार्थकता मानते थे। द्वितीय, वे जो कला के माध्यम से जीविकोपार्जन करते थे। प्रथम प्रकार के कलाकारों को समाज में उच्च स्थान प्राप्त था, द्वितीय प्रकार के कलाकारों को निम्न दृष्टि से देखा जाता था। कला उसी को कहा जाता था जिससे आनंद की प्राप्ति हो तथा जब वह धनोपार्जन का साधन बन जाती थी तो शिल्प कही जाने लगती थी। इस प्रकार कला व शिल्प में अन्तर था।

प्लेटो से पूर्व भी सौंदर्यशास्त्र की प्रमुख अवधारणाएँ मिलती हैं । "डिमोक्रिट्स" में अनुकरण का सिद्धान्त विद्यमान था तो विरेचन का सिद्धान्त "पाइथागोरियन" संप्रदाय में स्पष्टतः स्थित था । सत्य और शिव का सौंदर्य से गहन संबंध सर्वप्रथम "सुकरात" ने दिखाया, तथापि प्लेटो ने ही इन विश्रृंखलित विचारों को एक क्रमबद्ध श्रृंखला में बाँधकर सैद्धान्तिक रूप देने का प्रयास किया ।

प्लेटो (Plato) (427–347 ई॰पू॰)

प्लेटो का जन्म एथीनियन वंश में हुआ था । एक प्रारंभिक सुदृढ़ शिक्षा–दीक्षा प्राप्त करने के पश्चात् बौद्धिक उत्सुकता के युवाकाल में प्लेटो को सुकरात जैसे बुद्धिवादी गुरु मिले । प्लेटो में दर्शन की अवतारणा सुकरात जैसे महामानव के आदर्श जीवन के कारण हुई और उनकी आदर्श मृत्यु ने उसे अधिक सुदृढ़ बना दिया ।

प्लेटो के सौंदर्य एवं कला संबंधी विचार उनकी तत्त्व–मीमांसा से सम्बन्धित हैं । तत्त्व–मीमांसा वह दार्शनिक चिंतन है जिसमें परम सत्ता की खोज की जाती है । तत्त्व–मीमांसा के अनुसार अंतिम तत्त्व नित्य, स्थायी एवं अपरिवर्तनशील है जो सभी वस्तुओं तथा घटनाओं का आधारभूत सार है । प्लेटो एक दार्शनिक, सत्य के उपासक तथा तर्क–पसंद व्यक्ति थे । वे केवल बौद्धिक आनंद को ही स्वीकार करते थे ऐन्द्रिय आनंद को नहीं । प्लेटो के अनुसार, सत्य वह है जिससे समाज और व्यक्ति के नैतिक व आध्यात्मिक जीवन को बल मिले । सत्य वह है जो कूटस्थ नित्य, शाश्वत, स्वनिर्भर तथा निरपेक्ष हो । आभास वह है जो देश काल में रहकर सीमित, परिवर्तनशील, सापेक्ष तथा आकस्मिक हो । इस रूप में साधारणतः वास्तविक वस्तुएँ आभास कही जायेंगी क्योंकि वे सापेक्ष एवं परिवर्तनशील हैं । इन्हें हम परम–सत्ता नहीं कह सकते क्योंकि ये नष्टवान हैं जबकि सत्य अमर होता है । इस तथ्य को समझाने हेतु प्लेटो के दर्शन में दो पारिभाषिक शब्द मिलते हैं जिन पर उनका संपूर्ण दर्शन आधारित है :

प्रत्यय एवं विशेष

यूनानी विचारधारा वास्तवतावादी थी, जिसके अनुसार ज्ञान–प्रक्रिया अपने विषय को मात्र उद्घाटित करती है । हमारी संवेदनाएँ हृदय में संवेदित प्रदत्तों को किसी भी माध्यम द्वारा उजागर करती हैं । ये संवेदित प्रदत्त क्षणभंगुर होते हैं । इन्हें मानव मस्तिष्क की मानसिक प्रक्रिया नहीं कहा जा सकता । इसी प्रकार विशेषों की भी एक बाह्य सत्ता होती है और इस बाह्य सत्ता को ही प्रत्यय कहा जाता है जिसे विशेष प्रकाशित करते हैं । इस प्रकार विशेष परिणाम हैं जबकि प्रत्यय स्वनिर्भर, नित्य, बहिर्निष्ठ एवं स्वतंत्र सत्ता हैं । विशेष को मानसिक या आन्तरिक कहते हैं तो प्रत्यय बाह्य या विषयनिष्ठ सत्ता हैं । प्रत्यय विचार है जिसे मानव की बोधवृत्ति प्राप्त करती है । विचार होते हुए भी प्रत्यय स्वतंत्र, नित्य और शाश्वत सत्य हैं । साधारण भाषा में हम प्रत्यय व विशेष की अवधारणा को इस प्रकार समझ सकते हैं कि विशेष वे वस्तुएँ हैं जो इन्द्रियों द्वारा ज्ञात होती हैं । इन विशेषों का वैज्ञानिक ज्ञान संभव नहीं है, क्योंकि ये परिवर्तनशील हैं, इनकी स्वतंत्र सत्ता नहीं है और इसीलिए ये सत्य नहीं हैं । इनका ज्ञान इन्द्रियों से होता है जो प्रामाणिक नहीं है । ये विशेष

प्रत्यय के प्रतिबिम्ब हैं जिन्हें संप्रत्यय भी कहा जाता है। प्रत्यय एक वर्ग का प्रतिनिधि है जो अदृश्य, अरूप और परम सत्य है। यह अपरिवर्तनशील और इन्द्रियबोध की सीमा से परे है जिसका ज्ञान केवल प्रज्ञा ही कर सकती है। प्रत्यय का वैज्ञानिक ज्ञान संभव है। प्रत्यय मूर्त शरीर है और विशेष उसकी प्रतिच्छाया। प्रत्यय स्थाई है और विशेष नष्टवान। इसी प्रकार प्रत्यय विशेष में प्रतिबिम्बित होता है। हम अनेक गायें और घोड़े देखते हैं जो रंगों व आकारों में भिन्न होते हैं पर फिर भी हम उन्हें गाय या घोड़ा ही कहते हैं। "घोड़े" विशेष हैं, घोड़ा प्रत्यय है। घोड़े नश्वर हैं घोड़ा अनश्वर। घोड़े का चित्र या मूर्ति देखकर भी हम उसे घोड़ा ही कहते हैं चाहे वह किसी भी समय में बनाया गया हो। प्रागैतिहासिक-कालीन कला में बने मनुष्य व जानवर भिन्न रूप में बने हैं, प्रतीकात्मक हैं तथापि हम उन्हें मनुष्य के रूप में ही पहचानते हैं और जानवरों को भी उसी रूप में पहचानते हैं चाहे वे जानवर हमने वास्तव में पहले कभी नहीं देखे हों। इसका कारण हमारा प्रत्ययात्मक ज्ञान है। ये सभी दृश्यमान वस्तुएँ कालातिक्रमण से नष्ट हो गयीं तथापि हमारा प्रत्ययात्मक ज्ञान स्थायी है जिसके कारण हम पहचान करते हैं। इस प्रकार ज्ञान के दो मार्ग हैं- इन्द्रियाँ और प्रज्ञा। इन्द्रियाँ वस्तुजगत का ज्ञान कराती हैं और प्रज्ञा प्रत्ययों का ज्ञान कराती है। इन्द्रियात्मक ज्ञान भ्रामक होता है। शुद्ध ज्ञान वही है जिसे असत्यापित न किया जा सके तथा इसके लिए आवश्यक है कि वह सत् से सीधा संबंधित हो। ऐसा शुद्ध बौद्धिक ज्ञान गणित विद्या की आकारवादी संरचनाओं में उपलब्ध है। इस ओर पाइथागोरस ने सर्वप्रथम ध्यान आकर्षित किया था। प्लेटो ने पाइथागोरस के इस मत को सुकरात की प्रत्यय-मीमांसा से संलग्न करके तात्विक प्रत्ययों के ज्ञान को ही शुद्ध ज्ञान बताया।

प्रत्यय सिद्धान्त के आधार पर ही यह कहा जा सकता है कि सुंदर वस्तुएँ सौंदर्य नहीं हैं अर्थात् वस्तुओं की अपनी स्वतंत्र सुंदरता नहीं होती। वे सौंदर्य को जो एक प्रत्यय है; प्रतिबिम्बित करती हैं। वस्तुएँ दर्पण हैं जिनमें सौंदर्य का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है।

सौंदर्य की परिभाषा

प्लेटो के अनुसार सुन्दर, शिव और सत्य एक है। सुन्दर "परम" है और पूर्ण है तथा सुन्दर होने के लिए नैतिक होना आवश्यक है। सुंदर होने के लिए वस्तुओं को सौंदर्य की आवश्यकता होती है। सौंदर्य का ज्ञान ही प्रामाणिक ज्ञान है क्योंकि यह सत्य के अधिक निकट है। इसकी एक परम सत्ता है जो प्रत्येक सुंदर वस्तु में प्रतिबिम्बित होती है। यह अपरिवर्तनशील है। सुंदर वस्तु शाश्वत नहीं है। आवश्यक नहीं कि कोई सुंदर वस्तु सदैव सुंदर लगे। वह परिवर्तनशील है। इन सुंदर वस्तुओं का ज्ञान प्रामाणिक ज्ञान नहीं है। हम सुंदर वस्तुओं में रुचि न दिखाकर सौंदर्य में रुचि दिखाते हैं। हम किसी एक सुंदर वस्तु को सौंदर्य नहीं कह सकते, क्योंकि सुंदर वस्तुएँ अनेक हैं और उन सबकी सुंदरता का कारण सौंदर्य है न कि वह एक सुंदर वस्तु। सुंदर वस्तुएँ अनेक हो सकती हैं किन्तु सौंदर्य एक होता है। सुंदर वस्तुएँ विशेष हैं और सौंदर्य प्रत्यय है अर्थात् अनेकता में एकता। घोड़ा, गाय, वीणा, मृणपात्र, मानव, प्रकृति आदि भी सुंदर हैं, किन्तु उनकी सुंदरता भिन्न-भिन्न नहीं है। उनमें एक ही सौंदर्य व्याप्त है, तथापि सभी वस्तुओं में सौंदर्य समान रूप से व्याप्त नहीं होता। बन्दर में आदमी की अपेक्षा कम सौंदर्य है, देवता में आदमी से अधिक सौंदर्य है। सौंदर्य का प्रस्फुटन सोपानवत् होता है जिसमें जितना अधिक सौंदर्य प्रत्यय का प्रतिबिम्बन होगा

वह सत्य के उतना ही निकट होगा। इस प्रकार सौंदर्य की तात्त्विक व्याख्या में तीन प्रमुख विशेषताएँ हैं :

(अ) सौंदर्य ही वस्तुओं की सुन्दरता का कारण है।

(ब) समस्त सुंदर वस्तुएँ एक ही सौंदर्य को अलग-अलग प्रतिबिम्बित करती है।

(स) सौंदर्य किसी वस्तु में सम्पूर्ण रूप से व्यक्त नहीं हो पाता।

सौंदर्य और उपयोगिता

प्लेटो ने सौंदर्य को सामाजिक और नैतिक दृष्टि से जोड़कर मानव की काम भावना से कुछ ऊँचा उठाने का प्रयास किया है। वस्तुएँ परम रूप से सुंदर न होकर एक विशेष प्रसंग में ही सुंदर होती हैं। अंधा व्यक्ति आँखें सुंदर होने के बाद भी देख नहीं सकता। उसकी आँखों का कोई उपयोग नहीं है इसलिए उन्हें सुंदर नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार किसी के पैर होने के बाद भी वह किसी कारण से चल नहीं सकता तो उन पैरों को हम सुंदर नहीं कह सकते क्योंकि वे उपयोगी नहीं हैं। यदि वस्तु अनुपयोगी है और उसमें प्रभावित करने की क्षमता नहीं है तो वह कुरूप है।

प्लेटो के अनुसार केवल उपयोगिता ही सौंदर्य का मापदण्ड नहीं है, उनका प्रभाव भी शुभ और लाभप्रद हो तभी वे सुन्दर हो सकती हैं। जो "शुभ उद्देश्यों" की सिद्धि में सहायक हों तथा आत्मोन्नति देने वाली हों वे ही सुन्दर कही जा सकती हैं। जिस वस्तु का उपयोग अशुभ उद्देश्यों के लिए किया जाये वह सौंदर्य से दूर है। इस प्रकार सौंदर्य एवं उपयोगिता का आपस में तादात्म्य है तथा उपयोगी उसी वस्तु को कहेंगे जो शुभ विचारों की जननी हो। इस प्रकार प्लेटो सौंदर्य से शिवत्व का उद्गम मानते हैं।

प्लेटो के सौंदर्य संबंधी इन विचारों का प्रभाव यूनान की कला पर भी दृष्टिगत होता है। उस समय के प्रायः सभी चित्रों एवं मूर्तियों में सभी आकृतियाँ पूर्ण सौंदर्य से युक्त हैं। उनमें कहीं भी कुरूपता, अपंगता, अनुपातहीनता या बुरे विचार दिखाई नहीं देते। कलाकारों का विचार था कि जब ईश्वर ने सुन्दर सृष्टि की रचना की है तो हम उसमें कुरूपता क्यों खोजें? इसी कारण तत्कालीन कला में अलौकिकता, श्रेष्ठ मानवीय भाव तथा पूर्ण शारीरिक सौंदर्य दर्शन का ही परिणाम है जो फिडियास से लेकर स्कोपास के युग तक की कला में दृष्टिगत होता है। यह शैली यूनानी प्रतिभा की पूर्णतम अभिव्यक्ति थी जिसमें उदात्तता, सादगी और एकता के गुण विद्यमान थे। इसमें प्रबल संवेगों को अभिव्यक्ति न देकर आत्मा की सार्थक प्रशान्ति को अभिव्यक्ति दी गयी है।

प्लेटो ने दृष्टि तथा श्रवण को ही आनंद का मार्ग माना है। उनके अनुसार इच्छा और आनंद सौंदर्य का मापदण्ड नहीं हो सकते। कामेन्द्रिय, स्वादेन्द्रिय और स्पर्शेन्द्रिय के आनंद को सुन्दर नहीं कह सकते। सुन्दर वस्तु शिवत्व की जननी है इसलिए दृष्टि और श्रवण से प्राप्त आनंद ही सुन्दर हो सकता है क्योंकि लाभप्रद होने की विशेषता के कारण वे दूसरी इन्द्रियों से भिन्न हैं। यह व्यक्तिगत इच्छाओं से मुक्त तथा लाभप्रद होता है। दृष्टि तथा श्रवण का आत्मा से गहन संबंध होता है तथा इनसे प्राप्त आनंद हम आत्मा द्वारा परख कर ही लेते हैं। अन्य इन्द्रियों से प्राप्त आनंद इच्छा व स्वार्थपूर्ति का है इसलिए वह सुंदर नहीं है।

सौंदर्य सोपानवत् है

प्लेटो के अनुसार सौंदर्य की यह विशिष्टता है कि वह बहुत स्पष्टता से वस्तुओं में प्रतिबिम्बित होता है जिससे वह साकार बन जाता है और इन्द्रियाँ उसे ग्रहण करने में सफल रहती हैं । इन्द्रियों में दृष्टि सर्वाधिक तीक्ष्ण है जिसकी परिधि में सौंदर्य सर्वाधिक उद्घाटित होता है । सौंदर्य में ही वस्तुओं में प्रकट होने की क्षमता है और इसी कारण वह सभी तत्त्वों में श्रेष्ठ माना गया है ।

तथापि व्यवहार जगत में अनेक वस्तुएँ सुंदर होती हैं तथा इनमें एक की तुलना में दूसरी, दूसरी की तुलना में तीसरी, तीसरी की तुलना में चौथी-इस प्रकार यह क्रम चलता है । ये सभी वस्तुएँ देश और काल की सीमा में बंधी हैं, नश्वर और क्षणिक हैं । ये कभी सुंदर लगती हैं तो कभी कुरूप लगने लगती हैं । उदाहरणार्थ, खिला हुआ खुशबूदार फूल पहले सुन्दर लगता है किंतु मुरझाने के पश्चात् कुरूप लगने लगता है । इस प्रकार सभी वस्तुएँ "परम" सौंदर्य की ओर ही मानवात्मा को ले जाती हैं । इसी "परम" सौंदर्य के प्रकाश में वे जगमगाती हैं । सुन्दर वस्तुएँ वे सीढ़ियाँ हैं जिनके सहारे मानव परम सौंदर्य तक पहुंच सकता है । मानव प्रेम के सहारे परम सौंदर्य तक जा सकता है, सुन्दर जीवों से सुन्दर जीवन की ओर, सुन्दर जीवन से सुंदर सत्य की ओर तथा सुन्दर सत्य के पश्चात् वह परम सौंदर्य का ज्ञान प्राप्त कर लेता है । अंत में उसे सुन्दर का सम्यक् ज्ञान प्राप्त हो जाता है । मानवात्मा का वास्तविक निवास स्थान यही सौंदर्य है ।

कला

प्लेटो ने कहा है कि "जिसमें निर्माण की प्रक्रिया हो वही कला है ।" प्लेटो ने कला का अलग से विस्तृत विवेचन ही नहीं किया वरन् कला व काव्य को एक साथ जोड़ा है । उनके अनुसार काव्य या कला के निम्न प्रमुख गुण हैं :

(अ) मानव जीवन का अनुकरण

(ब) दिव्यता की झलक

(स) सत्य का उदात्त रूप

(द) सौंदर्य का अंकन

(य) आनंदानुभूति

प्लेटो के अनुसार कला केवल आनंददायिनी ही नहीं वरन् राष्ट्र एवं मानव जीवन हेतु उपयोगी भी होनी चाहिये । जिस कला में सद्गुणों को प्रश्रय न मिले, आत्मोत्कर्ष न हो तथा जिससे मिथ्या परितोष प्राप्त हो वह त्याज्य है । यदि कला में ही अशुभ तत्त्वों का आग्रह होगा तो प्रेक्षकों पर बुरा प्रभाव पड़ेगा और वह अनुपयोगी कला होगी । यहाँ प्लेटो का नैतिक आग्रह दृष्टिगत होता है । प्लेटो के अनुसार रूपात्मक सौंदर्य में ही सद्गुणों की अभिव्यक्ति होती है । चित्रकारी, बुनाई, कशीदाकारी, शिल्प कला आदि मस्तिष्क के गुणों का परिणाम हैं । इनमें निहित सामंजस्य, लय और सुन्दर शैली मस्तिष्क की शुभ और सुंदर विशेषताओं के कारण ही उत्पन्न होती है । इनके

अनुसार यदि कलाकार को कला-सृजन की स्वतंत्रता दी जाती है तो यह आवश्यक है कि वह अपनी कला में सिर्फ "शुभ" और "लाभप्रद" चरित्रों का ही चित्रण करे। कला वासनाओं को उद्दीप्त और पोषित करती है। कलाकार सत्य का अनुकर्त्ता मात्र है और उसकी रचनाएँ आत्मा के अशिव पक्ष का पोषण मात्र करती हैं जिनका प्रभाव उत्तेजनात्मक होता है और इसीलिए वह हानिकारक है। प्लेटो ने शिव के आधार पर ही कला की निंदा व प्रशंसा की है।

नैतिक आग्रह के कारण ही प्लेटो ने अपने ग्रंथ "रिपब्लिक" में आदर्श राज्य में कला की कल्पना की है। कला हमारी सांस्कृतिक और राष्ट्रीय चेतना के साथ ही सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति है, इसलिए उसे निश्चय ही दोषरहित व शिव स्वरूप होना चाहिये। अश्लील संवेगों को कुरेदने वाली कला हमारी आत्मा की शत्रु है और त्याज्य है। ऐसे कलाकारों को "फूलों का हार" पहनाकर आदर्श राज्य से सादर विदा कर देना चाहिये। यही कारण है कि यूनान की कला में हमें अश्लील, घृणास्पद, उत्तेजक और अशुभ विचारों का अंकन नहीं के बराबर मिलता है। यूनान की तत्कालीन कला में दिव्यता की झलक और सौंदर्य का उदात्त रूप दृष्टिगत होता है जिसके उदाहरण मल्ल, अफ्रोडिटी, वीनस, विजयश्री आदि कलाकृतियाँ हैं। नग्न आकृतियाँ भी ऐन्द्रिय-आकर्षण उत्पन्न नहीं करतीं। प्लेटो ने इसी कारण होमर के काव्य की निंदा की है क्योंकि उन्होंने अपने काव्यों में अशुभ भावों एवं चरित्रों की अनुकृति करके समाज को बुराई की ओर अग्रसर किया है।

प्लेटो की कला संबंधी समस्त विचारधारा उनके अनुकरण सिद्धान्त पर आधारित है जिसमें उन्होंने चित्रकला व काव्य कला को मात्र अनुकृति कहा है।

अनुकरण का सिद्धान्त

प्लेटो तत्त्व-मीमांसक थे और ईश्वर अथवा अध्यात्म को ही उन्होंने सृष्टि का निर्माणकर्त्ता माना है। इसके साथ ही वे उच्चकोटि के गणितज्ञ भी थे, जिस कारण उन्होंने "विचार" को "वस्तु" से अधिक महत्त्व दिया। विचार प्रत्यय है और वस्तु विशेष, इसीलिए प्लेटो ने कला को मात्र अनुकृति कहा है।

प्रत्येक जाति या वर्ग का अपना प्रत्यय होता है। उदाहरणार्थ, अनेक चारपाई, मेज, कुर्सी, फूल आदि होते हैं, किंतु उन्हें हम इसलिए पहचान लेते हैं कि वे उस आकार को प्रतिबिम्बित करते हैं। प्लेटो ने चारपाई का उदाहरण देते हुए कहा है कि इसकी आकृति का निर्माता तो ईश्वर है। बढ़ई के मस्तिष्क में चारपाई के निर्माण से पूर्व जो विचार आता है वह ईश्वर द्वारा प्रदत्त है, इसलिए ईश्वर द्वारा उसके मस्तिष्क में निर्मित यह आकृति ही परम सत्य है। बढ़ई उस प्रत्यय "चारपाई" के आधार पर ही चारपाई का निर्माण करता है, बल्कि वह स्वयं उस "प्रत्यय" की रचना नहीं कर सकता। आदिसृष्टा ईश्वर द्वारा निर्मित सृष्टि के आधार पर ही बढ़ई निर्माण करता है, इस कारण बढ़ई द्वारा निर्मित चारपाई निर्माण न होकर अनुकृति है जिसका अनुकार्य ईश्वर द्वारा निर्मित चारपाई है। मानव द्वारा निर्मित भौतिक सृष्टि ईश्वर की चेतना में विद्यमान विचार या प्रत्यय की अनुकृति होने के कारण मूल सत्य से दूर है और निम्न स्तर की रचना है, क्योंकि यह मूलभूत सिद्धान्त है कि अनुकृति अनुकार्य की अपेक्षा निम्न स्तर की रचना होती है।

चित्रकार अपनी चित्रकृति में जो चारपाई बनाता है उसका आधार बढ़ई द्वारा निर्मित चारपाई ही है जो स्वयं एक अनुकृति है। इस प्रकार चित्रकला व काव्यकला अनुकृति की भी अनुकृति होने के कारण मूल सत्य से तीन गुना दूर है और यह कभी भी सुंदर व उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि इसमें आसक्त होने पर सत्य से दूर होना पड़ेगा। प्लेटो के अनुसार वही व्यक्ति अनुकरण को अपने जीवन का प्रेरक सिद्धान्त बनायेगा जिसे कोई महानतर कार्य नहीं करना हो। अपने ग्रंथ "रिपब्लिक" के दशम भाग में उन्होंने अनुकर्त्ता पर प्रहार करते हुए लिखा है :

"तब अनुकर्त्ता .... सत्य से बहुत दूर है। उदाहरणार्थ, एक चित्रकार किसी सपेरे, बढ़ई या अन्य किसी का चित्रांकन करता है, यद्यपि वह उनकी कला के संबंध में कुछ भी नहीं जानता और यदि वह अच्छा चित्रकार है तो बच्चों या सीधे लोगों को धोखा देगा। जब वह उनको बढ़ई का चित्र दूर से दिखायेगा तो वे समझेंगे कि वे असली बढ़ई को देख रहे हैं।

यूनान में मूर्तिकला का विकास चित्रकला की अपेक्षा अधिक हुआ जिसके असंख्य उदाहरण भी मिलते हैं। प्लेटो का दर्शन इसमें सहायक सिद्ध हुआ होगा क्योंकि मूर्तिकार किसी भी मूर्ति के निर्माण से पूर्व उस वस्तु या व्यक्ति का चारों ओर से गहन निरीक्षण करता है। मूर्ति को चारों ओर से देखा जा सकता है इसी कारण विषय का गहन अध्ययन आवश्यक है, जबकि चित्रकला में द्विआयामी अंकन होता है जिसे त्रिआयामी भ्रम दिया जाता है। इसमें चित्रित वस्तु को चारों ओर से नहीं देखा जा सकता, इसी कारण मूर्तिकला चित्रकला की अपेक्षा सत्य के अधिक निकट है।

चित्रकार की भाँति कवि भी अनुकरण करता है। प्लेटो के अनुसार काव्य भी हमारे अश्लील संवेगों को उभारता है। वह कामेच्छा, क्रोध व अन्य भावनाओं-अभिलाषाओं को सींच कर पनपने का अवसर देता है। यदि हमें दुःखी व निकृष्टतर होने की अपेक्षा सुखी व श्रेष्ठतर होना है तो ऐसी प्रवृत्तियाँ हमारे अधीन होनी चाहिएँ, जबकि कवि व काव्य इन भावनाओं को हमारे ऊपर शासन करने का अवसर देता है। इससे पाशविक वृत्तियों का उद्‌बोध एवं दिव्य गुणों का शमन होता है। प्लेटो के अनुसार अनुकर्त्ता कवि प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा में अशिव प्रकृति की प्रतिष्ठा करता है, वह आत्मा के अज्ञान तत्त्व का पोषण करता है जो महान् व क्षुद्र, अशिव एवं शिव में भेद नहीं कर पाता। प्लेटो कला को केवल एक ही रूप में स्वीकारते हैं उपयोगिता जो शुभ कार्यों में सहायक हो। इसी कारण प्लेटो ने कवि होमर के काव्य की निंदा की है कि कवि होमर ने देवताओं की बुरी प्रवृत्तियों का चित्रण किया है। यहाँ देवी-देवताओं का चरित्र क्षुद्र व पतित है। उनमें हिंसा है, वे झूठ बोलते हैं, धोखा देते हैं, चोरी करते हैं, वे मानव के दुःख व विपत्ति पर हर्षित होते हैं तथा परस्पर द्वेष व हिंसा से भरे हुए हैं। इससे मानव को भी वैसा ही व्यवहार करने की प्रेरणा मिलेगी क्योंकि देवता मानव के आदर्श हैं। प्लेटो ने कहा है कि कवि होमर ने सत् व्यवहार करते मनुष्यों का चित्रण करने की अपेक्षा उन्हें सद्‌पुरुष बनाने के कारणों पर प्रकाश डाला होता तो वह आदर्श सत्य से तिगुने की अपेक्षा दुगुने दूर रहते तथा उपयोगी व श्रेष्ठ नागरिक होते।

प्लेटो ने उन कथाओं को जिनमें ईश्वर को मानव का अहित करते और संकट में डालते दर्शाया है त्याज्य माना है। नाट्य कला अर्थात् संवेगों की कला की अभिव्यक्ति को भी प्लेटो ने व्यर्थ माना है। इससे उदात्त भावों के अनुकरण की अपेक्षा निम्न कोटि के भावों का अनुकरण शीघ्र होता है। प्लेटो ने दो प्रकार के भाव बताये हैं-उदात्त व निम्न। इनके अनुसार मानवात्मा तत्त्वतः

अनुकरणपरक है जो सहज भाव से भावों के साथ साधारणीकरण करती है। जब हम पुस्तक पढ़ते हैं, चित्र या नाटक देखते हैं या कहानी सुनते हैं तो जिन पात्रों में हमारा मन रम जाता है उनमें ही हम अपना प्रतिबिम्ब देखते हैं। संपूर्ण अनुकरण क्रिया यथार्थता की ओर बढ़ती है। जिस अनुकार्य अर्थात् वस्तु या पात्र का हम अनुकरण करते हैं। धीरे-धीरे हम स्वयं ही अनुकार्य बन जाते है और "मैं" का भाव भूल जाते हैं। यह स्थिति सत्य के निकट है इसलिए ठीक है। किंतु प्रेक्षक उदात्त भावों को इतनी शीघ्रता से आत्मसात् नहीं करता, जितनी शीघ्रता से निम्न भावों को। इस कारण काव्य, नाट्य आदि कलाओं से भी अशिव व पाशविक वृत्तियों को ही बढ़ावा मिलता है।

कलाकार का ज्ञान अप्रामाणिक

प्लेटो के अनुसार कलाकार को स्वयं द्वारा निर्मित वस्तु का पूर्ण ज्ञान नहीं होता। उदाहरणार्थ, बढ़ई अश्व-सज्जा हेतु काठी व लगाम का निर्माण करता है। बढ़ई द्वारा निर्मित वस्तु का उपयोग हम नहीं कर सकते, उसका उपयोग घुड़सवार ही कर सकता है। कलाकार व शिल्पी को अपने विषय के संबंध में एक निश्चित धारणा अवश्य रहती है जिससे वह उपभोक्ता की मनपसंद वस्तु निर्मित करता है तथापि वह सतही समानता का निर्माण करता है। यहाँ कलाकार का ज्ञान उपभोक्ता की तुलना में तुच्छ व अप्रामाणिक है।

प्लेटो ने कलाकार के ज्ञान को अटकलबाजी कहा है। कलाकार जो कुछ निर्मित करता है वह पूर्वानुभव नहीं है। प्लेटो ने कवि होमर का उदाहरण देते हुए कहा है कि यह माना जाता है कि होमर ज्ञान-विज्ञान के पंडित थे, आचारमूलक नैतिक शिक्षाओं के आचार्य थे और जो कुछ वे लिखते थे, पूर्णज्ञान के साथ लिखते थे। किंतु होमर या अन्य कवियों ने औषधियों के चमत्कारों के संबंध में लिखा है, किंतु उन औषधियों का वैज्ञानिक ज्ञान उन्हें नहीं है। युद्ध-नीति, विधि-विधान आदि में भी उन्हें दक्ष कहा जाता है, किंतु क्या होमर ने स्वयं युद्ध किया है या सोलन की तरह किसी राज्य की रक्षा की है। लाइकर्गस के समान किसी नगर को श्रेष्ठ बनाया है। उन्होंने ऐसा कुछ नहीं किया इसलिए उनका ज्ञान सतही और अप्रामाणिक है। अपने ग्रंथ 'आयोन' में प्लेटो ने कलाकार की तुलना चुम्बक से की है कि उसकी कला में चुम्बकीय आकर्षण होता है। रिपब्लिक में प्लेटो ने कहा है कि कलाकार प्रकृति के समक्ष दर्पण रखने के अतिरिक्त कुछ नहीं करता। यदि कोई हाथ में दर्पण लेकर घूमे तो सूर्य, सितारे, पृथ्वी, जानवर, वनस्पति और स्वयं को भी उत्पन्न कर सकता है, किन्तु यह ईश्वर द्वारा निर्मित वास्तविक सृष्टि नहीं है वरन् मात्र भ्रम है और कलाकार इससे अधिक कुछ नहीं करता।

प्लेटो इस बात का भी समर्थन करते हैं कि कला आनंददायक है। इन्होंने तीन प्रकार का आनंद माना है :

(अ) ऐन्द्रिय आनंद

(ब) बौद्धिक आनंद

(स) आत्मिक आनंद

इनमें प्रथम प्रकार का आनंद निकृष्टतम है क्योंकि यह आनंद क्षणिक व मिथ्या है। दूसरा

आनंद बौद्धिक आनंद है जो प्रथम प्रकार के आनंद से श्रेष्ठ है । यह विज्ञान व गणित की गुत्थियों को सुलझाता है । सर्वोपरि आनंद की वह कोटि है जो विशुद्ध आत्मा से प्राप्त होता है तथा परम सत्य की उपलब्धि कराता है ।

कला के तीन प्रकार

अपने अनुकरण सिद्धान्त में प्लेटो ने निर्माण की तीन श्रेणियाँ मानी हैं और इस प्रकार तीन प्रकार की कलाएँ तथा तीन प्रकार के कलाकार निर्धारित किये :

प्रथम कलाकार ईश्वर है जिसने समस्त सृष्टि की रचना की है । वह आदर्श रूप या विचार का निर्माण करता है जिसे प्रत्यय कहते हैं । इसका निर्माता अन्य कोई नहीं हो सकता । यदि होता है तो वह मात्र भ्रम उत्पन्न करता है । ईश्वर द्वारा किये गये निर्माण को "वस्तु उपयोग की कला" कह सकते हैं । यह शुभ व शिव से जुड़ी है जो सुन्दर, आनंददायक व उपयोगी है ।

द्वितीय श्रेणी का कलाकार बढ़ई है । वह जो निर्माण करता है वह ईश्वर द्वारा किये गये निर्माण की अनुकृति है, इसलिए यह सत्य से दुगुनी दूर है । बढ़ई की कला को "रचना की कला" कह सकते हैं । वह वस्तु निर्मित तो करता है किंतु उन सभी का उपयोग करना नहीं जानता ।

तृतीय श्रेणी के कलाकार काव्यकार, नाट्यकार व चित्रकार हैं । ये न तो बढ़ई या शिल्पी की तरह वस्तु का निर्माण कर सकते हैं न ही उपयोग । वह अनुकृति की भी अनुकृति करता है जो सत्य से तिगुनी दूर है । इनकी कला को "वस्तु अनुकृति की कला" कह सकते हैं ।

प्लेटो ने अब तक चले आ रहे ललितकला एवं शिल्पकला के भेद को समाप्त कर दिया, तथापि इससे शिल्पी का स्थान ऊँचा हो गया और कलाकार का स्थान निम्नतम श्रेणी में आ गया । प्लेटो ने अपनी "फ्रेडरस" नामक पुस्तक में दस प्रकार के मनुष्य बताये जिनमें कलाकार को छठे स्थान पर रखा । प्लेटो के अनुसार विवेक को ताक में रखकर ही चित्रकला को प्रभावशाली बनाया जा सकता है । शिल्पी द्वारा निर्मित वस्तु को हम चारों दिशाओं से देख सकते हैं । अनुदृश्य बदल देने से उसके रूप में भी परिवर्तन हो सकता है, वह चौकोर या तिकोनी दिखाई दे सकती है, किन्तु चित्रकार द्वारा निर्मित वस्तु एक ओर से ही देखी जा सकती है । यूनानी कलाकारों ने अपने सृजन में सौंदर्य व पूर्णता दर्शाने का प्रयास किया था जिसके कारण मूर्तिकला का अपेक्षाकृत अधिक विकास हुआ ।

प्लेटो ने कलाओं में संगीतकला को उत्तम माना है । इनके आदर्श जगत की रूपरेखा में योग्य नागरिकों की आवश्यकता थी जिसके लिए तन व मन दोनों की शिक्षा आवश्यक है । तन की शिक्षा हेतु व्यायाम व खेल आवश्यक था । यूनान में इन दोनों को ही अत्यधिक महत्त्व दिया गया जिसके प्रमाण हमें चित्रों व मूर्तियों में मिलते हैं, उदाहरणार्थ, मल्ल, डिस्क फेंकते हुए, ओलम्पिक धावक आदि । प्लेटो मन की शिक्षा संगीत के माध्यम से ही संभव मानते थे । दृष्टि व ध्वनियों के सौंदर्य को ही प्लेटो ने आध्यात्मिक अवस्थाओं का सूचक माना है । ईश्वर ने गति का निरीक्षण करने हेतु ही दृष्टि दी है । यह गति प्रज्ञा की स्वर्गीय गति है जो संगीत से उत्पन्न होती है । संगीत से मधुर ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं जो हमारी आत्मा के परिवर्तनों को सूचित करती हैं । संगीत का उद्देश्य आत्मा की विरोधी गतियों में लय व सामंजस्य लाना है जिसमें राग-रागनियाँ सहायक होती हैं ।

संगीत से मानव जीवन में दिव्यता, साहस और प्रतिष्ठा का अनुभव होता है। संगीत कला को श्रेष्ठ मानते हुए भी प्लेटो ने नैतिकता व उपयोगिता को नहीं छोड़ा। इस बात पर अधिक बल दिया कि संगीत को शब्दों की ध्वनि का अनुगामी होना चाहिये न कि शब्द राग, ताल व स्वरसंगति का अनुगमन करें। प्लेटो ने यूनानी संगीत की राज्यहित व उदात्त स्वर-संगतियों को ही उपयोगी माना है। उदाहरणतः प्राचीन यूनान के डोरिस जिले में गाया जाने वाला सहज व उदात्त राग, जिससे मन शांत हो; ऐशिया माइनर के प्राचीन देश फ्रिजिया का युद्धात्मक राग जिससे जीवन साहसी बने।

प्लेटो ने कला में रूपात्मक सौंदर्य को महत्त्व दिया। रूपाकृतियों से प्लेटो का अर्थ ज्यामितीय रूपाकृतियों जैसे रेखा त्रिभुज, वृत्त, वर्ग आदि से है। वृत्त पूर्ण गति का प्रतीक है, वह प्रज्ञा की गति का प्रतिनिधित्व करता है। त्रिभुज सामंजस्य का प्रतीक है जो असंतुलन से मुक्त है। इसी कारण यूनान की चित्रकला व मूर्तिकला में आकार व संयोजन ज्यामितीयता लिये है। प्लेटो के अनुसार ये पूर्ण आकृतियाँ हैं। ये परम रूप से सुन्दर हैं जिन पर व्यक्तिगत इच्छाओं का आरोपण नहीं होता। इसी प्रकार रंग भी इसी श्रेणी में रखे जा सकते हैं। श्वेत रंग शांति प्रदान करता है, इससे कोई भी व्यक्ति उद्वेलित नहीं हो सकता। लाल रंग श्रृंगार भाव, कामेच्छा, क्रोध आदि को जगाता है। इसी प्रकार सभी रंगों की अपनी विशेषताएँ हैं जो सार्वभौमिक हैं तथा जिन्हें कोई भी व्यक्तिगत रुचि परिवर्तित नहीं कर सकती। प्लेटो ने इसी कारण ध्वनि व दृष्टि सौंदर्य को श्रेष्ठ माना है। संगीत, ज्यामितीय रूपाकार व रंग शुद्ध सौंदर्य के उदाहरण हैं।

प्लेटो ने ही सर्वप्रथम अपने पूर्ववर्ती दार्शनिकों के स्फुट विचारों को एकसूत्र में बांधकर सैद्धान्तिक रूप देने का प्रयास किया। इनके विचारों पर उनके गुरु सुकरात का स्पष्ट प्रभाव था। अपने जीवनकाल में ही उन्होंने अपने भव्य व्यक्तिगत, उत्कृष्ट दार्शनिकता, सत्यान्वेषण तथा उच्च-स्तरीय राजनैतिक सैद्धान्तिकता हेतु पर्याप्त ख्याति अर्जित कर ली थी। अरस्तू जैसे बहुमुखी प्रतिभा के धनी व्यक्ति भी उनकी ओर आकृष्ट हुए। अपने जीवन के मध्यकाल में (1387-88 ई० पू०) प्लेटो ने ऐथेन्स में एक अकादमी की स्थापना की जिसके द्वारा प्लेटो के विचार उनकी मृत्योपरांत भी प्रभावित करते रहे।

प्रोफेसर ह्वाइटहेंड ने लिखा है कि "संपूर्ण यूरोपीय दर्शन-शास्त्र प्लेटो के दर्शन पर लिखी हुई धारावाहिक टिप्पणी है।" इमरसन के अनुसार, "दर्शन ही प्लेटो और प्लेटो ही दर्शन है।" वस्तुतः सुकरात के पश्चात् यूनान के दार्शनिक चिंतन में प्लेटो ही छाये रहे हैं। प्लेटो का दर्शन उनके आध्यात्मिक विद्रोह की अभिव्यक्ति है। उनका विचार था कि अन्याय, अव्यवस्था, अबौद्धिकता, असंतुलन और परिवर्तनशीलता के स्थान पर न्याय-व्यवस्था, बौद्धिकता, संतुलन और अमरता हो। इनके अनुसार जीवन के मूलभूत तत्त्वों सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् को पाने हेतु ऐन्द्रिय ज्ञान से ऊपर उठना चाहिये और प्रज्ञात्मक ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। प्रज्ञा का ज्ञान ही आदर्श ज्ञान है जो आदर्श जगत अर्थात् प्रत्यय का ज्ञान कराती है। इसी आधार पर प्लेटो ने कलाकार पर आक्षेप लगाया है कि वे आदर्श जगत या प्रत्यय की अनुकृति न करके विशेष की अनुकृति करते हैं जो प्रत्यय की छाया मात्र हैं। इस प्रकार प्लेटो ने सौंदर्य-शास्त्र को तत्त्व-मीमांसा से संबंधित कर दिया है। ये एक अलौकिक व अज्ञात सौंदर्य से लौकिक सौंदर्य की तुलना करते हैं। इनके अनुसार सौंदर्य के दो प्रेमी दार्शनिक व कलाकार हैं। सच्चा सौंदर्य-प्रेमी दार्शनिक है जो ज्ञान का प्रेमी है और उसी

के सहारे सौंदर्य खोजता है, जबकि कलाकार स्वप्न देखता है, उसे सौंदर्य के बारे में ज्ञान नहीं विश्वास मात्र है । उसका सौंदर्य-प्रेम उसे दार्शनिक नहीं बना सकता । इस प्रकार प्लेटो ने प्रत्ययवाद की स्थापना की ।

प्लेटो सौंदर्य का नैतिकता व उपयोगिता से गहन संबंध मानते हैं, इसी कारण कला में भी शिव की स्थिति आवश्यक मानी है । इन्होंने उसी कला को प्रशंसित माना है जो उपयोगी तथा नागरिकों को नैतिक बल देने वाली हो, जबकि यदि कला में नैतिकता का अत्यधिक आग्रह होगा तो कला का विकास अवरुद्ध हो जायेगा । एक बहुत बड़ा वर्ग कला के माध्यम से अपने भावों की अभिव्यक्ति करता है । सौंदर्यशास्त्र की दृष्टि से यह आवश्यक भी नहीं है कि जो वस्तु सुन्दर हो वह अनिवार्यतः किसी नैतिक उद्देश्य की पूर्ति करे । नीतिमूलक कला नैतिक भाव उत्पन्न कर सकती है किंतु यह आवश्यक नहीं है कि वह सौंदर्य-बोधक-चेतना को प्रभावित करने में असमर्थ भी हो सकती है । अशुभ आनंद भी सौंदर्य उत्पन्न कर सकता है । उदाहरणार्थ, फटे कपड़े पहने हुए भिखारी में भी सौंदर्य है । किसी नाटक में पात्र को रोते देखकर हम उससे तादात्म्य स्थापित करते हैं और रोने लगते हैं जिससे हमारा मन शांत हो जाता है और हम आनंदानुभूति करते हैं, किंतु प्लेटो ने ऐन्द्रिय संवेगों की अभिव्यक्ति को कला में स्थान नहीं दिया ।

उपयोगिता के आधार पर भी कला को नकारा नहीं जा सकता । प्लेटो के अनुसार कला में वर्णित या चित्रित वस्तु वास्तविक वस्तु जैसा आनंद नहीं देती । प्लेटो ने ऐन्द्रिय सत्य व विचार में कोई अन्तर नहीं समझा, जबकि कलाकार मानसिक बिम्बों, प्रतीकों तथा अपनी सृजन-शक्ति के माध्यम से स्थूल वस्तुओं, आदर्श व सूक्ष्म भावों को भी मूर्तरूप प्रदान करता है । चित्रित वृक्ष या चारपाई भी मानसिक रूप से वास्तविक जैसा आनंद देती है । प्लेटो ने उपयोगिता का अर्थ सीमित कर दिया तथा काल को मानसिक स्तर से संबंधित नहीं माना, लेकिन फिर भी प्लेटो कल्पना व संवेगों का मनौवैज्ञानिक रूप एवं उनका सुप्रभाव समझते थे । वे यह भी मानते थे कि मनोभावों की स्वतंत्र अभिव्यक्ति से शांति और मुक्ति मिलती है, तथापि उनके विचारों पर नैतिक आग्रह अधिक था ।

प्लेटो ने कला को मात्र अनुकृति कहा है यह तीसरा महत्त्वपूर्ण तथ्य है । प्लेटो ने अनुकरण का अर्थ यथातथ्य चित्रण से लगाया । कलाकार कोई मौलिक सृजन भी कर सकता है, इस पर उन्होंने कोई विचार नहीं किया । कला में अनुकरण के विषय कल्पनात्मक बोध का निषेध करके कला सृजन से कलाकार के आत्मतत्त्व का बहिष्कार कर दिया तथ कलाकार को नक्काल घोषित करके उसे सृजन, निर्माण एवं पुनर्निर्माण के गौरव से भी वंचित कर दिया । मर्फी ने इस संबंध में कहा है कि "वास्तविक शैय्या एवं चित्रांकित शैय्या का अंतर समझने के लिए, आपको रंग और फलक पर सोने का प्रयास करना पड़ेगा । "किंतु प्लेटो इस बात को नहीं स्वीकारते थे कि इन्द्रियों के माध्यम से भी वास्तविकता तक पहुंचा जा सकता है । इस दृष्टि से समस्त ललितकलाएँ बाह्य उपकरणों की प्रतिलिपि मात्र हैं । यदि कला पूर्णतः अनुकरण पर आधारित होती तो कैमरे के आविष्कार से समाप्त हो गयी होती ।

वस्तुतः प्लेटो का सौंदर्य दर्शन तत्व-मीमांसा से प्रभावित है जिसमें नैतिकता का अत्यधिक आग्रह है । वस्तुतः हम देखते हैं कि नैतिक उद्देश्य और पवित्रता सौंदर्य की शुद्धता पर आघात कर

सकती हैं, किंतु कला और सौंदर्य की अशुद्धता एवं अनैतिकता उसके सौंदर्य को कम करने में असफल रहती है। प्लेटो का दार्शनिक विवेचन सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम्, जो जीवन के मूलभूत तत्व हैं; की अभिव्यक्ति है। कला के प्रति प्लेटो का दृष्टिकोण द्वैतवादी हो जाता है। इनका यह दर्शन "सुखवादी-नीतिमूलक" सिद्धान्त के नाम से प्रसिद्ध है जिसका पुनरुत्थान आधुनिक युग में रस्किन और टॉल्सटॉय के सौंदर्य-विषयक सिद्धान्तों में एक बार पुनः होता है।

अरस्तू (Aristotle) (384-322 ई०पू०)

अरस्तू का जन्म एशिया माइनर की कैल्किदिस नामक यूनानी बस्ती के स्टैजिरा नामक स्थान पर ईसा से 385 अथवा 384 वर्ष पूर्व हुआ था। अरस्तू के पिता के पूर्वजों का संबंध यूनान से था तथा माता एशिया माइनर से संबंधित थीं। फलतः उनके द्विमुखी दृष्टिकोण में इन दो रक्तों के सम्मिश्रण का प्रभाव स्पष्ट झलकता है। ये सत्य का अन्वेषण करने वाले दार्शनिक तथा भौतिक संसार का निरीक्षण करने वाले वैज्ञानिक थे। अरस्तू के साहित्य से अरस्तू के चिंतन का ही नहीं वरन् अरस्तू के समय तक के यूनानी चिंतन के सभी सूत्रों का भी पता चलता है। ये प्रथम पाश्चात्य विचारक थे जिन्होंने भौतिक जगत संबंधी अध्ययनों एवं मानवीय अध्ययनों की सीमाएँ निर्धारित करने का प्रयत्न किया था और विभिन्न विषयों के अंतर्गत ऐतिहासिक विधि का अनुसरण करते हुए; अपने विचार व्यक्त किये थे। प्लेटो के समय तक जितने विचार-सूत्र एकत्र हुए थे; अरस्तू ने उन सब की व्याख्या की। विभिन्न विचारों का वर्गों में विभाजन किया और वर्गीकृत मतों पर आलोचनात्मक दृष्टि डाली। जहाँ कहीं विचार श्रृंखला टूटी हुई दिखाई दी, उन्होंने वहां नयी कड़ियाँ जोड़ी। विचारों के मानदण्ड निश्चित किये और जो उन पर खरे न उतरे, उनका खंडन किया। धार्मिक भावनाओं को अरस्तू ने अनावश्यक महत्त्व नहीं दिया। उन्होंने ईश्वर के अस्तित्व का समर्थन किया, किंतु ईश्वर के विवेचन का क्षेत्र भी निश्चित कर दिया। भौतिक जगत को समझने हेतु आध्यात्मिक विचारों से काम न लेकर अरस्तू ने घटनाओं के निरीक्षण के आधार पर भौतिक नियमों की कल्पना की। यूनानी दर्शन के इतिहासों में थेलीज नामक विचारक को पाश्चात्य संसार के प्रथम वैज्ञानिक का सम्मान दिया गया है, किंतु वस्तुतः अरस्तू ही प्रथम विचारक थे जिन्होंने अध्ययन की वैज्ञानिक विधियों का विकास किया था। अरस्तू के चिंतन में यूनानी दर्शन का चरमोत्कर्ष प्राप्त होता है।

अरस्तू को अपनी जन्मगत परिस्थितियों से दो बातें ऐसी मिलीं जिनका प्रभाव उनके समूचे जीवन व चिंतन पर पड़ा। प्रथम तो उनका जन्म मेसेडोनिया नरेश के राजवैद्य के घर होने से बचपन से ही उन्हें एक ऐसे वातावरण के प्रभाव में बढ़ने का अवसर मिला जिसमें वस्तुओं को देखने-परखने तथा समझने की विशिष्ट विश्लेषणमूलक आगमनात्मक प्रणाली पर जोर था और जिसके अंतर्गत प्रयोगात्मक विधि को भी प्रोत्साहन मिलता था। अरस्तू की रचनाओं में विज्ञान तथा वैज्ञानिक पद्धति के प्रति आग्रह के मूल में इसी वातावरण का प्रभाव है। द्वितीय महत्त्वपूर्ण प्रभाव उसके राजनीतिक चिंतन पर मेसेडोनिया के महत्वाकांक्षी राजघराने का है, किंतु सर्वाधिक प्रभाव प्लेटो का था जिनकी अकादमी में अरस्तू ने अपनी बौद्धिक परिपक्वता प्राप्त की। जब अरस्तू ने 17-18 वर्ष की आयु में प्लेटो का सान्निध्य (ऐथेन्स) प्राप्त किया, तब प्लेटो एक ओर धार्मिक नैतिक मान्यताओं की ओर

तथा दूसरी ओर राजनीतिक उदारवादी दृष्टिकोण की ओर अधिक झुक रहे थे। फलतः उनके योग्य शिष्य अरस्तू में भी उसके विज्ञानवादी विचारों के स्थान पर उक्त झुकाव का प्रभाव है। वस्तुतः प्लेटो के अतिशय आदर्शवाद को एक यथार्थ विज्ञानवादी दृष्टिकोण से संतुलित करने का श्रेय अरस्तू को ही है। भाव-अभाव, ज्ञान-विश्वास, बुद्धि-अनुभव, अनिवार्य-आकस्मिकता, वास्तविकता-संभाव्यता, द्रव्य-आकार, नीति-अनीति, मनुष्य-दैव जैसे विकट द्वन्द्वों को, जो प्राचीन यूनान दर्शन में दक्ष मल्लों की तरह एक-दूसरे को पछाड़ते रहे, अरस्तू ने अपनी सूक्ष्म विभाजन व संयोजन की संश्लिष्ट प्रणाली द्वारा एकसूत्र में पिरोकर उनका परस्पर विरोध समाप्त कर एक ऐसे विश्व-दर्शन की सृष्टि की जो अपने विस्तार व गहराई में न केवल अभूतपूर्व था वरन् भविष्य में भी जिसकी टक्कर का दूसरा विश्व-दर्शन प्रायः 2000 वर्षों तक कांट और हेगेल के पहले, संभव नहीं हो सका।

बर्नार्ड बोसांके का कथन है कि अरस्तू ने यूनानी सौंदर्यशास्त्र को कोई नयी दिशा नहीं दी। पूर्ववर्ती आचार्यों ने सौंदर्य एवं कला के संदर्भ में जो स्थापनाएँ की थी, अरस्तू ने उन्हीं को स्वीकार किया। मात्र यह कह देने से ही किसी व्यक्ति के महत्त्व को कम नहीं किया जा सकता। यह भी महत्त्वपूर्ण कार्य है कि पूर्ववर्ती संदर्भों की उचित व्याख्या की जाय तथा उनके प्रति आलोचनात्मक दृष्टिकोण अपनाया जाये। निम्नलिखित बाह्य कारणों के आधार पर ही बोसांके ने अपना यह मत बनाया :

(1) सभी कलाएँ अनुकरण पर आधारित हैं, यही बात प्लेटो भी मानते हैं। यह कोई नयी बात नहीं है, किंतु प्लेटो के अनुकरण का अर्थ संकीर्ण है जबकि अरस्तू ने उसे विस्तार दिया।

(2) सौंदर्य की नीतिपरक व्याख्या अरस्तू ने भी की है और यही प्लेटो ने भी की है, अतः यह भी कोई नवीन सिद्धान्त नहीं है।

(3) कला के विभाजन में भी जितने विभाजन प्लेटो ने किये उतने ही अरस्तू ने किये पोएटिक्स नामक अपनी पुस्तक में अरस्तू कलाओं के अंतर्गत संगीत, महाकाव्य, त्रासदी, सुखांत, संगीत आदि को गिनते हैं। यही विभाजन प्लेटो का है।

(4) विरेचन के सिद्धान्त का भी मूलतः प्लेटो में उल्लेख किया है, किंतु दोनों की मान्यताओं में बहुत अंतर है।

(5) संगीत के जादुई आकर्षण की बात भी प्लेटो पहले ही कह चुके थे। सभी कलाओं द्वारा मनुष्य को अव्यक्त रूप से शिक्षा मिलती है। विशेषतः संगीत, शिल्प एवं चित्रकला शिक्षा के क्षेत्र में अपेक्षाकृत उपयोगी हैं। यही बात प्लेटो ने भी मानी है।

यह सब कहने के पश्चात् प्रश्न उठता है कि फिर प्लेटो के बाद अरस्तू को पढ़ने का क्या महत्त्व व उपयोगिता है? प्लेटो व अरस्तू के सिद्धान्तों में साम्य देखने की दृष्टि बाह्य है। यदि गहन दृष्टि से अरस्तू के विचारों का अध्ययन किया जाये तो अरस्तू की व्याख्या में हमें नवीन अर्थ मिलते हैं।

इन दोनों महान् यूनानी दार्शनिकों में सर्वप्रथम अंतर चिंतन-प्रणाली का है। प्लेटो प्रायः

अपने ग्रंथ संवाद या संभाषण शैली में लिखते हैं, उन्होंने इसे द्वन्द्व-पद्धति कहा है । प्लेटो ने एकमात्र इसी पद्धति को किसी भी विषय में समुचित व सुप्रमाणित ज्ञान का आधार माना है । प्लेटो प्रत्येक बात समझाने हेतु कथा व रुचिकर माध्यमों का प्रयोग करते हैं । वह पौराणिक उदाहरण देते हैं जिससे वार्तालाप अधिक रोचक बन सके । यह कलात्मक माध्यम कहलाता है । जबकि अरस्तू कोई भी बात वैज्ञानिक तथा आलोचनात्मक दृष्टिकोण से कहते हैं । वह कलात्मक माध्यम नहीं अपनाते । इसी कारण अरस्तू द्वारा कही गयी बात समझने में अधिक बुद्धि की आवश्यकता है । चिंतन में विशुद्ध प्रणालीगत नियमन एवं उसकी आकारिक प्रामाणिकता के बारे में एक व्यवस्थित विचारधारा का स्पष्टीकरण सर्वप्रथम अरस्तू की ही रचनाओं में मिलता है । वह न केवल युक्तिसंगत अनुमानों का विश्लेषण कर उनकी आकारिकता या तार्किकता स्पष्ट करते हैं वरन् यह भी दिखाते हैं कि किस तरह उन्हें एक निगमनात्मक प्रणाली के अधीन आधार-वाक्यों और निष्कर्ष-वाक्यों के क्रम में रखकर एक विशिष्ट प्रकार की प्रामाणिकता और सत्य की जो अनुभव निरपेक्ष है; उपलब्धि की जा सकती है । ज्ञानार्जन के प्रत्येक चरण में हमें एक बौद्धिक व्यवस्था के अधीन कार्य करना होता है और जब इस बौद्धिक व्यवस्था के सभी स्तर व अंग हमारे समक्ष स्पष्ट होते हैं तभी हमें विषयवस्तु का वैज्ञानिक ज्ञान होता है ।

कला की उत्पत्ति के संदर्भ में प्लेटो ने कहा कि प्रोमिथियस नामक देवता प्राणिमात्र हेतु जिसके पास जीवन-निर्वाह तथा रक्षा का कोई भी साधन नहीं था; ऐथिना से अग्नि चुराकर लाये तथा धातु कार्य की कला हैप्पाट्टस से चुरा कर लाये । इस प्रकार प्लेटो ने कला का उद्भव प्रोमिथियस नामक देवता से माना है जिसमें पौराणिक रूप के दर्शन होते हैं । जबकि अरस्तू ने कला के उद्भव स्रोत मनुष्य के दोनों हाथ बताये हैं, यह वैज्ञानिक दृष्टिकोण है । उन्होंने कला का स्रोत पौराणिक देवता में न ढूँढ़कर ईश्वर द्वारा निर्मित मानव में ढूँढ़ा । यहीं समझ में आ जाता है कि इन दोनों के दृष्टिकोण में काफी अंतर है । एक कलात्मक ढंग से कहता है तो दूसरा तर्कपूर्ण वैज्ञानिक पद्धति से । इसी प्रकार प्रकृति की व्याख्या करते हुए दोनों ने उसे शक्ति के रूप में देखा । प्लेटो ने प्रकृति को देवताओं से संबद्ध किया जबकि अरस्तू ने प्रकृति की व्याख्या निरंतर क्रियाशील के रूप में की । कला की व्याख्या भी इसी प्रकार की । प्लेटो ने कला की व्याख्या उलझते हुए घुमा-फिराकर की, जबकि अरस्तू ने "सृजनात्मकता ही कला है" एक ही सूत्र लिया ।

अनुकरण का सिद्धान्त

अरस्तू द्वारा विवेचित अनुकरण के सिद्धान्त में आलोचना की गयी कि यहाँ प्लेटो की ही बात को फिर से कहा गया है । किंतु अरस्तू ने अनुकरण का भिन्न अर्थ लिया है । प्लेटो कलाओं को सत्य के अनुकरण का अनुकरण कहकर मिथ्या सिद्ध कर चुके थे । अरस्तू ने काव्य सत्य को एक स्वतंत्र भूमि प्रदान की और उसे विज्ञान के तथ्य से भव्यतर सिद्ध किया । अरस्तू ने "काव्यशास्त्र" के अतिरिक्त भी अनुकरण संबंधी अवधारणा का उल्लेख अन्य प्रसंगों में किया है । जहाँ वे अनुकरण का अर्थ केवल बाह्य प्रकृति का अनुकरण न मानकर मानव की अन्तः-प्रकृति का अनुकरण मानते थे, वहीं वे अनुकरण में तथ्य का ही नहीं, संभावना का भी अनुकरण स्वीकारते थे । इतना ही नहीं, उन्होंने "काव्य-शास्त्र" के अतिरिक्त अन्य रचनाओं में तो यहाँ तक

कहा कि "प्रत्येक कला और शिक्षा-पद्धति का लक्ष्य उन अधूरे कार्यों की पूर्ति है जो प्रकृति से बचे रहते हैं अर्थात् कला प्रकृति के असफल कार्यों की पूर्ति करती है ।

अरस्तू के अनुसार काव्य या कला का उद्भव मानव-प्रकृति की मौलिक प्रवृत्तियों का परिणाम है । मानव में स्वभावतः अनुकरण की शक्ति होती है । अनुकरण की क्रिया से आनंदानुभूति होती है, जो सार्वभौमिक आनंद से कम नहीं है । अनुकृतिजन्य आनंद सहजात होता है । हम घृणित वस्तुओं को यथार्थ जगत में देखकर वितृष्णा का अनुभव करते हैं जबकि अनुकृति क्रिया से उन्हें चित्र-रूप में प्रस्तुत करने पर वे घृणित वस्तुएँ ही आनंदप्रद हो जाती हैं । इस आनंद का एक कारण पहचान भी है । चित्र देखकर हमें जो आनंद मिलता है, उसका कारण वस्तु व चित्र की समानता है । कोई भी चित्र देखकर हम कहते हैं कि यह चित्र आदमी, गाय, कुर्सी या पेड़ का है । यदि हमने इन चित्रित वस्तुओं को पहले से नहीं देखा होगा तो चित्र का पूर्ण आनंद नहीं उठा सकेंगे क्योंकि हमें सादृश्य विधान का बोध नहीं होगा । ऐसी स्थिति में हम केवल रंग, शिल्प आदि का ही आनंद पा सकेंगे । "यह कुर्सी ही है" से बुद्धि की ज्ञान-प्रक्रिया के आभास के साथ ही दो प्रवृत्तियों का जन्म भी होता है- ज्ञान पाने की प्रवृत्ति तथा अनुमान करने की प्रवृत्ति, इसीलिए कुरूप व घृणित वस्तुओं की अनुकृति भी आनंदप्रद होती है । यह विचार अरस्तू की नयी देन है । अनुकरण करने की प्रवृत्ति में लय एवं संगति की सहजात प्रवृत्ति होती है अर्थात् अनुकरण के साथ ही असंतुलन लाना, अव्यवस्था में व्यवस्था लाना भी मानव की मूल प्रवृत्ति है जिसके कारण ही वह कला-सृजन करता है ।

अरस्तू के अनुसार अनुकृति मात्र अनुकरण न होकर रचनात्मक दृष्टि की एक विशेष क्रिया है । अनुकरण का विषय प्रकृति या जीवन का बाह्य रूप ही नहीं है वरन् अंतरंग रूप भी है जिसमें अनुभूति, विचार, कल्पना आदि आते हैं । अनुकरण का मुख्य विषय क्रियाशील मानव है अर्थात् मानव कर्त्ता व भोक्ता दोनों है । अरस्तू के अनुकरण सिद्धान्त में अंतरंग पक्ष की प्रधानता है । वस्तु कैसी है यह कहना कठिन है, किंतु इन्द्रियों के माध्यम से हमारे मन पर उसका कैसा प्रभाव प्रतिबिम्बित हुआ यही बताया जा सकता है । अरस्तू के अनुसार वस्तु कैसी है इसकी अपेक्षा कला-सृजन हेतु यह अधिक महत्त्वपूर्ण है कि वह कैसी होनी चाहिये । इस प्रकार कला में वस्तु के तीन रूपों का अनुकरण किया जाता है :

(अ) प्रतीयमान रूप का – जैसा अनुकर्त्ता को प्रतीत होता है,

(ब) सम्भाव्य रूप का – जैसा वह हो सकता है;

(स) आदर्श रूप का – जैसा उसे होना चाहिये ।

इन तीनों रूपों के अनुकरण में अनुकर्त्ता की भावना व कल्पना का योगदान रहता है ।

अरस्तू का अनुकरण भावात्मक एवं कल्पनात्मक पुनःसृजन का पर्याय है । इस प्रकार कला जीवन की प्रतिलिपि मात्र नहीं है तथा यथार्थ की अनुकृति भी नहीं है अपितु उसमें अविश्वसनीय, असंभव एवं काल्पनिक वस्तुओं को भी अपने आँचल में सन्निविष्ट करने की क्षमता है और इस प्रकार कला में सुन्दर काल्पनिक जगत निहित होता है । इन्होंने कला में कल्पना को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया । कलाकार में अविश्वसनीय को भी विश्वसनीय बनाने की पटुता अपेक्षित है ।

कलाकार यथार्थ जगत के अस्त-व्यस्त अस्तित्व में से ऐसे चित्र का निर्माण करता है जो बुद्धि-ग्राह्य होता है, जिसमें कुतर्क की संभावना नहीं रहती तथा मानव-स्वभाव की स्थायी संभावनाएँ अभिव्यक्ति प्राप्त करती हैं, इसीलिए काव्य में सार्वभौमिक एवं आदर्श सत्य की अभिव्यक्ति मिलती है और इसी कारण अरस्तू ने कला को इतिहास से उच्चतर स्थान दिया। इतिहासकार सर्वत्र तथ्यों पर आश्रित रहता है जबकि कलाकार दृश्यमान वस्तुओं को विस्तृत एवं सामान्य दृष्टि से देखकर सार्वभौम को चित्रित करता है जो प्रत्येक व्यक्ति हेतु किसी न किसी रूप में आनंदप्रद है। काव्य या कला में विषय घटना-विशेष न होकर सामान्य होता है, वह विषय देशकाल से मुक्त होता है, वह कहीं भी घट सकता है, इसीलिए वह सार्वभौम है। उदाहरणार्थ, देवी-देवता के चित्र को देखकर प्रत्येक धर्म के व्यक्ति में आध्यात्मिक भावना ही जागृत होगी। इसी प्रकार करुणा व प्रेम के भाव को ही सामान्य रूप से जागृत करेगी, जबकि इतिहास में तथ्यों पर आधारित घटनाएँ हैं जिनमें किसी परिवर्तन या कल्पना को स्थान नहीं है, इसीलिए इतिहास से कला को भव्यतर माना है।

अरस्तू ने अनुकरण सिद्धान्त के आधार पर ही कलाओं का वर्गीकरण किया है। यह वर्गीकरण प्लेटो के वर्गीकरण से भिन्न है। प्लेटो ने कलाओं के दो भेद किये थे-उपयोगी कला व अनुकरणात्मक कला। उन्होंने उपयोगी कला को अपेक्षाकृत श्रेष्ठ माना किंतु अरस्तू ने इस क्रम को बदलकर कहा कि अनुकरणात्मक कलाएँ अधिक श्रेष्ठ हैं एवं उपयोगी कलाएँ उनके बाद आती हैं। उपयोगी कला प्रकृति का अनुकरण तो करती है किंतु बाह्य प्रकृति का। प्रकृति के रचनात्मक सिद्धान्तों का अनुकरण नहीं कर पाती। दोनों प्रकार की कलाओं में अंतर समझाने के लिए अरस्तू ने एक उदाहरण दिया कि एक चित्र या अभिनय में कार्यरत मनुष्य का चित्रण होता है। यह दो प्रकार से हो सकता है-एक तो हू-ब-हू नकल तथा दूसरा विचार व भावों का अनुकरण। दूसरे प्रकार में अनुकरण वास्तविक है। पहले में व्यर्थ का अनुकरण है, इसीलिए अरस्तू ने नाटक को और उसमें भी त्रासदी को सर्वश्रेष्ठ माना है। अरस्तू ने अनुकरण के आधार पर कलाओं के वर्गीकरण के तीन आधार बताये हैं :

(1) विषय-वस्तु

(2) माध्यम

(3) शैली या विधि

(1) विषय-वस्तु के आधार पर कला के दो भेद होते हैं-उपयोगी कला एवं ललित-कला। अरस्तू का कहना था कि जब अनुकरण केवल बाह्य वस्तु का होता है और साथ ही जीवन में उपयोगी भी होता है तो वह शिल्प कला होती है। शिल्प कला में बढ़ई, वास्तुकला आदि आ जाते हैं। इनमें मनोभावों अथवा आंतरिक अनुभूतियों का अनुकरण नहीं हो पाता। दूसरा ललित-कला में आंतरिक भावों का अनुकरण होता है, जैसे चित्रकला, काव्यकला, संगीतकला, नाट्यकला आदि। अरस्तू ने सर्वोत्तम कला नाट्यकला में भी त्रासदी को माना है क्योंकि उसमें अभिनेता वास्तविक पात्र के हाव-भाव अधिक अच्छी तरह व्यक्त कर सकता है तथा प्रेक्षक भी उसे सरलता से ग्रहण कर लेता है। अरस्तू का कहना था कि अनुकरण जितना सूक्ष्म होगा, कला उतनी ही उत्कृष्ट होगी।

(2) माध्यम के अंतर्गत शब्द, ध्वनि, रंग, लकड़ी, पत्थर आदि आते हैं। इनके आधार पर कला के अनेक भेद हो सकते हैं। संगीत में लय, ध्वनि व सामंजस्य का माध्यम अपनाया जाता है। इसी प्रकार काव्य कला में शब्द ही सब कुछ होते हैं। चित्रकला में रंग और मूर्तिकला में लकड़ी तथा पत्थर माध्यम बनते हैं। कुछ कलाएँ ऐसी भी हैं जिनमें उपर्युक्त सभी माध्यमों का उपयोग होता है। राग-प्रधान काव्य एवं त्रासदी और कामादि इन्हीं के अन्तर्गत आते हैं। नाट्य-कला में इन सबका एक साथ प्रयोग होने के कारण ही अरस्तू ने उसे सर्वश्रेष्ठ कला माना है।

(3) यदि माध्यम व विषय-वस्तु के आधार पर वर्गीकरण न हो सके तो अनुकरण की शैली या विधि के आधार पर वर्गीकरण होता है।

अरस्तू ने अनुकरण के सिद्धान्त के माध्यम से कला-सृजन की वस्तुनिष्ठ व्याख्या की है। इसकी पृष्ठभूमि मानव की अनुकरण की मूलवृत्ति व उससे आनंदित होने की स्वाभाविक प्रवृत्ति से जोड़ी जा सकती है। प्लेटो ने अनुकरण शब्द का व्यवहार केवल पुनरांकन के रूप में ही किया है, किंतु इसी अर्थ के साथ-साथ अरस्तू ने उसमें नया अर्थ भी भरा। कला न तो केवल यथार्थ का अनुकरण है और न भावों का इन्द्रजाल ही, वह तो प्रतिदिन के जीवन से उठता हुआ सार्वभौमिक सत्य और मानव-जीवन को प्रकाशमान करता हुआ नवआदर्श है :

(1) इस प्रकार अरस्तू ने कला को श्रेष्ठ माना है। कला का जन्म मानवीय प्रकृति की सहज प्रवृत्ति से होता है। अस्तु, कला का जीवन से घनिष्ट संबंध है। जो वस्तु जीवन के भीतर से प्रकट होती है, वह जीवन के लिए स्वाभाविक और महत्त्वपूर्ण होगी।

(2) कला का मूल "अनुकरण" व "संगीत" में है। सभी कलाएँ अनुकरणात्मक हैं। संगीत में भी लय का अनुकरण होता है, इसलिए वस्तुतः अनुकरण ही काव्य-उद्‌भव का मूल है।

(3) अनुकरण से हमें शिक्षा भी प्राप्त होती है। बाल्यकाल की सभी शिक्षाएँ अनुकरण के आधार पर ही प्राप्त होती हैं। भाषा व लोक-व्यवहार हम इसी प्रवृत्ति के कारण सीखते है, अतः इनका शैक्षणिक उपयोग भी है।

(4) "अनुकरण" आनंद भी प्रदान करता है। इस अनुकरणजन्य आनंद की दो विशेषताएं हैं-प्रथम तो यह कि यह सर्वव्यापी होता है, दूसरे हम अनुकृत वस्तु में मूल रूप का सादृश्य पाकर उसे पहचान लेते हैं। इसी पहचान के कारण हमें आनंद मिलता है। इस प्रकार पुनर्प्रस्तुतिकरण ही अनुकरण है, हू-ब-हू नकल नहीं।

(5) अनुकरण द्वारा वास्तविक जीवन में भय और दुःख की अनुभूति प्रदान करने वाली वस्तु भी आनंददायक हो जाती है। भय व दुःख का भी निराकरण हो जाता है।

(6) कविता का मूल "संगीत" भी है, इसलिए संगीत आनंद की अनुभूति का सहजोद्रेक है। उसकी प्रकृति भावात्मक है। उसमें भाव स्पर्श करने की क्षमता है। इसी कथन से प्रभावित होकर शायद वर्ड्सवर्थ ने लिखा था कि "कविता प्रबल अनुभूतियों का सहजोद्रेक है।"

अरस्तू ने अपने विचारों को नाट्य-कला के संदर्भ में ही व्यक्त किया है। उनके अनुसार जो कवि शुभ क्रियाओं एवं भद्र मनुष्यों की अनुकृति करते हैं, उनका मस्तिष्क उदात्त एवं गंभीर होता है। ऐसे कवि पहले प्रार्थना या शोक गीत लिखते हुए दुःखान्त नाटक लिखने में सफल होते हैं। कुछ कवि अभद्र चरित्रों तथा क्रियाओं की अनुकृति करते हैं। ऐसे कवि सुखान्त नाटक लिखने में सफल होते हैं। अरस्तू ने सुखान्त तथा दुःखान्त दोनों प्रकार के नाटकों को ललितकला में सम्मिलित किया और आनंदप्रद माना। तथापि ये दुःखान्त नाटक को अनुकृति-मूलक कलाओं में सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। अरस्तू के अनुसार दुःखान्त नाटक शुभ व उच्च क्रियाओं की अनुकृति करता है तथा दृश्यमूलक होता है। इसकी भाषा की अपनी विशिष्टता होती है। इसमें एक पूर्ण जीवन-चरित्र की अनुकृति होती है अर्थात् दुःखान्त नाटक स्वयं में संपूर्ण होता है। दुःखान्त नाटक में सामूहिक एकता होती है और वह प्रत्येक समुदाय तथा जाति के व्यक्तियों हेतु आनंदप्रद होता है।

दुःखान्त नाटक किसी गम्भीर आत्म-परिपूर्ण एवं निश्चित विस्तार से युक्त क्रिया का अनुव्यवसाय है। आलंकारिक भाषा अनुकृति का माध्यम होती है। यह वर्णन-शैली में न होकर संवाद-शैली में लिखा जाता है। दुःखान्त नाटक का प्रयोजन भय एवं करुणा है जो मन में भी वैसे ही भावों को उत्पन्न करके उनका विरेचन करने में सहायक होते हैं। इस प्रकार मनोविकारों का विरेचन ही दुःखान्त नाटक का मूल प्रयोजन होता है। नाटक के छः अंगों में कथानक एवं चरित्र महत्त्वपूर्ण हैं। अरस्तू ने कथानक को नाटक की आत्मा कहा है क्योंकि कथानक के अभाव में नाट्य-रचना संभव नहीं है। कथानक के माध्यम से ही चरित्रों को पूर्णता दी जाती है, इसलिए चरित्र दूसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। सम्भावित चरित्र कथानक में वास्तविक रूप पा लेता है, तथापि कथानक का विस्तार इतना होना चाहिये जो स्मृति में धारण किया जा सके। सौंदर्य की उत्पत्ति एक निश्चित विस्तार और व्यवस्था के कारण ही होती है, इसलिए कथानक इतना छोटा भी न हो कि वह कोई रूप प्राप्त ही नहीं कर सके। यही नियम चित्र के साथ भी है। फलक में इतनी अधिक घटनाएँ चित्रित न हों कि संयोजन अव्यवस्थित हो जाये तथा न ही इतनी कम हों कि पृष्ठभूमि घटना की अपेक्षा महत्त्वपूर्ण हो जाये। इसलिए कथानक का आयाम इतना ही हो जो एक दिन में प्रदर्शित किया जा सके। कथानक में विकसित एक ही घटना का अन्य घटनाओं से आपस में संबंध भी होना चाहिये। आदि, मध्य और अन्त में तीनों तत्त्व कथानक की पूर्णता के द्योतक हैं। आदि के बाद कुछ न कुछ घटता है, मध्य घटना के बीच की स्थिति है जिसका सभी घटनाएँ अनुगमन करती हैं और अंत घटनाओं की समाप्ति का नाम है, उसके बाद फिर कुछ नहीं घटता। यही कथानक की पूर्णता है।

अरस्तू के अनुसार दूसरा तत्त्व चरित्र अपने रूप में वास्तविक होना चाहिये, जो जीवित लगे। नायक कोई प्रसिद्ध और भद्र उद्देश्य वाला व्यक्ति होना चाहिये। ऐसे व्यक्ति को उत्थान से पतन की ओर जाते हुए प्रस्तुत करने में ही दुःखान्त नाटक की संपूर्ण सफलता निहित है। भद्र और सत्पात्र को उन्नति से अवनति में एवं सुख से विपत्ति में पाकर हमारे मन में करुणा व भय की भावना उत्पन्न होती है। भद्र या सत्पात्र का अर्थ यह नहीं है कि उसका चरित्र निर्दोष होता है। निर्दोष व्यक्ति का पतन तो दिखाना ही नहीं चाहिये, इससे हमारी नैतिक भावना को आघात

पहुँचेगा। दूसरी ओर अत्यन्त पतित मनुष्य का पतन दिखाने से करुणा और भय उत्पन्न नहीं होगा, इसलिए नायक अत्यन्त सच्चरित एवं न्यायपरायण न हो। उसके पतन का कारण पाप न दिखाकर किसी खास कमजोरी की ओर इंगित करना चाहिये - जैसे भूल या किसी विशेष परिस्थिति में पड़ने पर उचित निर्णय न कर पाने से वह दुर्भाग्य की मार खा जाता है। प्लेटो ने महाकाव्य और त्रासदी को इस आधार पर कुत्सित ठहराया कि मानव चरित्र एवं संवेगों पर उनका दूषित प्रभाव पड़ता है। किंतु अरस्तू ने यह प्रतिपादित किया कि महाकाव्य तथा त्रासदी से जनित संवेग लाभदायक प्रभाव उत्पन्न कर सकते हैं तथा वे स्वास्थ्यप्रद रेचन का मार्ग प्रशस्त कर सकते हैं जिससे विश्रान्ति की भावना जागृत होती है। अरस्तू के अनुसार काव्य का व्यापार करुणा तथा भय संवेगों का विरेचन संपादित करना है।

विरेचन सिद्धान्त

विरेचन अर्थात् कैथार्सिस (Katharsis) शब्द प्लेटो के विचारों में सर्वप्रथम दृष्टिगत होता है तथापि उसका विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण प्रयोग अरस्तू ने मानव-जीवन और मानव-मन पर पड़ने वाले त्रासदी के प्रभाव को उद्घाटित करने के लिए किया था।

विरेचन के संबंध में अरस्तू ने कहा है कि "त्रासदी किसी ऐसी क्रिया की अनुकृति है जो गम्भीर एवं अपने आप में पूर्ण हो और जिसमें विशेष गरिमा हो, जिसकी भाषा विभिन्न साधनों से अलंकृत हो और कृति के विभिन्न अंशों में सुव्यवस्थित हो, वह वर्णनात्मक न होकर नाटकीय हो और उसमें करुणा तथा भय इस प्रकार संयोजित हो कि उन्हीं संवेगों का विरेचन सम्पन्न हो सके।" करुणा एवं भय के इस विरेचन सिद्धान्त की अनेक व्याख्याएँ की गयीं, किंतु इसका अर्थ प्रायः आवेगों के शुद्धिकरण से उत्पन्न नैतिक प्रभाव ही लिया गया है। विरेचन का अर्थ है- "रेचक औषधि द्वारा उदर रोगों की शुद्धि तथा साहित्य में इसका अर्थ है-मन के दूषित भावों का शोधन।" जिस प्रकार औषधि का प्रभाव शरीर पर पड़ता है उसी प्रकार त्रासदी का प्रभाव आत्मा पर पड़ता है। विरेचन द्वारा संवेग संतुलित हो जाते हैं और अन्ततः मन की शान्ति की अवस्था से आनन्द उत्पन्न होता है। कवि और सहृदय दोनों के लिए ही काव्य रेचनात्मक होता है। काव्य-रचना या चित्र-रचना से कवि या कलाकार तथा काव्य या चित्र के परिशीलन से सहृदय को मानसिक शान्ति और विश्रान्ति का अनुभव होता है। अरस्तू स्वयं अच्छे वैद्य थे जिस कारण इस शब्द का प्रयोग उन्होंने सौंदर्यशास्त्र में भी कर लिया क्योंकि रेचक औषधि के गुणों से तथा उसके उपचार से उनको प्रत्यक्ष ज्ञान था। परवर्ती आचार्यों ने इनके विरेचन-सिद्धान्त के तीन अर्थ निर्धारित किये :

(अ) धर्मपरक अर्थ

यूनान में नाटकों का प्रारंभ धार्मिक उत्सवों से हुआ था। यूनान में डाइनोसियस नामक देवता से संबद्ध उत्सव अपने आप में एक प्रकार की शुद्धि का प्रतीक था। इस उत्सव द्वारा विगत वर्ष के कलुष, विष, पाप तथा मृत्यु के दुःख संसर्गों से शुद्धि प्राप्त होती थी।

प्रो० लिवि का कथन है कि अरस्तू के जीवन-काल में ही यूनानी त्रासदी का प्रवेश रोम में कलात्मक उद्देश्य की पूर्ति के लिए नहीं वरन् एक प्रकार के धार्मिक अंधविश्वास के रूप में, किसी

महामारी के निवारण हेतु होने लगा था। अपने ग्रंथ "राजनीतिशास्त्र" में संगीत आदि के प्रभाव का वर्णन करते हुए अरस्तू ने एक अन्य प्रकार की धार्मिक प्रक्रिया का उल्लेख किया है। "हाल" की स्थिति से उत्पन्न आवेश के शमन हेतु यूनान में उद्दाम संगीत का उपयोग होता था। बाह्य विकारों के द्वारा आन्तरिक विकारों की शान्ति का यह उपाय उस समय धार्मिक संस्थाओं में बहुत प्रचलित था। इस प्रकार विरेचन का अर्थ हुआ- "बाह्य उत्तेजना व अंत में उसके शमन द्वारा आत्मिक शान्ति तथा शुद्धि।"

(ब) नीतिपरक अर्थ

बर्नेज नामक जर्मन विद्वान ने विरेचन का नीतिपरक अर्थ प्रस्तुत किया है। मानव-मन अनेक मनोविकारों से आक्रान्त रहता है जिनमें करुणा व भय दो मनोवेग प्रमुख तथा दुःखद हैं। त्रासादि समस्त मानवों के मन में विद्यमान करुणा व भय के संवेगों को उत्तेजित करती है और उत्तेजना की इस क्रिया द्वारा आनन्ददायक विश्रान्ति प्रदान करती है। कुछ आवेगों पर होम्योपैथिक चिकित्सा का जो प्रभाव पड़ता है उससे भी अधिक प्रभाव त्रासादि का होता है। दर्शक के मन में सर्वप्रथम करुणा का उद्रेक होता है। यह करुणा ऐसे पात्र के प्रति उत्पन्न होती है जो पूर्णरूपेण उत्कृष्ट नहीं है, किंतु अपनी सहनशक्ति से अधिक कष्ट सहन करने के लिए विवश हो जाता है। करुणा व भय ऐसे सहानुभूतिजन्य कम्पन हैं जो हम ऐसे पात्र के लिए अनुभूत करते हैं जो सामान्यतः हमारे सदृश्य होता है। दर्शक दुःख के दृश्यों को देखकर अपनी परिस्थितियों से ऊपर उठ जाता है। वह त्रासादि के नायक से अभिन्न हो जाता है और नायक के माध्यम से वह समस्त मानव-जाति के साथ अभिन्नता स्थापित कर लेता है। इस प्रकार अहं भाव का नाश हो जाता है तो दुःख का भी स्वतः ही शमन हो जाता है और आनंदानुभूति होती है। इसके विपरीत प्लेटो की मान्यता थी कि नाटक के प्रभाव से दर्शक बहुरूप हो जाता है और मूक अभिनयात्मक प्रवृत्ति में वह अपने निजी व्यक्तित्व को खो देता है और इस प्रकार वह स्वयं अपने लिए मिथ्या सिद्ध होता है। जबकि अरस्तू का विचार था कि दर्शक अपने निजी व्यक्तित्व को खो बैठता है, किंतु वह सहानुभूति की शक्ति से सम्पन्न होता है और वह अपनी तुच्छ पीड़ाओं को विस्मृत कर देता है। वह अपनी वैयक्तिक सीमाओं का परित्याग करके समस्त मानव जाति से तादात्म्य स्थापित कर लेता है। इस प्रकार विरेचन का अर्थ है- "अन्तःवृत्तियों का सामंजस्य अर्थात् मनोविकारों के उत्तेजन के उपरान्त उद्वेग का शमन तथा उससे प्राप्त मानसिक विशदता।"

(स) कलापरक अर्थ

विरेचन सिद्धान्त की व्याख्या में कलापरक अर्थ के संकेत गेटे तथा अंग्रेजी के स्वच्छन्दतावादी कवि व आलोचकों में मिलते हैं। अरस्तू के प्रसिद्ध व्याख्याकार प्रो० बूचर ने इस अर्थ का अत्यन्त आग्रहपूर्वक प्रकाशन किया। विरेचन शब्द मात्र मनोविज्ञान या निदानशास्त्र के एक तथ्य-विशेष का वाचक न होकर एक कला सिद्धान्त का अभिव्यंजक है। त्रासदी का कर्म केवल करुणा या भय का निवारण करना ही नहीं है वरन् सहृदय को सुनिश्चित कलात्मक परितोष प्रदान करना भी है। उदाहरणार्थ, सेमोथ्रेस द्वीप में मिली विजयश्री की प्रतिमा अपने परिधान के सुन्दर संयोजन, उत्कृष्ट मुद्रा तथा पंखों द्वारा स्वतंत्र उड़ान की अभिव्यंजना के कारण दर्शक को सौंदर्यानुभूति द्वारा आनंद प्रदान करती है। दर्शक उससे तादात्म्य स्थापित करके स्वयं भी स्वतंत्र उड़ान भरने की कल्पना

करता है । इसी प्रकार त्रासदी के नायक की विपत्ति देखकर दर्शक स्वयं भी कष्ट, दुःख व भय अनुभव करता है तथा इन भावों के निराकरण द्वारा एक परितोष प्राप्त करता है जिससे अंत में उसे कलात्मक परितोष मिलता है । यह कलात्मक परितोष दर्शक तथा कलाकार दोनों को ही मिलता है । कला सृजन से कलाकार तथा कला परिशीलन से सहृदय दोनों के मनोभाव उद्वेलित होकर शांत हो जाते हैं और कलात्मक अनुभूति होती है । विरेचन में मानसिक संतुलन पूर्व भाग है जिसकी परिणति तो कलात्मक परितोष एवं परिष्कार है जिसके बिना त्रासादि या कला के कलागत आस्वाद का वृत्त पूरा नहीं होता ।

सौंदर्य

अरस्तू के अनुसार सौंदर्य आंकाक्षा, वासना और उपयोगिता से ऊपर की वस्तु है तथा सुन्दर वस्तु में क्रम, सामंजस्य, समानता तथा निश्चितता विद्यमान होती है । किसी भी वस्तु, चित्र या काव्य आदि का निर्माण विभिन्न अंगों द्वारा किया जाता है तथा इन अंगों में एक व्यवस्था एवं सामंजस्य के साथ ही एक निश्चित आयाम या विस्तार का होना भी आवश्यक है, इसलिए सौंदर्य उचित आयाम और व्यवस्था से ही उत्पन्न होता है । अर्थात् निर्मित विषयवस्तु इतनी छोटी न हो कि वह दृष्टि से दिखाई ही न पड़े और दूसरी ओर इतनी बड़ी भी न हो कि दृष्टि-सीमा में समा ही न सके । जिस प्रकार लघुतम जीव सुन्दर नहीं लगता, उसी प्रकार वृहत्तम जीव भी सुन्दर नहीं लगता, क्योंकि दोनों का रूप स्पष्ट नहीं हो पाता । इनकी संपूर्णता दृष्टि-सीमा में नहीं आ पाती । नाटक के कथानक का आयाम भी निश्चित होना चाहिये जो स्मरण-शक्ति की सीमा में धारण किया जा सके ।

इस प्रकार सौंदर्य की तीन विशेषताएँ निर्धारित होती हैं-निश्चित आयाम, संतुलन तथा सामंजस्य ।

अरस्तू ने सौंदर्य एवं शिव में भी भेद किया है । शिवत्व का अनुभव गति की अवस्था में होता है जबकि सौंदर्य जड़ पदार्थों में भी विद्यमान होता है । अरस्तू ने सौंदर्य को शिव से भिन्न मानते हुए भी दोनों की तदरूपता को स्वीकार किया है । उनकी परिभाषा है कि "सौंदर्य वह शिव है जो आनंदप्रद है क्योंकि वह शिव है ।" इसलिए अरस्तू ने भी संगीत को प्रत्येक कला से अधिक रूपात्मक और व्यंजक माना है क्योंकि हमारी क्रियाएँ गत्यात्मक होती हैं और संगीत मूलतः गति पर आश्रित होता है । दोनों में सादृश्य होने के कारण ही मात्र ध्वनिमय रागनियाँ भी हमारी आत्मा को प्रभावित करती हैं । इनकी सहज एवं प्राकृतिक गति हमें आनंद देती है और इनका संयम तथा सामंजस्य ही हमें प्रभावित करता है ।

अरस्तू ने सौंदर्य को शिक्षा में भी सहायक माना है । सौंदर्य-बोध के अभाव में शिक्षा अपूर्ण है । चित्रकला का उद्देश्य ज्ञान और कौशल की वृद्धि करना है । इससे छात्र वस्तु के सौंदर्य का कुशल निरीक्षक बनता है । इनके अनुसार कला हमारा अहित नहीं करती वरन् वह हमारे अशुद्ध मनोभावों का विरेचन करती है और अधूरी प्रकृति को पूर्ण करती है । संगीत को महत्त्व देते हुए भी अरस्तू ने नाट्यकला को ही श्रेष्ठ माना है तथा मुख्य रूप से उसी का विवेचन किया है क्योंकि नाट्यकला में अन्य कलाएँ भी किसी न किसी रूप में समाहित रहती हैं । □□□

अध्याय 2

मध्य युग : नव-प्लेटोवाद

अरस्तू की मृत्यु के पश्चात् यूनान में दार्शनिक विचारधारा का उत्तरोत्तर ह्रास होता गया। यह धारा पूर्णतः अवरुद्ध तो नहीं हुई, किंतु वेग अवश्य मंद होने लगा था। कोई ऐसा महान् विचारक उत्पन्न नहीं हुआ जिसने दर्शन जगत को कोई मौलिक विचार प्रदान किया हो। जो एक-दो विचारक हुए भी, वे प्लेटो, अरस्तू आदि के विचारों का संग्रह करना ही अपनी सफलता समझते थे। इन्होंने अरस्तू की व्याख्या एवं तुलना करने में ही अपनी शक्ति लगाई। अरस्तू एक प्रकार से विश्व-कोष थे। इनके बाद के विचारकों को हम संग्रहवादी के नाम से जानते हैं।

वस्तुतः इस समय में प्रतिभा का अकाल तो नहीं था, किंतु एक ऐसा धर्म-प्रधान वातावरण निर्मित हो गया था तथा अर्थ की शक्ति और राजनीतिक शक्ति इतनी व्यापक हो गयी थी कि उसका आदेश ही संपूर्ण यूरोप पर हावी रहता था। धर्म और साहित्य तथा कलाओं का विवाद तो काफी पुराना है जिसका प्राचीनतम उल्लेख प्लेटो में मिलता है जब भी धर्म की प्रभुता बढ़ती है, समाज में विशुद्ध साहित्यिक विकास कठिन हो जाता है। इस काल में धर्म के प्रभुत्व के कारण जितने भी प्रतिभाशाली व्यक्ति थे, वे चर्च में दीक्षित हुए और इसलिए साहित्यिक व कला के निर्माण का क्षेत्र सूना हो गया। दूसरे, काव्य और कला को आत्मिक विकास का अवरोधक माना गया तथा इनके अध्ययन और अध्यापन पर प्रतिबंध लगा दिये गये। जिस प्रकार प्लेटो ने कवि को आदर्श गणराज्य से निष्कासित करने का सुझाव दिया था, क्योंकि कविता वासनाओं को सींचती है, उसी प्रकार शक्ति पा लेने के पश्चात् धर्म ने साहित्य व कला को अपने राज्य से निष्कासित कर दिया।

इतने सख्त प्रतिबंध के बावजूद भी लोक-साहित्य एवं कला की धारा विकासमान रही जिसमें जीवन के सहज आवेगों एवं स्थितियों का प्रकाशन होता रहा, किंतु सभ्य समाज में कलात्मक सर्जना के व्यापार हेतु अवकाश नहीं था। इस युग में वास्तुकला का विकास किलों तथा गिरजाघरों के रूप में दिखाई देता है क्योंकि इस कला को सुरक्षा एवं धर्म की दृष्टि से पर्याप्त प्रोत्साहन मिला, किंतु काव्य कला, चित्रकला, मूर्तिकला आदि को धार्मिक उन्नति का विरोधी मानकर विकसित नहीं होने दिया। वस्तुतः इस युग में संपूर्ण ज्ञान-साधना का केन्द्र ईसाई-धर्म था और इसलिए जो ज्ञान-साधनाएँ धर्म के केन्द्र से संबंधित रहीं, उनका पूर्ण विकास हुआ और जो इसके विरोध के कारण इससे विच्छिन्न रहीं वे जीर्ण हो गयीं। इस समय में कला व मानव जीवन के प्रति लोगों की कोई विशेष रुचि भी नहीं थी। जो कुछ यूनानी सभ्यता में हो चुका था, उसी की पुनः स्थापना का कार्य होता था। कलाओं के क्षेत्र में वास्तुकला के पश्चात् मूर्तिकला का ही विकास हुआ। इसमें

भी चित्रों का अधिक विकास हुआ जिसमें इतनी गहरी खुदाई है कि तीन स्तर दिखाई देते हैं, इसका उदाहरण है- कॉलम ऑफ ट्राजन (रोमन)। व्यक्ति-चित्र का भी प्रचलन हुआ जिसमें यथार्थवादी अधिक हैं। चारित्रिक गुण भी व्यक्ति-चित्रों में प्रकट करने का प्रयास किया गया। प्रारंभिक ईसाई कला, बिजेन्टाइन कला, रोमनस्क तथा गोथिक कला धार्मिक रहस्यात्मकता का ही परिणाम है।

इस समय कला एवं सौंदर्य संबंधी विचार धर्म एवं नैतिकता से आक्रांत थे। रंगमंच आदि की निंदा की गयी। "नाट्य-संवादों को "हवा और धुआँ" कहा गया। रंगमंचीय साज-सज्जा "विलासितापूर्ण पागलपन" है, इसके प्रति प्रेम दिखाना एक "गंदी खाज" है। ये संत आग्स्टाइन के विचार थे। रंगमंच और नाटक पाप के घर माने गये। संत जेरोम ने कहा था कि "स्वर्ग में वह न्यायाधीशों के समक्ष देवदूतों द्वारा कोड़े खाते-खाते नीले पड़ गये थे क्योंकि उनकी गलती केवल इतनी थी कि उन्होंने सिसरो की प्रशंसा की थी। संत बेसिल ने तो खिलखिलाहट या हँसी की दुराचारिता पर लिखते हुए कहा कि "यह एक शारीरिक उत्तेजना है जिसे ईसा ने कभी अनुभव नहीं किया।"

प्रारंभिक ईसाई नैतिक प्रतिबंध अपने सर्वांगीण रूप में प्लेटो के कला संबंधी दो मुख्य निषेधों का ही प्रतिरूपण है जो उसने रिपब्लिक के 10वें अध्याय में बताये थे-प्रथम, प्लेटो ने कहा था कि कविता एवं चित्रकला अपनी असत्य कल्पनाशीलता के गुण के कारण सत्य और ईश्वर से दुगुनी दूर है। इसी आधार पर ईसाई विचारकों ने यह धारणा प्रस्तुत की कि "भ्रमात्मक कला विशेषतः रंगमंचीय कला-अपकर्षात्मक तथा "प्रारंभ से ही मिथ्यावादी" है। प्लेटो का द्वितीय मत था कि अनुकरणात्मक कलाएँ उत्तेजनाओं को सींचती हैं, इसीलिए ईसाइयों ने भी ललितकलाओं को निकृष्ट माना तथा धार्मिक सत्व से परिपूर्ण कलाओं को ही श्रेष्ठ बताया। प्लेटो के समान ही इन्होंने कला को फुसलाने वाला आकर्षण कहा और उस पर "मिथ्यावादी ऐन्द्रिय सुख-प्रधान, अपकर्ष की ओर अग्रसर करने वाली अत्यंत हानिकारक बताकर आरोप लगाया। कविताएँ भी निकृष्ट हैं क्योंकि उनकी लय के साथ आत्मा अपने सौंदर्य से गिरती है।

नैतिक आग्रह के अतिरिक्त मध्य युग में सौंदर्यशास्त्र के प्रायः विलोप होने का एक कारण यह भी है कि उन्होंने सौंदर्य को दैवी नाम से जोड़कर एक भ्रांति उत्पन्न कर दी थी। ईसाई विचारकों के लिए ईश्वर के अतिरिक्त कुछ भी पवित्र व सत्य नहीं था। परमात्मा ही प्रत्येक निर्णय का एकमात्र विषय था। ईश्वर, जिसने सभी वस्तुओं का निर्माण किया है, वही सत्य है, अवर्णनीय तथा अदृश्य है। दैवीय परिमाण और अनुपात में सौंदर्य है। "सत्यता पारलौकिक है" यह बात कैथोलिक धर्माध्यक्षों में अपनी धार्मिक निष्ठा के फलस्वरूप "ईसा के पुनर्जन्म से" जोड़ी है। उनका विश्वास था कि ईसा मृत्योपरांत जब कब्र से उठे तो उन्होंने शारीरिक व आत्मिक दोनों रूपों से संपूर्ण विश्व पर विजय प्राप्त कर ली थी और इसके बाद उन्होंने प्रत्येक वस्तु के अर्थ को पारलौकिकता से संबंधित किया।

इस प्रकार मध्ययुगीन सौंदर्यशास्त्र पर कोई पुस्तक लिखने का प्रयास नहीं किया गया। कुछ विद्वान तो सौंदर्यशास्त्र का इतिहास लिखते हुए प्लाटिनस के पश्चात् सीधे 18वीं सदी में पहुंच जाते हैं। वस्तुतः यह ठीक भी है क्योंकि सौंदर्यशास्त्र ईसाइयत के नैतिक प्रतिबंधों द्वारा कुचल दिया गया था। इस युग को सांस्कृतिक दृष्टि से पतन का युग एवं सामान्य मानवीय दृष्टि से मानवता के उदय

का युग कह सकते हैं क्योंकि सांस्कृतिक कार्यक्रमों को आत्मिक विकास में बाधक मानकर महत्त्व नहीं दिया गया तथा आत्मा के विकास, ईश्वर के गुणगान एवं स्वर्ग प्राप्ति पर बल दिया गया। आत्मा का परिणाम प्रेम, आनंद, शांति, नम्रता, संयम, सहनशीलता, दयालुता आदि गुणों को माना गया। क्रौचे ने अपनी पुस्तक में मध्ययुग के इतिहास को चार पृष्ठों में ही समाप्त कर दिया। कुछ विद्वानों ने तो इतना लिखना भी आवश्यक नहीं समझा।

इन 1000 वर्षों के उपरांत 13वीं सदी में दांते एक ऐसे महान् कृतिकार लक्षित होते हैं जिन्होंने "डिवाइन कॉमेडी" के रूप में न केवल एक महान् साहित्यिक रचना की वरन् साहित्य के संबंध में कुछ मौलिक प्रश्नों पर भी विचार किया। मौलिक प्रतिभा एवं विचार के अभाव में कुछ विद्वानों ने दर्शन की अनेक शाखाओं के महत्त्वपूर्ण विचारों का संग्रह करना ही बेहतर समझा।

संग्रहवादी युग में सिसरो का नाम सर्वाधिक महत्त्व का है। उन्होंने अनेक विषयों पर प्रकाश डालते हुए सौंदर्य एवं कला पर भी अपने विचार प्रकट किये। भाषण-कला पर उन्होंने स्वतंत्र विचार प्रकट किये। सौंदर्य का भेद करते हुए सिसरो ने स्त्री और पुरुष सौंदर्य की विशेषता बताते हुए कहा कि स्त्री-सौंदर्य माधुर्ययुक्त होता है, पुरुष सौंदर्य उसकी मर्यादा में निहित होता है। इन दोनों प्रतिरूपों को कला-सौंदर्य पर भी लागू कर सकते हैं। उनका कहना था कि विचारों में चमक तभी आ सकती है जब उसे भाषा का प्रकाश मिले। "रंगों की एक निश्चित अनुकूलता एवं अंगों का अनुपात" एक साथ प्रस्तुत हों तो उसे सौंदर्य कहते हैं - सौंदर्य की यह परिभाषा सिसरो ने नये ढंग से की। उसके बाद प्लूटार्क और लौंजाइनस दो अन्य महत्त्वपूर्ण विद्वान आते हैं। प्लूटार्क ने अरस्तू के इस कथन का विरोध किया कि "कुरूप" का चित्रण भी आनंदप्रद होता है। प्लूटार्क ने कहा कि इससे कलाकार की हस्त-लाघवता का बोध हो सकता है, किंतु सूअर या कोढ़ी का चित्र आनंदप्रद नहीं हो सकता। प्लूटार्क के अनुसार सौंदर्य एक प्रकार की कलात्मक कुशलता है।

लौंजाइनस के अनुसार, कवि अपनी कला के कारण महान् नहीं हो सकता अपितु अपनी कल्पना, अपनी भावना तथा अपनी उस शक्ति के कारण वह महान् होता है जिससे वह वर्णित गुणों को अपने पाठकों तक पहुँचा पाता है। उन्होंने काव्य में ऐसी महान् शक्ति देखी जो मानव-स्वभाव को निर्विघ्न भाव से प्रभावित करती है, उसका समुन्नयन करती है। यदि संवेग समुचित स्थान पर प्रयुक्त किये जायें तो उनसे जो काव्य-सौंदर्य निर्मित होगा, वह अपने आप में अनुपमेय होगा, क्योंकि उनमें दैवी उन्माद होता है। इन्होंने "उदात्त" को सर्वाधिक महत्त्व दिया जो इनका मौलिक विचार था। इनके विचार से संवेग ऐसे होने चाहिएँ जो हमारी आत्मा को मूल सत्य तक ले जायें और हर्षोल्लास का अनुभव हो। कुछ आवेग उदात्त से दूर भी होते हैं जो निम्न कोटि के हैं जैसे, दया, शोक, भय आदि। इनका विचार था कि काव्य या कला में उदात्त तत्त्व, कल्पना, संवेग और शब्द-सौंदर्य से आता है। ये "उदात्त" को अपने विचारों से कभी अलग नहीं कर पाये इसीलिए इनका दृष्टिकोण एकांगी हो गया है।

प्लाटिनस [Plotinus] (205-270 ई०)

प्लाटिनस की विचारधारा आध्यात्मिक एवं रहस्यवादी थी। कुछ विद्वान इन्हें अंतिम प्लेटोवादी मानते हैं तो कुछ विद्वान मध्य युग के प्रारंभ की आदि-सीमा कहते हैं। इनके विचारों में

प्लेटो के सिद्धान्तों का समर्थन तथा खण्डन दोनों निहित हैं । इन्होंने मूलतः कला के उद्देश्य पर विचार करके कला के अनुभूति पक्ष को उठाया है जो इनकी महत्त्वपूर्ण देन है । इन्होंने दर्शन और सौंदर्यशास्त्र के क्षेत्र में आधारभूत सिद्धान्तों की दृष्टि से नव-प्लेटोवाद का प्रवर्त्तन किया ।

प्लाटिनस ने सत्य के अनेक रूपों का स्रोत अखंड परम सत्य को माना है अर्थात् यह वस्तु जगत प्रत्ययों के प्रतिबिम्ब का परिणाम नहीं है वरन् इसकी उत्पत्ति ब्रह्म से हुई है । यह वस्तु जगत उसी प्रकार ब्रह्म से निःसृत है, जैसे सूर्य-किरणें सूर्य से निःसृत होती हैं । इसी एक मूल स्रोत से क्रमशः मस्तिष्क अथवा प्रज्ञाशक्ति, आत्मा और पदार्थ अथवा शरीर की उत्पत्ति हुई । प्लाटिनस ने इसी मूल दार्शनिक सिद्धान्त के समानान्तर सौंदर्य की व्याख्या की है । प्रत्यय के रूप में सौंदर्य अखण्ड और पूर्ण है । आध्यात्मिक और भौतिक जैसे अन्य सौंदर्य उसके आवृत्त हैं तथापि ये भी उसी एक परम सौंदर्य के सहभागी हैं । सौंदर्य के जिस गुण पर इन्होंने सर्वाधिक बल दिया, वह "भास्वरता" है । भास्वरता से तात्पर्य है-किसी सुन्दर वस्तु से उद्‌भूत होने वाले आध्यात्मिक तत्त्व की कांति । प्लाटिनस परम ब्रह्म अर्थात् अन्विति को ही सत्ता मानते थे और सत्ता का अर्थ है-सौंदर्य, जिसका विधायक तत्त्व "आदर्श-रूप" है । तथापि एक ही शरीर कभी सुन्दर लगता है और कभी नहीं लगता । सुंदर होने के लिए सामंजस्य, संतुलन और रंगों के औचित्य की आवश्यकता है तथापि इन तत्त्वों के होते हुए भी वस्तु कभी-कभी सुन्दर नहीं लगती । इसके विपरीत कभी-कभी असंतुलित वस्तुएँ भी सुंदर लगती हैं, जैसे, रात में बिजली की चमक, सोना, सूर्य की रोशनी । इस प्रकार संतुलन और सामंजस्य ही सौंदर्य नहीं है वरन् सौंदर्य इनसे ऊपर की वस्तु है । इसका तात्पर्य यह है कि शरीर, वस्तु या कलाकृति अपने अंगों सहित पूर्ण होते हुए भी सुन्दर नहीं हो सकते जब तक उनमें सौंदर्य की अभिव्यक्ति न हो । वस्तुएँ हमें इसलिए सुंदर लगती हैं क्योंकि हम सौंदर्य से प्यार करते हैं । उन सभी वस्तुओं से आत्मा सहानुभूति दिखाती है जिनमें सौंदर्य का प्रकाश दिखाई देता है । यह सौंदर्य और ब्रह्म एक ही हैं क्योंकि दोनों निराकार हैं । प्लाटिनस ने सौंदर्य में रूपात्मकता का निषेध किया है और जीवन को महत्त्व दिया है । उनके अनुसार जिस वस्तु में जितना अधिक जीवन-स्पन्दन होगा, वह वस्तु उतनी ही अधिक सुंदर होगी । किसी भी मूर्ति से चाहे वह कितनी ही सुंदर क्यों न हो, एक कुरूप व्यक्ति बहुत ही सुंदर है क्योंकि उसमें जीवन का स्पंदन है। सौंदर्य रोशनी है जिसकी आभा में वस्तुएँ चमकती हैं । किसी भी चित्र, मूर्ति या काव्य से प्रकृति अधिक सुंदर है क्योंकि उसका सृष्टा ब्रह्म है और प्रकृति से ब्रह्म अधिक सुंदर है । उदात्त सौंदर्य में ब्रह्म की अभिव्यक्ति होती है, इसलिए सौंदर्य इन्द्रिय का विषय नहीं, प्रज्ञा का विषय है । वे सभी वस्तुएँ, जो प्रज्ञा के नियमों को अभिव्यक्ति देती हैं; सुंदर कही जा सकती हैं । प्लाटिनस का यह विचार सौंदर्यशास्त्र की दिशा में नया था ।

प्लाटिनस ने "कुरूप" की व्याख्या भी की है । कुरूपता की अनुभूति से आत्मा सिकुड़ती है । कुरूपता प्रकाश की कमी है । जहाँ पदार्थ संवेगात्मक नहीं होता, जहाँ संभावना या कल्पना सुप्त रह जाती है, चित्र में शिल्प अधूरा रह जाता है या मूर्ति विचारोत्तेजक नहीं होती अथवा संगीत की रागनियों में विरोध आ जाता है वहाँ कुरूपता होती है । कुरूपता का अर्थ रूपहीनता नहीं हो सकता क्योंकि कोई भी वस्तु रूपहीन नहीं होती । कुरूपता से दोषपूर्ण रूप का संकेत मिलता है । कुरूप वह है जो सौंदर्य का दर्पण नहीं बन पाता । सौंदर्य वस्तुओं का वह तत्त्व है जिसे आत्मा अपने

तत्त्वों के समरूप स्वीकार करती है और कुरूपता वह वस्तु है जिसे आत्मा अपने से विरोधी स्वभाव का एवं अपने से भिन्न स्वीकार करती है । सौंदर्य प्रज्ञा में साकार होता है जबकि कुरूप प्राज्ञिक आकार से शून्य होता है । यह प्राज्ञिक आकार दैवी शक्ति का परिचायक है ।

कला को भी प्लाटिनस ने मात्र अनुकृति या कौशल नहीं माना है । उनके अनुसार कलाकार अपने विषय का अनुकरण मात्र न करके उस मूल प्रत्यय को ग्रहण करने का प्रयास करता है जिससे स्वयं प्रकृति प्रकाशमान है । कलाकार का अधिकांश कार्य उसका निजी होता है । इस प्रकार वह सौंदर्य का सृजन करता है तथा कलाकृति के अध्ययन से प्रकृति के अभावों की पूर्ति करता है । इसी मान्यता के कारण प्लाटिनस को सृजनात्मक कल्पना की व्यवस्थित व्याख्या करने वाला दार्शनिक माना गया है । प्लाटिनस कलाकृति को सृजन मानते हैं जिसका रूप सृजन से पूर्व अनगढ़ सामग्री में नहीं वरन् सृष्टा में निहित होता है जहाँ से वह रूप कलाकृति में रूपान्तरित हो जाता है । प्लाटिनस यह मानते हैं कि सृष्टि सदैव सृष्टा से कम होती है, अभिव्यक्ति विचार से कम होती है, प्रतिबिम्ब प्रत्यय से कम होता है तथापि कला मात्र अनुकृति नहीं है । कलाकार प्रकृति के नियामक सिद्धान्तों के बल पर ही सृजन करता है और प्रकृति स्वयं प्रत्ययों की अनुकृति है । कला भी प्रकृति के समान अपने नियम रखती है । इसके अतिरिक्त कलाकार सृजन करते समय अपने सामने कोई नमूना नहीं रखता । सौंदर्य को दोषमुक्त करने हेतु वह अपनी ओर से कुछ घटाता और कुछ जोड़ता भी है । ईश्वर की मूर्ति तराशते समय ईश्वर सामने नहीं होता वरन् ईश्वर प्रकट होगा तो ऐसा होगा-यही कल्पना व उद्देश्य शिल्पकार के समक्ष होता है । इस प्रकार कला वास्तविकता का प्रतीकात्मक चित्रण है । कला द्वारा कल्पना के माध्यम से वे वस्तुएँ भी चित्रित की जा सकती हैं जो दृश्य-जगत से परे हैं ।

प्लाटिनस ने संवेदना या अनुभूति की व्याख्या भी की है । प्लाटिनस ने कहा है कि संसृति ब्रह्म से प्रवाहित होती है जिसके तीन क्रम हैं-ब्रह्म, आत्मा एवं पदार्थ । इसके आधार पर अनुभूति भी तीन प्रकार की होती है-पहली अनुभूति शारीरिक है जिसे ज्ञानेन्द्रियों से ग्रहण किया जाता है । दूसरी मानसिक अनुभूति है जिसमें मस्तिष्क कार्य करता है । इन दोनों अवस्थाओं में आत्मा, शरीर व इन्द्रियाँ ऊपर उठकर मुक्ति प्राप्त नहीं कर पातीं । इन अवस्थाओं में सांसारिक जगत तथा तर्क-वितर्क का आभास रहता है । तीसरी अनुभूति आध्यात्मिक अनुभूति है जिसमें आत्मा संवेदना, संवेग, आवेग आदि शारीरिक अवस्था से सम्बद्ध विकारों से तथा बौद्धिक अवस्था से संबंधित स्मृति, कल्पना, मनोभाव आदि से भी मुक्त हो जाती है । यह कलानुभूति ब्रह्म साक्षात्कार के समकक्ष है । यही विचारधारा भारतीय आचार्यों, भट्ट नायक एवं अभिनव गुप्त की रही है । प्लाटिनस का यह सौंदर्यानुभूति या कलानुभूति का सिद्धान्त भारतीय आचार्य अभिनव गुप्त की रसानुभूति के अत्यन्त निकट है ।

संत आग्स्टाइन [St. Augustine] (354-430 ई०)

संत आग्स्टाइन का जन्म तगस्ते नामक उत्तर अफ्रीका के एक नगर में हुआ था । उनकी माँ कोनिका से उन्हें ईसाई धर्म की शिक्षा मिली। उन्होंने मोनीवाद का परिचय भी प्राप्त किया जिसका मुख्य सिद्धान्त भलाई व बुराई का द्वैतवाद है । इस दर्शन का इनके मन पर गहरा प्रभाव पड़ा। वे इस मत के भौतिकवाद से तो सहमत नहीं हुए, किंतु बुराई की समस्या के विषय में वे जड़, वस्तु और स्थूल शरीर को उसका मूल कारण मानने लगे । मोनीवाद छोड़कर वे फिर अकादमीय

संदेहवाद के अनुयायी हो गये, फिर आगे चलकर संदेहवाद भी त्याग दिया ।

अपने प्रारंभिक काल में आगस्टाइन ने ईसाई धर्म के प्रभाव के कारण कलाओं को विशेषतः ललित-कलाओं को "हवा और धुआँ" कहकर "विलासितापूर्ण" असत्य कहा था । जिस प्रकार इनका प्रभाव क्षणिक है, उसी प्रकार कला का भी है । प्लेटो के समान ही कलाओं को भ्रमात्मक कहकर निंदा की । आगस्टाइन ने कहा कि रंगमंचीय मनोरंजन कामुकतापूर्ण है । होमर और रोमन नाट्यकारों के चरित्रों का अनुकरण यदि सामान्य जीवन में किया जाये तो जनसामान्य का अधःपतन होगा और वे "पाताल के अंधेरे" में घिर जायेंगे क्योंकि होमर ने तो देवी-देवताओं को आपस में झगड़ते हुए, द्वेष-भाव से मुक्त, कामुक तथा एक-दूसरे की निंदा करते अंकित किया है । जब मानव अपने "आदर्श" को ही ऐसे अधम कार्य करते देखेगा तो उसका नैतिक पतन होना स्वाभाविक ही है । ईसाई धर्मानुसार ईश्वर एवं धर्म-परायणता ही जीवन के मूल थे । जितने भी सांस्कृतिक मनोरंजक कार्यक्रम थे उनका कोई स्थान नहीं था । फलतः आगस्टाइन ने भी यह मत बनाया कि जितनी भी कलाएँ हैं वे जब तक परमात्मा का प्रशस्ति गान करने तक सीमित रहें तब तक तो उचित हैं, किंतु जब वे मनोरंजन एवं आनंद हेतु काम में लायी जाने लगें तो निष्फल व नगण्य हैं । संगीत, काव्य, कला, नाट्यकला, चित्रकला आदि तो क्षणिक एवं ऐन्द्रिक अनुभूति कराती हैं । यह ब्रह्म रूप होने के कारण असत्य है, जबकि परमात्मा की प्रतीति तो स्थायी और आत्मिक अनुभूति है और यही सत्य है । इन्होंने ईसाई करुणा, जो मनोव्यथा एवं अभाव के प्रभाव से उत्पन्न होती है; को रंगमंचीय कृत्रिम सहानुभूति और झूठे दुःख व आसुँओं की भावुकता से परिपूर्ण कुत्सित एवं भ्रष्ट करुणा की अपेक्षा श्रेष्ठ दर्शाने का प्रयास किया था ।

आगस्टाइन ने केवल एक सत्य स्वीकारा था जो ईश्वरीय है । नित्य सत्य हमारे मन के सापेक्ष नहीं है । नित्य-सत्य के ज्ञान का स्रोत तो परमेश्वर ही है जो स्वयं सत्य कहलाता है । मानव-मन से प्राप्त हुए नित्य-सत्य परमेश्वर के निर्विकार तत्त्व को ही प्रतिबिम्बित करते हैं । आगस्टाइन ने परमेश्वर की तुलना सूर्य से की है । जैसे सूर्य भौतिक वस्तुओं पर प्रकाश डालकर उन्हें आँखों हेतु दृश्यमान बनाता है, उसी प्रकार परमेश्वर हमारी आत्मा को प्रबुद्ध करता है जिससे हम नित्य सत्य को ग्रहण कर सकें । इसी आधार पर उन्होंने एक अन्य बात स्वीकार की कि जिन वस्तुओं का ज्ञान अनुभूति के आधार पर होता है वे ही सत्य है तथा जिनका ज्ञान केवलमात्र इन्द्रियों के आधार पर होता है वे असत्य के अधिक निकट हैं । आगस्टाइन के मतानुसार मनुष्य की संरचना में आत्मा तथा शरीर दोनों का ही समान योगदान है। शरीरयुक्त आत्मा दो व्यक्ति न होकर एक ही है । आगस्टाइन का ऐन्द्रिक ज्ञान के प्रति दृष्टिकोण भी बहुत कुछ प्लेटो के समान ही है । उनके विचार में भौतिक विषय मानवीय ज्ञान के समुचित एवं यथार्थ विषय नहीं हैं । इसका कारण है न केवल ये विषय अपितु उनको ग्रहण करने वाली इन्द्रियाँ भी निरंतर परिवर्तनशील हैं । ऐन्द्रिक ज्ञान संवेदों पर आश्रित होने के कारण निम्नतम स्तर का ज्ञान है । संवेदन हमें तभी प्राप्त होते हैं जब आत्मा किसी न किसी इन्द्रिय को ज्ञानोपकरण के रूप में प्रयुक्त करती है । जब भी आत्मा की क्रियाशीलता का अतिरेक किसी इन्द्रिय विशेष की ओर होता है, तब हमें उस इन्द्रिय से संबद्ध संवेदों की प्राप्ति होती है ।

आगस्टाइन ने धीरे-धीरे अपने अनुभव के आधार पर लक्षित किया कि अति-नैतिक आग्रह के फलस्वरूप कलाओं का विकास रुक गया है । अब तक इनके विचारों द्वारा कला का विरोध किया गया है, किंतु धीरे-धीरे इनके विचारों में भी परिवर्तन आया । इन्होंने कहा कि कलाएँ हमें

आकर्षित करती हैं एवं उनका भी जीवन में विशेष स्थान है । इन्होंने कहा कि "कलाएँ असत्य होते हुए भी सत्य हैं ।" इस प्रकार इन्होंने द्वन्द्वात्मक दर्शन प्रस्तुत किया । यह विचार उन्होंने धर्म एवं सौंदर्य दर्शन में संतुलन लाने हेतु प्रस्तुत किया था । असत्य को परिभाषित करते हुए इन्होंने कहा कि "असत्य वह है जो सत्य होने का भ्रम उत्पन्न करे ।" कविता, प्रहसन, वाक्पटुता और अभिनय इसी प्रकार के असत्य हैं । वस्तुतः ये मनोरंजन की प्रवृत्ति से उत्पन्न होते हैं । आग्स्टाइन चार प्रकार के भ्रम या असत्य मानते हैं :

(1) जो भ्रम प्रकृति द्वारा उत्पन्न किया गया है,

(2) जो भ्रम मनुष्य द्वारा उत्पन्न किया गया है,

इसे पुनः दो भागों में बाँटा है :

(i) क्रियात्मक भ्रम,

(ii) मनोरजंनात्मक भ्रम ।

कलाओं को इन्होंने अंतिम-प्रकार के मनोरंजनात्मक भ्रम के अन्तर्गत रखा है । कलाकृतियाँ एक विशेष प्रकार का भ्रम उत्पन्न करती हैं । वे सत्य तो नहीं हैं किंतु इतनी प्रभावशाली हैं कि उन्हें हम वास्तविक ही समझते हैं, अतः चित्र तो सत्य है चाहे उसमें बना आदमी असत्य हो । इस उद्देश्य में जो कला सफल हो जाये वह सत्य है । इस प्रकार भ्रम तो एक साधन है ।

इस प्रकार उनका विचार था कि कला अपनी असत्यता के कारण ही सत्य होने का प्रयत्न करती है । एक आदमी का चित्र उसके संपूर्ण व्यक्तित्व का प्रदर्शन नहीं कर सकता । दृष्टांत रूप में, रामायण न तो पूर्ण राम–चरित्र हो सकती है तथा न ही राम का अभिनय करने वाला पूर्ण राम हो सकता है । इस तरह कलाकार जब तक असत्य की सृष्टि नहीं करता, तब तक वह अपने व्यापार में ईमानदार नहीं हो सकता । इस प्रकार कला सत्य प्राप्ति की ओर अग्रसर होती है । जिस रूप को वह प्राप्त नहीं कर सकी है उसे प्राप्त करने का प्रयास करती है । कला में निहित सत्य को इन्होंने इसी प्रकार समझाया है ।

सौंदर्य पर विचार करते हुए आग्स्टाइन ने पूर्व–प्रचलित रूपात्मक नियमों के आधार पर ही सौंदर्य की परिभाषा दी है जो सिसरो के विचार का अनुसरण करती है । मध्ययुगीन दार्शनिकों ने रूपाकार में ही सौंदर्य ढूँढ़ने का प्रयास किया है । इस समय सौंदर्य को सुन्दर परिमाण तथा पूर्ण समानता के रूप में परिभाषित किया । संत एक्विनास ने तीन दशाओं-पूर्णता, अनुपात और निर्मलता में सौंदर्य माना । मध्ययुगीन दार्शनिक जहाँ ये गुण पाते थे, वहीं अपना सौंदर्य ढूँढ़ते थे । वे ललितकलाओं से सौंदर्य का कोई अन्तर्भूत संबंध नहीं मानते थे । आग्स्टाइन ने कहा कि सुसंगति मानवीय प्रकृति को आनंद देती है । भ्रमात्मक वस्तुएँ सत्य नहीं हैं । इन वस्तुओं की स्वाधीन सत्ता उनकी दैवीय उत्पत्ति को प्रतिबिम्बित करती है । प्रत्येक वस्तु उस "एक" का, जो संपूर्ण ब्रह्माण्ड का निर्माता है, अस्तित्व दर्शा कर अनुकरण करती है । यह विश्व नश्वर और विभाजित है । उस "एक" से अद्वैत भाव रखकर यह अनेकता में एकता तक पहुँचने का प्रयास है और यही सुसंगति सौंदर्य है । आग्स्टाइन ने ज्यामितीय आकारों में सौंदर्य माना है । विषम त्रिभुज, समत्रिभुज, समचतुर्भुज एवं गोलाकार इनमें क्रमशः सुसंगति के आधार पर सौंदर्य की उन्नति होते दर्शायी है । गोलाकार में सर्वाधिक सौंदर्य है । वैसे आग्स्टाइन की सौंदर्य की परिभाषा में गहराई अवश्य है किंतु सौंदर्य को वे सामंजस्य, संतुलन और अनुपात की सीमा से बाहर नहीं

निकाल सके। समरूपता से अधिक महत्त्व उन्होंने रंगों को दिया। किसी भी उपादानमूलक वस्तु का सौंदर्य अंगों की आपसी सुसंगति और रंगों की एक निश्चित मधुरता में निहित होता है। दूसरे शब्दों में, रंगों की मधुरता एवं अंगों की आपसी सुसंगति एक साथ मिलकर सौंदर्य उत्पन्न करते हैं।

आग्स्टाइन ने सौंदर्य के साथ उसकी विरोधी कुरूपता को भी स्पष्ट करने का एक महत्त्वपूर्ण कार्य किया। अरस्तू ने कहा था कि कुरूपता का चित्रण कर देने से वह आनंदप्रद वस्तु हो जाती है। इनके अनुसार "कॉमेडी" में हास्य उत्पन्न करने के लिए कुरूपता उपयोगी है। प्लाटिनस सृष्टि एवं कलाओं में हेतुबद्धता को सुंदर तथा तद्वतिरेक को असुंदर कहते हैं। किंतु प्लूटार्क ने अरस्तू का विरोध करते हुए कहा कि इसके चित्रण में कलाकार की हस्त-लाघवता का पता चल सकता है। एक सूअर या कोढ़ी चित्रित होने से आनंदप्रद नहीं हो सकता, किंतु आग्स्टाइन ने कुरूपता को सौंदर्य के समकक्ष स्थान दिया। चित्र में प्रकाश और छाया का एक साथ बराबर महत्त्व है। यदि उसे उचित स्थान पर देखा जाये तब विश्व में सर्प, चीते, जहर आदि अपना औचित्य रखते हैं। इस तरह सामंजस्य और संतुलन का अर्थ अधिक स्पष्ट होता है। उनका कहना था कि कुरूपता को यदि उचित स्थान पर प्रस्तुत किया जाय तो उससे सौंदर्य आहत नहीं होता वरन् और अधिक बढ़ जाता है। इस तरह विरोध के कारण समरूपता अधिक सार्थक हो उठती है। पूर्ववर्ती दार्शनिकों ने कुरूपता की समस्या का स्पर्श मात्र दिया था। आग्स्टाइन ने इसकी स्पष्ट व्याख्या की। इन्होंने तीन बातें बताई :

(1) सब वस्तुओं को उनके संदर्भ में देखो। किसी भी वस्तु को उसके संपूर्ण संदर्भ में ही देखा जा सकता है, पृथक् रूप से निरीक्षण करके नहीं जाना जा सकता। उदाहरणार्थ, जब पाप को सजा दी जाती है तो वह न्याय के सौंदर्य का ही एक अंश हो जाता है क्योंकि यदि पाप ही नहीं होगा तो न्याय कैसे स्थापित हो सकता है, यदि न्याय नहीं होगा तो पाप नहीं हो सकता। इस प्रकार इन दोनों को इनके संपूर्ण संदर्भ में ही देखा जा सकता है। इसी प्रकार संपूर्ण ब्रह्माण्ड ही दोषपूर्ण है। किंतु उसे समग्रता में देखने पर वही कुरूपता सौंदर्य में बदल जाती है। मौज़ेइक का एक पत्थर देखकर सौंदर्यानुभूति होने के बजाय कलाकार की दोषपूर्ण कार्यक्षमता तथा कुरूपता का आभास होता है, किंतु यदि उस एक पत्थर का संपूर्ण पैटर्न में कार्य देखा जाय तो वह सौंदर्य की सृष्टि करता है।

(2) धैर्यपूर्वक साधन मात्र में अंगों की व्यवस्था के कौशल को खोजें जो प्रथम दृष्टिपात में वितृष्णा जगाने वाले प्रतीत होते हैं। आग्स्टाइन का कहना है कि ध्यान से निरीक्षण करने पर छोटे और निम्न श्रेणी के प्राणियों, उदाहरणार्थ, पिस्सू के शरीर में भी विलक्षण योजना दिखाई देती है। घृणित होने पर भी इनके अंगों की व्यवस्था के कौशल में आकर्षण होता है।

(3) विषमता में निहित सुसंगति के प्रकाशन को देखो। यह आग्स्टाइन का महत्त्वपूर्ण तर्क है कि विषमता में भी सुसंगति होती है। उदाहरणार्थ, भाषा की अर्थ विपरीतता में भी आनंद आता है- चिड़ियों की लड़ाई भी मन बहलाने वाली है, अतः वस्तुओं का सौंदर्य पृथकत्व एवं विभिन्नता का परिणाम है। मधुर संगीत की एक लय विविध स्वरों के आपसी मेल से और भी मधुर हो जाती है। इसी प्रकार एक श्रेष्ठ नाटक में नायकों के गुणों को दर्शाने हेतु मसखरों तथा अधम-चरित्रों की आवश्यकता होती है। यही बात प्लाटिनस पहले कह चुके थे कि "अधम चरित्रों को चले जाने दें तो नाटक की शक्ति चली जायेगी, वे उसके आवश्यक अंग

हैं ।" इस प्रकार आग्स्टाइन ने कुरूपता को दर्शन की नैसर्गिक आँख में महत्त्वपूर्ण अंग के रूप में स्थापित किया, वस्तुओं की प्रकृति में नहीं । कुरूपता सौंदर्य का न्यून अंश है ।

कुरूपता सापेक्ष रूप से सौंदर्य के साथ बनी रहे तो वह सौंदर्य को आहत नहीं करती- यह एक नया विचार था । आग्स्टाइन मात्र कुरूपता के अस्तित्व को अस्वीकार करते हैं । इनके अनुसार कुरूपता एक सापेक्षिक सत्य है । यदि कुरूप होगा ही नहीं तो सौंदर्य का मूल्यांकन ही नहीं हो सकता । इस प्रकार कुरूपता को उन्होंने एक तुलनात्मक शब्द माना है । जब रूप विकास की प्रक्रिया में कोई त्रुटि हो जाती है, परिणामतः रूप अनभीष्ट या अव्यवस्थित हो जाता है तो कुरूप का आविर्भाव होता है । जितनी मात्रा में सौंदर्य के गुण कम होते जाते हैं (लय, संतुलन, सामंजस्य व क्रम आदि), वैसे ही कुरूपता आती जाती है । इस प्रकार आग्स्टाइन का दर्शन फिर से कलाओं को महत्त्वपूर्ण स्थान देने का प्रयत्न करता हैं ।

टॉमस एक्विनास [Thomas Aeqvinas] (1225-1274 ई॰)

एक्विनास के सौंदर्यशास्त्रीय विचारों पर प्लेटो, अरस्तू, सिसरो तथा संत आग्स्टाइन का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है । एक्विनास सत्य एवं शिव का तादात्म्य मानते हैं क्योंकि दोनों का ही आधार-केन्द्र आकार है । तथापि दोनों में अन्तर भी है । शिव वही है जिसकी कामना सभी करते है । शिव का एक उद्देश्य या प्रयोजन होता है जो किसी वस्तु की ओर प्रेरित करता है । शिव हमारी इच्छा और प्रवृत्ति से सम्बद्ध है जिसकी अनुभूति आत्मा की तुष्टि में होती है । इन्होंनें आनंद को सुंदरता की कसौटी माना है । सुंदर वस्तु वही है जिसकी अवधारणा व अनुभूति कला और प्रेक्षक अथवा विषय तथा विषयी के मध्य समागम से होती है । एक्विनास ने सौंदर्य की तीन विशेषताओं का उल्लेख किया है :

(अ) **पूर्णता**-पूर्णता सौंदर्य की जननी है । जो वस्तुएँ कुरूप दिखाई देती हैं; उसका कारण अपूर्णता है ।

(ब) **अनुपात तथा सामंजस्य**-अनुपातहीनता तथा असामंजस्य भी वस्तु को कुरूप बना देते हैं ।

(स) **प्रांजलता अथवा स्पष्टता**-सौंदर्यपूर्ण वस्तुएँ एक आभापूर्ण वर्ण से युक्त होती हैं और इसी से उनकी स्पष्टता प्रकट होती है ।

एक्विनास सौंदर्य को मस्तिष्क के ज्ञानात्मक विभाग-दृष्टि एवं श्रवण से भी सम्बद्ध करते हैं और सौंदर्य-बोध के दो ही मार्ग श्रवणेन्द्रिय तथा दृष्टेन्द्रिय बताते हैं । सुन्दर वस्तुएँ वे ही होती हैं जो प्रत्यक्षीकरण की क्रिया से आनंदित करें । सौंदर्य तथा हमारी इन्द्रियाँ एक ही अनुपात से युक्त होती हैं तथा वस्तु और अनुपात के सामंजस्य के कारण ही वस्तु सुंदर लगती है । वस्तु और चेतना अथवा आत्मा के समीकरण से ज्ञान उत्पन्न होता है । ज्ञान के दो प्रबल माध्यम दृष्टेन्द्रिय व श्रवणेन्द्रिय हैं । अन्य इन्द्रियों से प्राप्त ज्ञान सत्य नहीं होता तथा उनसे सौंदर्य का बोध भी नहीं होता । वहो सौंदर्यानुभूति प्रमाणिक होती है जो प्रयोजनरहित हो । इस आधार पर वे वस्तुएँ ही सुंदर हैं जो ज्ञान-क्रिया के मध्य आनंदित करती हैं । इनके विचारों पर नैतिकता तथा धर्म का आग्रह सर्वत्र दृष्टिगत होता है । वे शिव को ही सर्वोच्च तत्त्व मानते हैं तथा सौंदर्य को उसी का प्रतीक बताते हैं ।

अध्याय 3

नव-शास्त्रीय युग : बुद्धिवादी धारा

टॉमस एक्विनास या मध्ययुग के पश्चात् 1300 ई० से 1600 ई० के मध्य पुनर्जागरण- काल का प्रारंभ एवं अंत हो जाता है। किंतु इस काल के विचारकों का उल्लेख इस पुस्तक में नहीं करने का सबसे बड़ा कारण यह है कि पुनर्जागरण काल में प्लेटो तथा अरस्तू के ही विचारों को महत्त्व दिया गया था, तथापि इस युग की कला में सरलता, सम्मान, भौतिक सौंदर्य की प्रशंसा तथा प्रकृति का निरीक्षण और अनुकृति थी। इस युग में कला की चतुर्दिक उन्नति हुई जिसमें शिल्पकला चित्रकला, साहित्य, विज्ञान, गणित, राजनीतिशास्त्र आदि में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए लियोनार्डो-द-विंसी जैसे वैज्ञानिक व चित्रकार तथा माइकेल ऐंजिलो जैसे महान् शिल्पकार व चित्रकार इसी युग में हुए जो विश्व की प्रतिभाओं में बेजोड़ थे। यह कला बिजेन्टाइन कला की कठोरता से बाहर निकल रही थी। धार्मिक विषयों को भी मानवीय दृष्टि से अंकित किया जाने लगा था। भाषा, दर्शन तथा प्राचीन साहित्य की रुचि का प्रभाव तत्कालीन कलाओं पर भी पड़ा था, किंतु इस युग की बौद्धिकता भी इसमें सम्मिलित थी। इस प्रकार इस आंदोलन में नवीन तथा प्राचीन दोनों तत्त्वों का समन्वय था। रोमन कला से पूर्व शास्त्रीय कला की प्रतिष्ठा को इस युग के कलाकार पुनः प्राप्त करना चाहते थे। इसी कारण इस युग में नवीन प्रयोगों द्वारा प्राचीन गरिमा को जगाने का प्रयास था, प्राचीन काल की मात्र अनुकृति करना नहीं। इससे यह अनुभव किया जाने लगा कि नये प्रयोग तभी सफल होंगे जबकि प्राचीन कला तथा उसके नियमों का पूर्वज्ञान हो। पूर्व गोथिक युग की तीन विशेषताओं को इस युग में विकसित किया गया-धर्म, शास्त्रीय आधार एवं प्रकृति का अध्ययन।

सान्द्रो बोत्तिसेली इस युग के प्रगतिशील तथा स्वाभाविक कलाकार थे जिन्होंने प्राचीन धार्मिक कथानकों को ऐन्द्रियता से संबद्ध किया। इसका श्रेष्ठ उदाहरण "प्राइमावेरा" नामक चित्र है जिसमें प्रेम की देवी वीनस बसन्त ऋतु के स्वागत में खड़ी है। ऊपर कामदेव, दाहिनी ओर तीन सुन्दरियाँ, देवताओं के संदेशवाहक के रूप में बुध खड़े हैं। एक ओर से स्त्री रूपी बसन्त ऋतु, फूलों की देवी फ्लोरा तथा पश्चिमी वायु के देवता जेफर के सहारे आगे बढ़ रही है। इसी प्रकार का चित्र "वीनस का जन्म" भी है। इन शारीरिक सौंदर्य से युक्त चित्रों के अतिरिक्त इन्होंने "पिएटा" के भी अनेक चित्र बनाये जो धार्मिक थे।

इसी युग में लियानार्डो-द-विन्सी, माइकेल ऐन्जिलो तथा राफेल जैसे महान् कलाकार भी हुए। इनमें अत्यधिक बौद्धिक क्षमता थी जो तत्कालीन बुद्धिवादी विचारकों का प्रभाव था।

लियोनार्डो को भौतिक जीवन से विशेष प्रेम था तथा वैज्ञानिक विश्लेषण के पश्चात् ही ये वस्तुओं के सौंदर्य का चित्रण करते थे। "ईसा का अंतिम भोजन" नामक चित्र इस युग का ऐसा प्रथम चित्र था जिसमें इन्होंने तनावपूर्ण स्थिति तथा ईसा के शिष्यों की मनोवैज्ञानिकता पर बल दिया। इनका अन्य विश्व प्रसिद्ध चित्र "मोनालिसा" है जिसकी मुस्कराहट ही रहस्यपूर्ण है। दूसरे कलाकार माइकेल ऐंजिलो थे जिन्होंने "पिऐटा" के निर्माण से एक नारी की गोद में लेटे हुए पूर्ण विकसित पुरुष के अंकन की समस्या को सुलझाया जिसमें समकालीन समस्त कलाकारों ने प्रयत्न किया था। इनके द्वारा चित्रित रोम के सिस्टाइन चैपल के चित्र भी नवीन चित्रण शैली तथा नव-अफलातूनी विचारधारा के कारण प्रसिद्ध हैं। इनके चित्रों व मूर्तियों द्वारा नग्न मानवाकृति ही चित्रकला का लक्ष्य मानी जाने लगी। राफेल ने मैडोन्ना के चित्र सर्वाधिक बनाये। इनके चित्रण में माधुर्य, मातृत्व, बाल-सुलभ सरल विश्वास और सौंदर्यपूर्ण कोमल स्निग्धता है।

इसी प्रकार टिशियाँ के चित्र "कुमारी का स्वर्गारोहण", "उर्बीनो की वीनस", "पवित्र तथा अपवित्र प्रेम", "पीटर ब्रूगेल के ऋतु संबधी चित्र", एलबर्ट ड्यूरर के उत्कीर्ण चित्र "सैनिक, मृत्यु और पिशाच", "सूनापन", एलग्रीको के चित्र "ईसा का वस्त्र उतारना", "ईसा का पुनर्जीवित होना" आदि भी नवीनता की ओर अग्रसर होते दृष्टिगत होते हैं। इन कलाकारों द्वारा आकृतियों की गढ़नशीलता, परिप्रेक्ष्य, संतुलन एवं वातावरण के संयमित संयोजन से ऊबकर नवीन प्रयोग होने लगे थे। इसी प्रवृत्ति से आगे चलकर बारोक तथा रोकोको शैलियों को जन्म मिला। इस शैली के प्रमुख चित्रकार पीटर पॉल रूबेन्स, वेलास्क्वेज, रेम्ब्रां आदि थे। इन शैलियों में संवेग, स्पर्शिता, भ्रम, आकर्षक रंग-योजना, नाटकीय छाया-प्रकाश, वर्तुलाकार रेखायें, पुनरावृत्ति तथा स्वतंत्रता की भावना का समावेश था। पुनरुत्थान काल में प्लेटो, अरस्तू के विचारों, प्राचीन यूनानी कला तथा नवीन प्रयोगों के समन्वय द्वारा पुनः यूनानी कला की गरिमा को प्राप्त करने का प्रयास किया गया तथा शनैः-शनैः यह परंपरा भी समाप्त होती गयी। पुनः बारोक तथा रोकोको शैलियों में अत्यधिक स्वतंत्रता आ गयी। इस प्रवृत्ति को 18वीं शताब्दी के मध्य में आदर्शवादी तथा रोमन कला के प्रति पुनः रुचि जागृत होने से नवशास्त्रीयतावाद के प्रवाह ने दबा दिया।

18वीं शताब्दी में बारोक एवं रोकोको कला-शैलियों का विरोध प्रारंभ हुआ। इस प्रवृत्ति का प्रारंभ फ्रांसिसी चित्रकार निकोलस पुंसिन, क्लांद लोरे तथा जॉर्ज दे-ला-तूर ने किया। विकसित होते हुए यह आन्दोलन समस्त यूरोप में फैल गया जिसे नव-शास्त्रीयतावाद नाम से अभिहित किया गया। इस नये आंदोलन में बारोक एवं रोकोको शैलियों का विरोध एवं प्राचीन यूनान तथा रोम की संस्कृति से सीधा संपर्क बनाने की इच्छा भी थी। इस युग में मध्यकालीन गोथिक तथा पुनरुत्थान कालीन इटली के शास्त्रीयतावादी कला-रूपों का बहिष्कार किया गया। यूनान तथा रोम के प्राचीन आचार्यों द्वारा कला के जो प्रथम सिद्धान्त स्थिर किये गये थे, यह आन्दोलन उन्हीं की ओर उन्मुख हुआ। इस आन्दोलन द्वारा यह सिद्ध करने की चेष्टा की गयी कि आधुनिक कला के विकास की पृष्ठभूमि में वर्तमान और सुदूर अतीत का समन्वय है। यह आन्दोलन सिद्धान्तवादी अधिक रहा और इसके प्रवर्त्तक अपने विचारों व कलाकृतियों में अपनी इच्छाओं को पूर्णरूपेण नहीं उतार सके। कभी-कभी इसके समकालीन रोमांसवादी आंदोलन से इसकी कृतियाँ घुलमिल जाती थीं। यह आन्दोलन अन्ततः रोमांसवादी आन्दोलन में विलीन भी हो गया। इस आंदोलन के प्रमुख

चित्रकार जाक दावि, आंग्र तथा आन्त्वाइन ग्रॉस थे। दावि का चित्र "होराथी की शपथ" इस शैली की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कृति है। इनके अन्य प्रसिद्ध चित्रों में "सुकरात की मृत्यु", "ब्रूट्स के पुत्रों के शवों का दहन", "गेंत की महिलायें" हैं। इस युग की विशेषताएँ स्पष्टता, समग्रता, संयम, आकृतियों की क्रिया तथा अभिव्यंजना की महानता थीं। रूप की मधुरता तथा सीमा रेखा की स्पष्टता को चित्रकला का आदर्श मान लिया गया। कलाकार तथा कला समीक्षक रोम की यात्रा करने लगे जिससे यूनानी कला व दर्शन का ज्ञान हो सके।

इस युग के कुछ विशिष्ट दार्शनिक लॉक, रेने देकार्त, स्पिनोजा, लाईबनीज, फ्रांसिस बेकन तथा पॉस्कल थे जिनमें यूनान की प्राचीन विचारधारा तथा पुनर्जागरण काल की वैज्ञानिक दृष्टि का बहुत प्रभाव था, तथापि इन दार्शनिकों ने सौंदर्यशास्त्र में कोई अलग से सिद्धान्त स्थापित नहीं किये तथा न ही सौंदर्य की समस्या को विशेष रूप से विवेचित किया। इन दार्शनिकों ने प्राचीन कला एवं विचारों के उत्थान के साथ ही संवेग, कल्पना, वैज्ञानिकता तथा विचार की स्पष्टता आदि पर विशेष ध्यान दिया जिसे नव-शास्त्रीयतावादी कला में भी देखा जा सकता है। यह आंदोलन प्लेटो, अरस्तू, होरेस, डिमाक्रिटस तथा पुनर्जागरणकालीन विचारों से प्रभावित था जिसके फलस्वरूप इसमें शास्त्रीय सिद्धान्तों का पुनरावर्तन, बुद्धिवादी दृष्टिकोण के साथ हुआ जिसमें स्पष्टता, सामंजस्य, अनुपात, तर्क-विवेक आदि को महत्व दिया गया।

इनके सौंदर्यमूलक विचारों ने साहित्यिक आलोचना को अधिक प्रभावित नहीं किया किंतु उनकी स्पष्ट चिन्तन प्रणाली से आलोचक अवश्य प्रभावित हुए। इससे दर्शन के क्षेत्र में तर्क तथा काल के क्षेत्र में संयम और नियम महत्त्वपूर्ण हो गये। तथापि "अरस्तू" के "काव्य-शास्त्र" को ही आलोचकों ने अपना व्याख्या-विषय बनाया। अपने सिद्धान्तों को स्थापित करने हेतु आलोचकों को प्लेटो, अरस्तू तथा होरेस की तर्क-पद्धति ही महत्त्वपूर्ण लगी, तथापि देकार्त के प्रभाव से साहित्यिक आलोचना में बुद्धिवादी प्रवृत्ति का विकास हुआ। इस युग की विशिष्ट कलाएँ काव्य, नाटक, चित्रकला तथा शिल्पकला थीं। कला के मूल तत्त्व संयम, नियम, अनुपात, सामंजस्य और शालीनता बताये गये। कार्नेली, रेसीन तथा बाइले इन नियमों के प्रमुख व्याख्याता तथा महान् चित्रकार भी थे। इस समय इटली में उत्खनन हो रहे थे जिनमें प्राचीन ग्रीक वास्तुकला व मूर्तिकला की रोमन अनुकृतियाँ प्रचुर मात्रा में प्राप्त हो रही थीं। फ्रांस की कला पर यूनानी कला का प्रभाव पड़ा और चित्रकला को एक नयी दिशा मिली। चित्रकला में यूनानी कला को आदर्श के रूप में सम्मुख रखकर नयी चित्रकला शैली को जन्म देने का कार्य प्रसिद्ध यूनानी चित्रकार जाक दाबि ने किया और यही शैली नवशास्त्रीयतावाद के नाम से प्रसिद्ध हुई। नव-शास्त्रीयतावाद में आदर्श मानव-शरीर-सौंदर्य की ग्रीक कल्पना को पुनर्जीवित किया गया। "सुकरात की मृत्यु" "हिरेशिआ का प्रण" इस युग की कला का प्रतिनिधित्व करते हैं। कला, दर्शन और साहित्य एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। नवशास्त्रीयतावादी सभी कलाओं पर इस युग के सौंदर्यशास्त्रियों के विचारों का प्रभाव स्पष्टतः देखा जा सकता है।

फ्रांसिस बेकन [Francis Bacon] (1561-1626 ई०)

बेकन सौंदर्य का उद्‌गम ज्यामितीय संतुलन से नहीं मानते। उनके अनुसार सौंदर्य एक अनुपात से युक्त होता है, तथापि सौंदर्य ही अनुपात है ऐसा भी हम नहीं कह सकते। यह अनुपात

एक विचित्रता से युक्त होता है जिसे चित्र पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं दे पाता अर्थात् सौंदर्य का एक अंश ऐसा है जिसका मानव द्वारा चित्रण करना असंभव है। बेकन के अनुसार सौंदर्य का यही सर्वोत्तम अंश है। "कोई भी भव्य सौंदर्य ऐसा नहीं है जो स्वयं में अनुपात की विचित्रता न रखता हो।" बेकन का यह विचार सर्वथा नया था।

बेकन ने मानव मस्तिष्क के तीन प्रमुख भाग विभाजित किये :

(अ) स्मृति

(ब) कल्पना

(स) तर्क या विवेक

इन तीनों विभागों का संबंध उनकी प्रकृति के अनुसार विभिन्न विषयों से है। इतिहास स्मृति का, कला कल्पना का तथा दर्शनशास्त्र तर्क या विवेक का विषय है।

बेकन ने समस्त कलाओं का संबंध कल्पना से स्थापित किया है। बेकन ने कला व काव्य को एक आध्यात्मिक प्रकृति की अनुकृत अभिव्यक्ति माना है और प्रशंसा की है। किंतु दूसरी ओर वे कवि व कलाकार के कल्पना-जगत् की कमियों व असंगतियों को देखते हुए कला को हेय भी मानने लगते हैं। इस रूप में बेकन ने दर्शन एवं विज्ञान के महत्त्व को स्वीकार किया है। बेकन का विचार था कि कल्पना द्वारा कला का वास्तविक उद्देश्य पूर्ण नहीं होता। कला मात्र कल्पना की इत बनकर रह जाती है जिसमें विवेक, उपयोगिता या नैतिकता का कोई महत्त्व नहीं रह जाता। इस दृष्टि से बेकन पर प्लेटो का प्रभाव दृष्टिगत होता है।

बेकन के अनुसार, "कल्पना वास्तविक कर्त्तव्य को पूर्ण नहीं कर सकती क्योंकि वह मानव मस्तिष्क की एक क्रीड़ा है।" कलाकार अपने प्रयुक्त माध्यम से खेलता है। उदाहरणार्थ, चित्रकार रंगों, आकारों, रेखाओं आदि को अपनी कल्पना द्वारा फलक पर बिखेरता है तथा कवि शब्दों से खेलकर एक नया संसार बनाता है। इस प्रकार इनके कला संबंधी विचारों में कला के क्रीड़ा-सिद्धान्त की पूर्व झलक मिलती है। कला और सौंदर्य दोनों दृष्टियों से बेकन ने सर्वथा नये विचार दिये जिनका तत्काल कोई अनुयायी नहीं था।

रेने देकार्त [Rene Descartes] (1596-1650 ई॰)

दार्शनिक देकार्त को योरोपीय दर्शन में बुद्धिवादी धारा का प्रवर्त्तक माना जाता है। इनकी दार्शनिक प्रणाली और तर्क-पद्धति की अपनी विशिष्टता है। यह समसामयिक दार्शनिक पद्धति के अस्पष्ट तथा उलझनपूर्ण विचारों के कारण असंतुष्ट हैं। इसके समाधान हेतु इन्होंने एक नयी दार्शनिक पद्धति का प्रारंभ किया जिसे गणित की पद्धति नाम दिया गया। उनका मानना था कि वे विचार स्पष्ट, विशिष्ट तथा प्रामाणिक हो सकते हैं जो गणित के समान स्वयं-सिद्ध और स्पष्ट हों। देकार्त ने कहा कि यदि विचारों में स्पष्टता और विशिष्टता नहीं है तो वे स्वीकार्य नहीं हैं तथा उनकी वास्तविकता पर संदेह किया जा सकता है। यदि विचार स्पष्ट एवं विशिष्ट हैं तो वे संदेहमुक्त तथा स्वतः सिद्ध-सत्य होंगे। उदाहरणार्थ, हम प्रत्येक वस्तु के अस्तित्व के संदर्भ में संदेह कर

सकते हैं तथापि स्वयं के अस्तित्व के बारे में संदेह नहीं कर सकते क्योंकि स्वयं पर संदेह करने वाले हम ही हैं और हमारी सत्ता अनिवार्यतः सिद्ध है। "मैं सोचता हूँ इसलिए मेरा अस्तित्व है" देकार्त के अनुसार यह विचार स्वतः सिद्ध-सत्य है। देकार्त ऐसे सत्य को ही स्वीकार करते थे जो गणित के समान प्रामाणिक एवं स्पष्ट हो। इनके सौंदर्य व कला-विषयक विचारों पर भी इस गणित-पद्धति का आग्रह दृष्टिगत होता है।

देकार्त ने सौंदर्य में अनुभूतियों को महत्त्व देकर सौंदर्यानुभूति को मनोविज्ञान से संबद्ध किया है। इन्होंने सौंदर्य का संबंध अनुकूलता से दर्शाया है क्योंकि कोई भी कला या काव्य हमारे मनोभावों के अनुकूल हो तभी हमें सौंदर्य की अनुभूति होती है। देकार्त के अनुसार, "प्रतिक्रिया के अनुरूप संवेदना या उत्तेजना की अनुभूति में ही सौंदर्य निहित है।" उदाहरणार्थ, मानव की कण्ठ-ध्वनि समस्त ध्वनियों से रुचिकर होती है क्योंकि उसमें हमारी चेतना तादात्म्य अधिक स्थापित करती है। इसी प्रकार संगीत के राग मानवीय आत्मा में निहित भावों को जगाते हैं। मंद स्वर कोमल व शांत अनुभूतियों को जगाता है। द्रुतगामी व क्षिप्रगति युक्त मात्राएँ प्रसन्नता अथवा क्रोध की अनुभूतियों को जागृत करती हैं। इस प्रकार संगीत जिन भाषा अनुभूतियों से युक्त होता है उन्हीं को मन में आकार देता है।

देकार्त कला या संगीत में नैतिक आग्रह भी नहीं भूलते हैं, लेकिन इन्होंने मध्यम मार्ग अपनाया है। ये प्लेटो के समान नैतिक-आग्रह के दबाव में नहीं आते। देकार्त के अनुसार, राग में सन्निहित वे संवेदनाएँ ही आनंद देती हैं जो न तो अधिक तीक्ष्ण हों, न ही अधिक मंद हों। यही तथ्य कला पर भी चरितार्थ होता है क्योंकि सभी कलाएँ हमारी संवेदनाओं को जगाती हैं। बिजली की कड़कड़ाहट या सूर्य की प्रचण्ड धूप अपनी अनुपातहीनता के कारण ही कष्टकारक हो उठती है और नाड़ी-तंत्र को इनसे पीड़ा भी होती है। इसी प्रकार यदि कला में कहीं भी अनुपातहीनता होगी, तो वह सौंदर्यानुभूति उत्पन्न करने की अपेक्षा पीड़ाप्रद बन जायेगी। देकार्त के अनुसार, वे मनोभाव व आवेग श्रेष्ठ होते हैं जो अस्वास्थ्य, भय और दबाव से मन को सुरक्षित रखते हैं।

देकार्त के अनुसार, सौंदर्यानुभूति संवेदनाओं से प्रारंभ होती है, संवेदनाएँ नाड़ी-तंत्रों को उत्तेजित करती हैं और यह उत्तेजना यदि एक निश्चित अनुपात में होती है तो पूर्णरूपेण लाभदायक और आनंदप्रद होती है। इस प्रकार यदि दुःखद व सुखद अनुभूतियाँ अनुपात में हों तो उन्हें प्रदर्शित करने में कोई क्षति नहीं है। देकार्त ने सौंदर्यानुभूति व कला में अनुपात पर विशेष बल दिया है। देकार्त की बुद्धिवादी प्रवृत्ति उनके विचारों पर सदैव हावी रही है।

हॉब्स [Hobs] (1588-1679 ई॰)

यद्यपि हॉब्स ने सौंदर्य के बारे में विवेचना कम की है तथापि रचनात्मक कल्पना का स्वरूप निर्धारित करके उन्होंने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। इसी कारण कुछ विचारक हॉब्स को सौंदर्यशास्त्र के क्षेत्र में अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं। हॉब्स ने मानसिक प्रक्रिया को महत्त्व देते हुए कहा कि जो लोग अधिक कहते हैं उनकी बातें अधिकांशतः निरर्थक होती हैं।

हॉब्स ने दो परम सत्ताएँ मानी हैं-पदार्थ तथा गति। पदार्थ बाहरी सत्ता है तथा गति आंतरिक सत्ता है क्योंकि वह संवेदना से उत्पन्न होती है। इन्हीं संवेदनाओं से मानसिक-बिम्ब अथवा

प्रत्ययों का निर्माण होता है जिनका निवास स्थान स्मृति है। पुराने प्रत्ययों में नयी संवेदनाएँ भी समाहित होती रहती हैं जिससे पुराने प्रत्ययों का नवीनीकरण होता रहता है। इस प्रक्रिया में पुराने प्रत्यय या विचार धुँधले होते जाते हैं, अशक्त व कमजोर होने के कारण उनमें उत्तेजना का तत्त्व कम हो जाता है। जब बाह्य पदार्थों से सामंजस्य होने पर उन्हें उत्तेजना मिलती है तो वे फिर सशक्त गति के साथ संवेदित हो जाते हैं। उदाहरणार्थ, हमने कोई भयंकर दुर्घटना देखी। धीरे-धीरे अन्य बाहरी वातावरण से हम उसे भुलाते गये, किंतु भविष्य में जब कभी हम अन्य ऐसी कोई घटना देखते हैं तो हमारे मानस-पटल पर वह पुरानी घटना भी छा जाती है। इसी प्रकार कोई अच्छा चित्र देखकर या संगीत सुनकर उसकी स्मृति धीरे-धीरे क्षीण होती जाती है और वह आनंदानुभूति भी कमजोर हो जाती है। किंतु पुनः कोई सुंदर वस्तु देखकर हमें आनंदानुभूति होती है तो वह चित्र या संगीत हमारी स्मृति में तीव्रता से संवेदित हो जाता है। जब यह गति निरंतर एक शृंखला में एक दिशा की ओर चलने लगती है तब कल्पना-प्रक्रिया प्रारंभ होती है जिससे किसी भी कला का सृजन होता है।

हॉब्स के अनुसार कल्पना मानसिक-बिम्बों को जन्म देती है। यह कल्पना मनोवेग एवं इच्छा से मुक्त होती है इसलिए सोद्देश्य भी होती है। उद्देश्ययुक्त होने के कारण कल्पना मस्तिष्क को निष्क्रिय नहीं रहने देती। सशक्त कल्पना के धनी व्यक्ति आकृतियों या बिम्बों को मन रूपी दर्पण में देख लेता है जिससे तादात्म्य या संबंध स्थापित करने की क्रिया सरल हो जाती है। कल्पना की इसी शक्ति से चमत्कारपूर्ण उपमाएँ, रूपक, बिम्ब या आकार उत्पन्न होते हैं जिनकी सहायता से कलाकार वस्तुओं को आनंदप्रद या अरुचिकर बनाने की शक्ति रखता है।

हॉब्स के अनुसार किसी भी कला में विवेक और कल्पना दोनों ही आवश्यक हैं, तथापि कल्पना का सशक्त होना अधिक आवश्यक है। कल्पना के बिना सृजन नहीं हो सकता। कलाकार की महानता उसकी कल्पना के कारण होती है तथा प्रेक्षक उस कल्पना के वैभव पर ही मुग्ध होते हैं। अनेक स्थानों पर हॉब्स ने कल्पना व कला को दर्शनशास्त्र से श्रेष्ठ बताया है। कलाकार के स्मृति-पटल या मस्तिष्क में संवेदनाओं की एक क्रमिक व्यवस्था होती है। कल्पना का स्पर्श पाते ही वे सभी मानसिक संवेद्य आकार पाने को उद्यत हो जाते हैं। हॉब्स के अनुसार, जब दर्शनशास्त्र अपने नीति-शास्त्र में अशक्त हो जाता है तब कल्पना ही व्यवस्था लाती है। कल्पना केवल उड़ान ही नहीं भरती वरन् चिन्तन-मनन तथा वर्गीकरण भी करती है। फिर भी हॉब्स कल्पना को सर्वोपरि मानते हुए भी शास्त्रीय-सिद्धान्त के प्रभाव में आकर "सद्बोध" को ही अधिक महत्त्व देते हैं। यहाँ भी नैतिकता का प्रभाव दृष्टिगत होता है।

हॉब्स सौंदर्य या कला का संबंध शिव से भी दिखाते हैं। उनके अनुसार मानव अपनी इच्छा के अनुरूप ही किसी वस्तु को "शिव" कहता है और किसी को "अशुभ"। यह विचार व्यक्तिगत है, लेकिन कोई भी वस्तु केवल "शिव" या केवल "अशिव" नहीं हो सकती। "शिव" और "अशिव" को परखने का कोई मापदण्ड भी नहीं है क्योंकि एक ही वस्तु किसी के लिए "शिव" है तो दूसरे के लिए "अशिव"। "शिव" के भी तीन भेद हो सकते हैं- प्रथम वह "शिव" जो मानव विश्वास में विद्यमान है। द्वितीय वह "शिव" जो प्रभाव में निहित हो अर्थात् जो वस्तु किसी वांछित उद्देश्य की पूर्ति में आनंददायक हो। तृतीय वह जो साधन में "शिव" हो, अर्थात् जिसे सबके लिए लाभप्रद कहा गया हो।

इस प्रकार हॉब्स ने कला में कल्पना को महत्त्व देकर कला में रचनात्मकता, सृजन या पुनर्निर्माण को महत्त्व देकर सौंदर्यशास्त्र में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया, किंतु वे सौंदर्य व कला में नैतिकता की आवश्यकता को भी विस्मृत नहीं कर सके ।

जी॰ डब्ल्यू॰ लाइबनीज [G.W. Leibnitz] (1646-1716 ई॰)

लाइबनीज की दार्शनिक-प्रणाली अत्यन्त सुसंगत, स्पष्ट और क्रमबद्ध है तथा उनके विचार स्पष्ट हैं । अपने विवेचन में इन्होंने भी गणित को महत्त्व दिया और माना कि प्रकृति की व्याख्या गणितीय पद्धति से अवश्य करनी चाहिये किंतु विश्व का नियम गणित पर आधारित न होकर तत्त्व-मीमांसा पर आधारित है । कला की गति या मनोभावों की गतियाँ अपने पूर्वानुभवों के साथ ही किसी उद्देश्य से भी युक्त होती हैं जिनके पीछे एक दैवी व्यवस्था होती है जिसका संबंध तत्त्व-मीमांसा से है । उदाहरणार्थ, यह विश्व का नियम है कि जन्म और मृत्यु का चक्र चलता ही रहेगा, किंतु इनके पीछे कारण तो एक दैवी शक्ति है जिसे हम ईश्वर कहते हैं । इस दैवी शक्ति की व्यवस्था देखकर हम तभी आनंदित हो सकते हैं जबकि हम उस शक्ति में लीन हो जायें । यह मुग्ध करने की चमत्कारिक शक्ति कला व कलाकार में भी होती है । लाइबनीज के अनुसार कला के संपर्क में आकर मानव पागलपन की सीमा तक जा सकता है, शांत हो सकता है, हँस सकता है, रो सकता है अर्थात् प्रत्येक अनुभूति का स्पर्श प्राप्त कर सकता है । इसका कारण यही है कि कलाकार की कला ईश्वर द्वारा सृजित विश्व के सामंजस्य की अनुकृति है अर्थात् कोई भी कलाकार पहले अपनी इन्द्रियों तथा आत्मा का सामंजस्य प्रकृति से करता है तथा उससे उत्पन्न सहजानुभूति ही कला का उद्‌गम स्रोत है । लाइबनीज के अनुसार चित्रकला व संगीत कला ईश्वर द्वारा निर्मित पूर्ण व्यवस्था के अंश हैं जिनमें मानवीय इन्द्रियों का सामंजस्य होता है । कला में कलाकार ईश्वरकृत व्यवस्था, अनुपात एवं सामंजस्य को ही अंश रूप में रूपायित करता है । संपूर्ण सौंदर्य उसी की रोशनी से निःसृत होता है ।

लाइबनीज ने अपनी सौंदर्य-मीमांसा में ज्ञान की चार श्रेणियाँ बताई हैं :

(अ) अस्पष्ट ज्ञान जो स्वप्नावस्था का द्योतक है जिसमें मानवीय संवेदनाएँ अस्पष्ट होती हैं ।

(ब) स्पष्ट किंतु उलझनयुक्त ज्ञान जिसमें हम किसी भी वस्तु का बोध तो करते हैं किन्तु वह बोध क्यों होता है यह नहीं बता सकते ।

(स) विशिष्ट ज्ञान जिसमें वैज्ञानिक व्याख्या या परिभाषा संभव होती है ।

(द) सहजानुभूतिमूलक ज्ञान जिसमें वस्तुओं का संपूर्ण गुण एक बार में ही ज्ञात हो जाता है ।

द्वितीय प्रकार का ज्ञान सौंदर्यमूलक ज्ञान है । यहाँ हमें वस्तुओं का ज्ञान तो होता है किन्तु वे एक-दूसरे से क्यों भिन्न हैं, क्यों सुन्दर लगती हैं या हमें अनुभूति क्यों होती है इन सबका कारण नहीं बता सकते । कलाकार का ज्ञान ऐसा ही है । यद्यपि वह उचित-अनुचित में भेद करता है तथापि अपनी इस रुचि का कारण कोई नहीं बता सकता । लाइबनीज का विचार है कि फिर भी

कला उसी वस्तु का चित्रण कर सकती है जो विवेकसंगत और परंपरानुसार अच्छी मानी गयी हो। यहाँ उनके विचारों में अन्तर है, एक तरफ तो वे सहजानुभूति को कला की उत्पत्ति का कारण बताते हैं और दूसरी तरफ कलाकार का ज्ञान विशिष्ट ज्ञान से दूर बताते हैं और कला में नैतिकता का आरोप करके उसे धर्म के प्रचार-प्रसार का माध्यम बना देते हैं। लाइबनीज के अनुसार कला का कर्त्तव्य केवल यही है कि वह सद्वृत्तियों का पाठ पढ़ाये, नैतिक उपदेशों को प्रस्तुत करे, लोगों में धर्म को लोकप्रिय बनाये।

फिर भी लाइबनीज ने सौंदर्य व कला को सहजानुभूति से सम्बद्ध करके सौंदर्यशास्त्र के विचारों को एक नवीन रूप दिया। इनके इस विचार में सौंदर्यशास्त्र के प्रथम जनक बाउमगार्टेन तथा कान्ट के विचारों का पूर्वाभास मिलता है।

इस युग के दार्शनिकों ने सौंदर्य को मूल समस्या के रूप में नहीं लिया। स्पिनोजा ने तो ईश्वर में विश्व व विश्व में ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करके अद्वैत सत्ता को ही सौंदर्य माना। उनका यह दर्शन सर्वेश्वरवादी है, तथापि समग्र रूप से इस युग में कला व सौंदर्य को रचनात्मकता, सामंजस्य, तादात्म्य, क्रीड़ा तथा सहजानुभूति को महत्त्व दिया गया। इन दार्शनिकों की रुचि कलात्मक न होकर दार्शनिक थी, इसी कारण ये प्लेटो, अरस्तू, प्लाटिनस आदि की तरह सौंदर्य की गहरी व्याख्या नहीं कर सके। फिर भी आगे आधुनिक सौंदर्यशास्त्रियों हेतु नवीन विचारों का बीजारोपण इन दार्शनिकों की विवेचनाओं में दृष्टिगत होता है।

□□□

अध्याय 4

आँग्ल (ब्रिटिश) अनुभववादी सौंदर्यशास्त्र

आंग्ल-दर्शन की विचार-पद्धति अनुभववादी रही है। अनुभववाद का तात्पर्य है कि समस्त ज्ञान का मूल अनुभव है। किसी भी प्रकार का ज्ञान अनुभव से स्वतंत्र नहीं है। वस्तुतः दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। जब हमें संवेदनाओं का अनुभव ही नहीं होगा तो ज्ञान कैसे हो सकता है तथा जब ज्ञान ही नहीं होगा तो हमें कोई अनुभूति या स्पन्दन नहीं होगा। किंतु बुद्धिवाद के अनुसार ज्ञान अनुभव से स्वतंत्र है। बुद्धिवादी विचारधारा के प्रवर्त्तक देकार्त का मानना था कि ज्ञान की शक्ति प्रत्यय हैं जिन्हें सहजात त प्रत्यय कहा जाता है जो जन्मजात मानव मन में विद्यमान रहते हैं। अमरता व ईश्वर ऐसे ही प्रत्यय हैं जिन्हें अनुभव से नहीं केवल ज्ञान से ही जाना जा सकता है। इस विचारधारा के विपरीत प्रथम अनुभववादी आंग्ल दार्शनिक लॉक ने कहा कि ये सहजात प्रत्यय भी अनुभव का ही परिणाम हैं। कोई भी व्यक्ति ऐसे जन्मजात विचारों से मुक्त नहीं होता। मानव मन "एक सफेद सपाट कागज" के समान होता है। जब इन्द्रियाँ वस्तुओं के संपर्क में आती हैं तो दोनों के सामंजस्य से संवेदना उत्पन्न होती है तथा "मन के सफेद सपाट कागज" पर ज्ञान के रूपाकार रूपायित हो जाते हैं। यदि ज्ञान जन्मजात होता तो बच्चे, मंदबुद्धि, पागल, जानवर आदि को भी ईश्वर, अमरता, नैतिक व्यवहार या सत्य का ज्ञान होना चाहिये, किंतु ऐसा नहीं है। शेफ्ट्सबरी, एडीसन, जॉर्ज बर्कले, फ्रान्सिस हचिसन, लॉर्ड केमस, विलियम होगार्थ, डेविड ह्यूम तथा एडमंड बर्क अनुभववादी आँग्ल सौंदर्यशास्त्र के प्रमुख विचारक थे जो अनुभववादी परंपरा से कभी मुक्त नहीं हो सके।

सौंदर्य के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण को प्रारंभ करने का श्रेय इग्लैंड के सौंदर्यशास्त्रियों को है। इन सौंदर्यशास्त्रियों के दो निकाय हैं :

(1) आइडियालिस्टिक अर्थात् कल्पना संबंधी,

(2) एनालिटिकल थ्योरिस्ट या फार्मेलिस्ट अर्थात् विश्लेषण संबंधी।

प्रथम निकाय के विचारक जिनमें शैफ्ट्सबरी, टॉमस रीड तथा रस्किन हैं; मानते हैं कि सौंदर्य विश्लेषण से परे है क्योंकि वह वस्तु का एक अखण्ड गुण है। किंतु द्वितीय निकाय के विचारकों जिनमें एडीसन, होगार्थ, बर्क, एल्सन हैं; का मानना है कि सौंदर्य का विश्लेषण हो सकता है क्योंकि वस्तु-विशेष के आकृति-विधान से उसका गहन संबंध होता है।

लॉक [Locke] (1632–1704 ई०)

लॉक प्रथम अनुभववादी दार्शनिक थे। इनके अनुसार मस्तिष्क में विचारों के आने के स्रोत बाह्य तथा आन्तरिक दोनों हैं। बाह्य इन्द्रियों से वस्तुओं के सामान्य गुण-धर्म का ज्ञान होता है। यह ज्ञान अपनी स्मृति छोड़ जाता है जिस पर चिन्तन करने से कल्पना में नवीनता का प्रादुर्भाव होता है और सामान्य विचार निःसृत होते हैं। इसी कारण मस्तिष्क में सामान्य की स्थिति स्वाभाविक नहीं वरन् कल्पनात्मक है। इन बाह्य इन्द्रियों से रंग, आस्वाद, स्थान, विस्तार, गति आदि का ज्ञान होता है। दूसरा स्रोत आन्तरिक है। इस आन्तरिक इन्द्रिय आत्मा से सौन्दर्य की अनुभूति होती है और इसे हम आस्वाद के नाम से जानते हैं। जब यही कलात्मक सौंदर्य का सृजन करती है तो उसे प्रतिभा कहा जाता है। इस अन्तरेन्द्रिय से अनुभूति, अवधारणा, तुलना आदि को ग्रहण किया जाता है। लेकिन सुख, दुःख आदि सामान्य भाव हैं जिनका अनुभव हम दोनों इन्द्रियों से ग्रहण करते हैं।

लॉक के अनुसार सौंदर्य विमिश्र भाव है जिसका हमारे मस्तिष्क में कोई आधार नहीं है। यह आन्तरिक तथा बाह्य दोनों इन्द्रियों से ग्रहण किया जाता है। कलाकार की कल्पना वस्तुओं को मिथ्या रंग, आभास, सादृश्य आदि देकर उनकी वास्तविक स्थितियों को छिपा देती है और दर्शक भ्रमित होकर सत्य से दूर हो जाता है। लेकिन मानव-स्वभाव इस सर्जनात्मक कल्पना की प्रस्तुति से भ्रमित होना पसन्द करता है क्योंकि यह भ्रम सुखद और आनंदप्रद है। इन्होंने नैतिक सुधार तथा ज्ञानात्मक सूचना को कला का लक्ष्य नहीं माना, वरन् आनंद को ही कला का लक्ष्य स्वीकार किया। भारतीय आचार्यों में पण्डितराज जगन्नाथ ने भी काव्यानंद में एक प्रकार की भ्रमात्मक भावना की कल्पना की है।

जॉर्ज बर्कले तथा लॉर्ड केमस भी लॉक की परंपरा के दार्शनिक थे। जॉर्ज बर्कले एक पादरी थे और इसी कारण उन्होंने पदार्थ की सत्ता को अस्वीकार करके आत्मा और ईश्वर को परम सत्य के रूप में देखा। सौंदर्य तथा शिव को भी इन्होंने इसी परम सत्य अर्थात् ईश्वर से संबंधित माना। इन्होंने सौंदर्य में सामंजस्य, समानुरूपता तथा अनुपात के गुणों को अनुभूति की वस्तु माना क्योंकि वस्तुएँ अपने इन्हीं गुणों के कारण सुन्दर लगती हैं। इन्होंने किसी वस्तु के सुन्दर लगने का दूसरा कारण उसकी पूर्णता बताया और इस पूर्णता का निष्कर्ष किसी उद्देश्य की पूर्ति है। जब तक वस्तु अपने उद्देश्य को पूर्ण नहीं करती तब तक वह सुन्दर नहीं कही जा सकती। इसी कारण सौंदर्य इन्द्रियों के साथ ही विवेक के लिए भी आकर्षण का केन्द्र है। इनके अनुसार इन्द्रियाँ मात्र माध्यम हैं, वास्तव में सौंदर्यानुभूति विवेक से होती है। इस प्रकार इन्हांने सौंदर्य की उत्पत्ति ऐन्द्रिय अनुभव से बताकर, बौद्धिक रूप देते हुए नैतिक आदर्श से संबंधित किया है। लॉर्ड केमस ने भी सौंदर्य के दो प्रकार बताये-आन्तरिक सौंदर्य तथा सापेक्ष सौंदर्य। आन्तरिक सौंदर्य केवल ऐन्द्रिय-संवेदना से उत्पन्न होता है। उदाहरणार्थ, प्रकृति, तेज बहती नदी या कलाकृति का सौंदर्य देखने के लिए दृष्टि के अतिरिक्त अन्य क्रिया की आवश्यकता नहीं पड़ती। इसमें उपयोगिता व नैतिकता नहीं होती जबकि सापेक्ष सौंदर्य हेतु अन्य मानसिक क्रियाओं की आवश्यकता होती है। जब हम किसी शस्त्र या इंजन या अन्य किसी मशीन को देखते हैं तब हमें दृष्टि के साथ ही उसके प्रयोग, उपयोग तथा लक्ष्य क़ी जानकारी भी लेनी होती है। लॉर्ड केमस सौंदर्यानुभूति को व्यक्तिगत अनुभूति ही

कहते हैं क्योंकि सौंदर्य-दृष्टा पर निर्भर करता है।

विलियम होगार्थ [W. Hogarth]

विलियम होगार्थ सौंदर्यशास्त्री होने के साथ ही ऑग्ल कला परंपराओं के प्रथम महान् चित्रकार भी थे। इन्हें प्रथम महान् राष्ट्रीय आंग्ल कलाकार भी कहा गया है। प्रारंभ में इन्होंने मेले, तमाशे, मुर्गों की लड़ाई, चुनावी झगड़ों तथा लोकनृत्य के चित्र बनाये तथा बाद में व्यक्ति-चित्रों की ओर अग्रसर हो गये। इन्होंने प्रायः अपने समान या निम्न वर्गों के व्यक्तियों, संबंधियों, अभिनेताओं, अभिनेत्रियों तथा नौकरों का चित्रण किया। इन्होंने कुछ उच्चवर्ग के भी व्यक्तिचित्र बनाये जिनसे उनका चरित्र भली-भांति प्रकट होता था। इनकी चरित्र-चित्रण संबंधी दृष्टि विविध तथा सूक्ष्म थी जिसका श्रेष्ठ उदाहरण उनके द्वारा अंकित रेखांकन चित्र 'बौनी लड़की' है। ये पहले चित्रकार थे जिन्होंने स्वयं नवीन कथाओं की कल्पना की ओर उनके आधार पर चित्रण किया। यह नैतिकता को महत्त्व देते थे जिसके फलस्वरूप इन्होंने अपने युग की मूर्खताओं का चित्रण करने के साथ-साथ बुरे कार्यों से होने वाले बुरे परिणामों तथा अच्छे कार्यों से होने वाले अच्छे परिणामों को भी चित्रित किया। इस प्रकार का श्रेष्ठ चित्र 'मैरिज ए लामोड' चित्र-कथा है जिसमें दुःखद अंत की करुण कहानी है।

सौंदर्य-सिद्धांत पर भी इन्होंने अपने विचार प्रस्तुत किये जो 1753 ई॰ में 'द ऐनालिसिस ऑफ ब्यूटी' नाम से प्रकाशित हुए। इनके अनुसार सौंदर्य की वास्तविक रेखा टेढ़ी या वर्तुल रेखा है। इन रेखाओं में भिन्नता के साथ एकता भी है। वस्तुतः यह वर्तुल रेखा अनेकता में एकता की प्रतीक है। समस्त आकृतियाँ इसी रेखा से बनी हैं। इस रेखा की अनेकता में एकता का प्रतिनिधित्व करने की क्षमता के साथ ही भिन्नता का भी अभास होता है जो इसकी विशेषताएँ हैं तथा इनसे सौंदर्य उत्पन्न होता है। इनके अनुसार 'सौंदर्य' वस्तु-विशेष के अंगों के सन्धिबन्ध, प्रयुक्तियों की रंजकता तथा अनुक्रम में विद्यमान रहता है।

शैफ्ट्सबरी [Shaftsbury] (1671-1713 ई॰)

आंग्ल अनुभववादी सौंदर्यशास्त्र के वास्तविक संस्थापक शैफ्ट्सबरी थे। शैफ्ट्सबरी के अनुसार सौंदर्य और परम विभु एक ही हैं अर्थात् सौंदर्य दैवी शक्ति की अभिव्यक्ति है। इन्होंने एक छठी इन्द्रिय की कल्पना की, जिसे आन्तरिक इन्द्रिय भी कहते हैं। इससे सौंदर्यानुभूति होती है। यह छठी इन्द्रिय हमारी निश्चित रुचि एवं नैतिक चेतना का रूप है जो सौंदर्य और शिव को अपरोक्ष रूप से अचानक पहचान लेती है। इस प्रकार यह छठी इन्द्रिय मानव का अन्तर्मन ही है। यह अन्तर्मन दृष्टि व श्रवण से शीघ्र तादात्म्य स्थापित करता है जो सौंदर्यानुभूति की प्रमुख इन्द्रियाँ हैं।

शैफ्ट्सबरी सौंदर्य को दैवी-शक्ति की अभिव्यक्ति मानते हुए भी उससे पदार्थ की भिन्नता दर्शाते हैं। उनके अनुसार जड़ पदार्थ का रचयेता दैवी-शक्ति या ईश्वर नहीं है इसलिए वह कुरूप व अशुभ है। किंतु ये कुरूपता को विवेचित करने में दुविधाग्रस्त दिखाई देते हैं और उसकी व्याख्या करने में असफल रहते हैं।

शैफ्ट्सबरी के अनुसार कला ईश्वरकृत जगत के सामंजस्य का प्रतिबिम्ब है इसलिए वह सुंदर है। उनके अनुसार कलात्मक सौंदर्य वही है जो ईश्वर की अनुपातयुक्त, सामंजस्ययुक्त तथा

एकतायुक्त प्रकृति की अनुकृति प्रस्तुत करे। प्रकृति को गहन दृष्टि से देखने पर उसके पीछे छिपे नैतिक एवं दैवी कारण का बोध होता है। इसलिए प्रत्येक कलाकार को प्रकृति को ही अपनी कला हेतु आदर्श मानना चाहिये, तभी वह सच्चा कलाकार सिद्ध होगा। आन्तरिक तत्त्व अर्थात् छठी इन्द्रिय, नैतिकता और सद्गुण योग्य कलाकार के प्रमुख गुण हैं। इस प्रकार कला और सद्गुण में परस्पर गहन संबंध है।

प्रत्येक कलाकार को उस महान् कला के रचयेता ईश्वर की विशेषताओं का गहन अध्ययन करना चाहिये जिसमें प्रकृति या विश्व को महान् चित्रकला के रूप में चित्रित किया है। कलाकार को प्रचलित रुचि को त्यागकर नवीन दृष्टि से भी कला रचना करनी चाहिये। शैफ्ट्सबरी के अनुसार सुन्दर व कुरूप का निर्णय दृष्टि और श्रवण को अभ्यस्त इन्द्रियाँ ही कर सकती हैं।

शैफ्ट्सबरी सौंदर्य की परिभाषा देते हुए ईसाई धर्म के प्रभाव से मुक्त नहीं हो सकते हैं, इसी कारण इनके विवेचन में प्लेटो तथा प्लाटिनस के विचार ध्वनित होते हैं। सौंदर्य अनुभूति साधारण स्तर से प्रारंभ होती हुई पहले कला तथा प्रकृति की वस्तु से सौंदर्य का अनुभव करती है तत्पश्चात् इन जड़ रूपाकारों के अतिरिक्त बौद्धिक वस्तुओं में जिनमें क्रिया-प्रतिक्रिया का प्रदर्शन होता है, सौंदर्य की झलक मिलती है। यहाँ दोहरा सौंदर्य दृष्टिगत होता है जिसमें रूप एवं चेतना दोनों का सामंजस्य होता है अर्थात् कोई भी चित्र या काव्य द्वारा साधारण प्रेक्षक आनंदित होता है किंतु कुछ प्रेक्षक तर्क-वितर्क तथा उस कला को प्रस्तुत करने वाले उपकरणों एवं भावों का विचार करके उस चित्रित रूप तथा अपनी छठी इन्द्रिय अर्थात् अन्तर्मन के सामंजस्य से सौंदर्यानुभूति करते हैं। यह स्वयं मानव का रूप है जिसकी बुद्धि समस्त कलाओं को जन्म देती है, किंतु इससे भी ऊपर न्याय, ईमानदारी, नैतिक-आदर्शों तथा उपयोगिता में सर्वोत्तम सौंदर्य प्रतिबिम्बित होता है। यहीं आकर सौंदर्य तथा परम विभु एक हो जाते हैं और सौंदर्य दैवी-शक्ति की अभिव्यक्ति बन जाता है। यही शैफ्ट्सबरी का संक्षिप्त सौंदर्यमूलक विचार है जिसमें छठी इन्द्रिय की कल्पना की नवीनता के साथ प्राचीन विचारकों प्लेटो तथा प्लाटिनस की स्पष्ट झलक है।

फ्रांसिस हचिसन शैफ्ट्सबरी के कुछ विचारों से सहमत थे। इन्होंने सौंदर्यानुभूति को ऐन्द्रिय अनुभूति कहा है। इस अनुभूति में बौद्धिक तत्त्व, सिद्धान्तों का चिन्तन-मनन आदि का अस्तित्व नहीं रहता और सौंदर्यानुभूति के समय किसी प्रकार की इच्छा का भी उदय नहीं होता। इच्छा के उदय से आत्म-रति के कारण किसी न किसी प्रकार के लाभ की भावना रहती है किन्तु सौंदर्यानुभूति पूर्णतः निःस्पृह होती है।

एडीसन [Addison] (1672-1719 ई॰)

एडीसन ने वास्तविक अनुभवों पर अपना सौंदर्य-विषयक सिद्धान्त स्थापित किया है। इन्होंने अपने निबंध 'ऑन द प्लेजर्स ऑफ द इमेजिनेशन' में कल्पना के कलागत मूल्य की व्याख्या करके कल्पना का संबंध बिम्ब विधान तथा आनंदानुभूति से जोड़ा। इन्होंने तर्क और स्मृति की तुलना में कल्पना को सर्वोपरि मानते हुए रचनात्मक शक्ति की दृष्टि से कल्पना को सर्वाधिक समृद्ध सिद्ध किया। एडीसन के अनुसार हमारी इन्द्रियों में सर्वाधिक आनंदपूर्ण एवं पूर्ण इन्द्रिय दृष्टि है, इसलिए कल्पना प्रारंभिक आनंद दृष्टि से प्रारंभ होती है। द्वितीय आनंद अनुपस्थित वस्तु

की स्मृति से मिलता है। यह आध्यात्मिक आनंद है जिसकी उत्पत्ति कलाओं से होती है। कला प्रकृति से जितना सादृश्य रखती है हम उसमें उतना ही आनंद लेते हैं। विद्रूप वस्तुओं के चित्रण में भी हमें आनंद मिलता है। यह आनंद चित्र के सादृश्य के कारण ही मिलता है।

एडीसन के अनुसार तीन प्रकार की वस्तुएँ आनंदप्रद होती हैं-विशालाकृति की वस्तु, नवीन वस्तु एवं सजातीय वस्तु। विशाल आकृति में रेगिस्तान, पर्वतमालाएँ, सीमाहीन समुद्र आदि, नयी वस्तुओं में उत्तेजनापूर्ण एवं प्रकृति की अधूरी वस्तुएँ जैसे राक्षस तथा सजातीय वस्तुओं में मानव, रंगों के भेद, अनुपात आदि आते हैं। एडीसन कला का आनंद सादृश्य को मानते हुए भी सौंदर्यानुभूति की वैयक्तिकता को भी स्वीकार करते हैं। एक के लिए जो सुंदर है दूसरे के लिए वह कुरूप भी हो सकता है, इसीलिए सौंदर्य बाह्य संबंधों की ही नहीं वरन् अन्तर्मन की अनुभूति है। जिस कलाकृति द्वारा संवेगों को समुचित रूप से उत्तेजित करने का प्रयत्न किया जाये वह अधिक रमणीय तथा आनंदप्रद है। यह अनुभूति भ्रमात्मक होती है, किंतु प्रेक्षक कलात्मक प्रस्तुति में इतना तन्मय हो जाता है कि उसे यह विचार करने का अवसर ही नहीं मिलता कि वह प्रस्तुति मिथ्या है। इस कल्पनाजन्य आनंद की अवस्था में आत्म-विस्मृति आ जाती है तथा प्रेक्षक काल्पनिक जगत में विचरण करने लगता है। उनके अनुसार हम महान् वस्तुओं का अनुभव करना चाहते हैं, हम परिवर्तन पंसद करते हैं, हम अपने आत्मीयों को पंसद करते हैं और हम वस्तुओं की तुलना करना पंसद करते हैं। हम इन वस्तुओं को इसलिए चाहते हैं क्योंकि ईश्वर की यही इच्छा है और ईश्वर की इच्छा ही हमें उसके द्वारा निर्मित वस्तुओं की प्रशंसा करने के लिए प्रेरित करती है। एडीसन प्रकृति को कला से उच्चतर मानते हैं क्योंकि वह ईश्वर की कृति है, दूसरे वह अधिक जीवंत है तीसरे वह कल्पना को अधिक विस्तार देती है। जो वस्तु कल्पना को जितना विस्तार देती है वह उतनी ही सुंदर होती है।

डेविड ह्यूम [David Hume] (1711-1776 ई॰)

डेविड ह्यूम ने अपने अनुभववादी सिद्धान्त के कारण सौंदर्यशास्त्र को एक नयी दिशा दी। इन्होंने सौंदर्य, रुचि तथा विवेक की स्पष्ट व्याख्या की जो आगे आने वाली पीढ़ी हेतु प्रेरक रही।

ह्यूम के अनुसार सौंदर्य एक व्यवस्था या आकार-रचना में निहित है। हमारी प्राकृतिक रचना एवं सामाजिक रीतियों के कारण ऐसी व्यवस्था हमें आनंदप्रद लगती है तथा हमारी आत्मा को संतुष्ट करती है। सौंदर्य आनंदप्रद होता है और कुरूपता कष्टकारक होती है। आनंद और पीड़ा, सौंदर्य और कुरूपता की मूल सत्ता के विधायक हैं। ह्यूम के अनुसार सौंदर्य इन्द्रियानुभूति की वस्तु है। ये सौंदर्य की दैवी उत्पत्ति को अस्वीकार करते हैं। इनके अनुसार कलाकार की कल्पना स्वर्ग ही नहीं वरन् इस पृथ्वी की देन है। कला को समझने के लिए मानवीय प्रकृति से परिचित होना आवश्यक है। यह केवल दृष्टि व श्रवण को ही सौंदर्यानुभूति का साधन नहीं मानते। कला की उत्पत्ति मानसिक कारणों से होती है। जिस किसी भी इन्द्रिय से रुचिकर और मनोनुकूल संवेदना उत्पन्न होती है, वही सौंदर्यानुभूति है। सौंदर्य और मूल्य रुचिकर मनोभावों में निहित होते हैं। इन्द्रियाँ निष्क्रिय नालियाँ हैं जहाँ से सौंदर्य आत्मा तक पहुँचता है। इस सौंदर्यमूलक रुचि का निर्माण प्रवृत्तियाँ करती हैं। ह्यूम के अनुसार जब हम किसी भी कलाकृति को सुंदर कहते हैं तो

इसमें बुद्धि नहीं वरन् मूल प्रवृत्ति तथा संवेग ही सहायक होते हैं। हमारी पशु-प्रवृत्ति ही हमें सौंदर्य की वास्तविक अनुभूति कराती है।

विवेक तथा रुचि भी भिन्न वस्तुएँ हैं। विवेक सत्य-असत्य का ज्ञान कराता है तथा रुचि सौंदर्य की भावना और कुरूपता का बोध कराती है। विवेक विरक्त होता है जिससे सुख-दुःख की अनुभूति नहीं होती। रुचि पीड़ा व आनंद की अनुभूति कराती है इसलिए दुःख-सुख की स्थिति उत्पन्न होती है। उदाहरणार्थ, एक ही कलाकृति का अध्ययन वैज्ञानिक तथा कला-प्रेमी करें तो दोनों की रुचियों में महान् अन्तर होगा। वैज्ञानिक भावनाओं को समझते हुए भी तथ्यों को खोजता है जबकि कला-प्रेमी कलाकृति के सौंदर्य के साथ तादात्म्य स्थापित करता है। एक कला के सौंदर्य से वंचित रह जाता है तथा दूसरा कला द्वारा सौंदर्यानुभूति कर आनंद प्राप्त करता है।

एडमंड बर्क [Berke] (1729-1797 ई०)

एडमंड बर्क ने सौंदर्य को संवेग और ऐन्द्रिय-संवेदनाओं से संबंधित करके भौतिक स्तर पर स्थापित किया है। इनके अनुसार सौंदर्य की इच्छा स्वयं में स्वतंत्र है, विवेक और बुद्धि से उसका कोई संबंध नहीं है। सौंदर्य से तात्पर्य उन गुणों से है जिनके कारण मन में प्रेम उत्पन्न होता है। सौंदर्य से उत्पन्न आवेग, जो प्रेम है वह इच्छा से भिन्न होता है। यद्यपि इच्छा भी कभी-कभी सक्रिय हो जाती है। बर्क ने अनुपात व सामंजस्य को सौंदर्य की अनिवार्यता स्वीकार नहीं किया है। अनुपात की कमी से सौंदर्य को हानि पहुँच सकती है, किंतु अनुपात एवं सामंजस्य की उपस्थिति से सौंदर्य को प्रस्तुत किया ही जा सकता है यह आवश्यक नहीं है।

बर्क ने सुख, दुःख तथा उदासीनता को भी सामान्य भाव माना है जिन्हें अब तक संवेग माना जाता था। संवेगों को इन्होंने दो भागों में विभाजित किया है :

(अ) आत्म-संरक्षक-संत्रास तथा आश्चर्य,

(ब) सामाजिक प्रवृत्तिमूलक-कुतूहल, सहानुभूति, अनुकृति, महत्त्वाकांक्षा, वेदना, प्रेम आदि।

सौंदर्य सामाजिक गुण है और सुंदर वस्तु कैसी भी हो प्रेम का विषय होती है। सुन्दर मानव के साथ पशु और वनस्पति भी अपने सौंदर्य से हमें प्रभावित करते हैं। इनके अनुसार सौंदर्य तुलनात्मक रूप से लघु, कोमल, बहुरंगी, एवं सामंजस्यपूर्ण होता है। सौंदर्य-प्रेम की संवेदना उत्पन्न करता है, जैसे बर्फ और आग, ठंडक तथा उष्णता की संवेदना उत्पन्न करते हैं, इसके लिए इच्छा तथा विवेक की आवश्यकता नहीं होती। यह अनुभूति पानी में डूबने जैसी, बर्फ के पिघलने जैसी या विश्रान्ति की अनुभूति होती है।

बर्क ने उदात्त की व्याख्या भी की है। सुंदर वस्तु साकार, रूपयुक्त तथा लघु होती है और उदात्त विशाल, निराकार तथा रूपरहित होता है। इनके अनुसार शक्ति की प्रबलता आकार की विशालता तथा अस्पष्टता के कारण ही कोई वस्तु उदात्त होती है। अनंत और असीम की भावनाएँ उदात्त होती हैं। जब मन तथा उदात्त आपस में टकराते हैं तो मन की गति अवरुद्ध हो जाती है। उदाहरणार्थ, पहाड़, समुद्र, आँधी, तूफान के समय मन आतंकित हो जाता है तथा सिकुड़ जाता है जिससे सौंदर्य उत्पन्न नहीं होता। जबकि असीमता की भावना भय मिश्रित आनंद की अनुभूति जगाती है जो उदात्त की वास्तविक अनुभूति है।

बर्क ने सौंदर्यानुभूति को सामाजिक प्रवृत्ति माना है । इनकी दृष्टि में सौंदर्य कल्पना तथा अनुभूति का विषय है । प्रेक्षक वही भाव अनुभूत करता है जो कलाकार ने कलाकृति के माध्यम से व्यक्त किया है तथा इससे प्रेक्षक व कलाकार दोनों को ही आनंदानुभूति होती है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इन अनुभववादी सौंदर्यशास्त्रियों के विचारों के कारण यूरोप की कला में दृश्य-चित्रण का पृथक् विकास हुआ जो स्वाभाविक भी था । विषय का बंधन इन चित्रकारों को नहीं बांध सका । जल रंगों के माध्यम से आंग्ल दृश्य-चित्रकार प्रकाश एवं वातावरण का नियंत्रण सफलता से करते थे । आँग्ल परंपरा में दृश्य-चित्रण का विशेष महत्त्व है । प्रकृति के प्रति इन कलाकारों का रोमांसवादी भाव रहा है जिसका स्वरूप बिखरा हुआ, विश्रामदायक, पलायनवादी और उन्मुक्त है । इन्होंने अपनी रागात्मकता को प्रकृति से तद्रूप करके स्निग्ध गरिमा से प्रस्तुत किया । इसके पीछे युग के सौंदर्यशास्त्रीय विचारों का भी प्रभाव है । क्लांद लोरें तथा पुसिन के अतिरिक्त आँग्ल दृश्य चित्रकार टर्नर, डेविड कॉक्स, कांस्टेबिल, विलियम ब्लेक, डी॰जी॰ रोजटी प्रमुख थे ।

टर्नर ने शास्त्रीय रुचि से समुद्री-दृश्य, नदियाँ, पर्वत, सुंदर भवन, चमकती हुई धूप और गम्भीर विशाल मेघों से आच्छादित आकाश को बखूबी चित्रित किया । उनका मुख्य उद्देश्य प्रकृति की विशालता को चित्रित करके दर्शकों को आश्चर्य-विभोर करना था । इनके चित्र "कुहरे में से उगता सूर्य" में आकाश की भव्यता के दर्शन होते हैं । यही उदात्त सौंदर्य है जिसे बर्क ने भी श्रेष्ठ माना है । 1840 ई॰ में रस्किन के अनुसार टर्नर में लगन, उदारता एवं दृढ़ता आदि गुण थे तथा यह विलियम वर्ड्सवर्थ नामक कवि के समकक्ष थे । इन्हें प्रभाववाद तथा अभिव्यंजनावाद के प्रेरक भी माना जा सकता है ।

डेविड कॉक्स ने तेज हवा, आंधी या तूफान के दृश्यों को चित्रित किया । यूरोप के सागर तट, ब्रूसेल्स तथा एण्टवर्प के बाजार, पेरिस के भीड़भरे पुल तथा इंग्लैण्ड के पहाड़ी ग्रामों का विशाल भव्यता से चित्रण किया । जॉन कांस्टेबिल ने प्रकृति को भी महत्त्व दिया । इनका प्रकृति-चित्रण पौराणिक, ऐतिहासिक अथवा प्रतीकात्मक न होकर सरल तथा आत्मीय है । इनकी दृष्टि में कोई वस्तु कुरूप नहीं है । ये एक ही दृश्य को अनेक बार चित्रित करके प्रकृति की विभिन्न शक्तियों का साक्षात्कार करना चाहते थे । इनके चित्रों में घर के अंधकार से लेकर जंगल का खुला प्रकाश, लहलहाते खेत, झुके बादल, फटा-फटा आकाश क्षणिक संवेदनाओं के साथ चित्रित हैं । इस दृष्टि से इनके चित्र "भूसा गाड़ी" "लाँघता हुआ अश्व", "अनाज का खेत" विशेष प्रसिद्ध हैं ।

विलियम ब्लेक आँग्ल कला एवं सौंदर्य परंपरा के श्रेष्ठ एवं अलौकिक अनुभवों के चितेरे थे । इनको अलौकिक विश्व के अनुभव बाल्यकाल से ही होने लगे थे । चार वर्ष की अवस्था में एक खिड़की से इन्हें ईश्वर का मुख, भीषण ग्रीष्म में एक महान् ईसाई संत के दर्शन और वृक्ष की शाखा पर झूलते देवदूत दिखाई दिये । उम्र के साथ इनके आध्यात्मिक अनुभवों का क्षेत्र भी विस्तृत होता गया । इन्हें यूरोप की कला में सबसे बड़ा स्वप्न-दृष्टा कहा जाता है । ये कवि तथा चित्रकार दोनों थे । इनके काव्य तथा चित्रकला में कल्पना तथा आध्यात्मिकता की प्रधानता है जो एडीसन के सौंदर्यशास्त्रीय विचारों से प्रभावित है । प्राचीन पुनरुत्थानकाल की रेखा एवं गोथिक कला की मांसलता व यौन प्रभाव से रहित आकृतियों के आधार पर इन्होंने "द बुक ऑफ जॉब" और दाँते

की "डिवाइन कॉमेडी" नामक रचनाओं का विस्तृत चित्रण किया। विलियम ब्लेक की दृष्टि में दैवी अनुभव ही कला के प्रेरक हैं सांसारिक वस्तुएँ नहीं। यहाँ इन पर शैफ्ट्सबरी के विचारों का प्रभाव है। प्रकृति को यह दैवी भावना के अभाव में शैतान की सृष्टि मानते थे। इनकी कला तत्कालीन बुद्धिवादी एवं रोमांसवादी प्रवृत्तियों की विरोधी है किंतु ब्लेक की कला किसी भी शैली व संप्रदाय से पूर्णतः मुक्त है।

डी॰जी॰ रोजेटी भी कवि व चित्रकार दोनों थे। इनकी कला में काव्य तथा चित्रकला का अद्‌भुत समन्वय दृष्टिगत होता है। इन्होंने शब्दों तथा लय के माध्यम से ऐसा प्रभाव उत्पन्न करने का प्रयास किया जो प्रायः रंगों तथा रेखाओं के माध्यम से संभव होता है। उन्होंने कुछ स्वप्नलोक सादृश्य मध्यकालीन गाथाओं का जल रंगों में चित्रण किया जिससे इनके चित्र जीवन की यथार्थता से अलग हो गये जिसके श्रेष्ठ उदाहरण "लेडी लिलिथ", "प्रेमिका" तथा "दिवा स्वप्न" हैं।

उक्त कलाकारों के अतिरिक्त विलियम डॉब्सन, विल्सन, जोशुआ रेनॉल्ड्स, हेनरी रैबर्न, जॉर्ज रोमनी, टॉमस गेंसबरो, होपनर, टॉमस लॉरेन्स, कॉफमेन, जॉन ओपी, फ्रांसिस हैमन आदि कलाकारों ने भी आँग्ल कला को समकालीन सौंदर्य-दर्शन से संबंधित कर महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। इस समय नव-शास्त्रीयतावाद तथा रोमांटिक कला धारा एवं दर्शन का समानान्तर विकास हो रहा था। कुछ चित्रकार रोमांटिक विचारों से भी प्रभावित होने लगे थे। सौंदर्य-दर्शन के क्षेत्र में आँग्ल दर्शन कोई क्रमबद्ध प्रणाली नहीं दे सका। इसी के साथ 18वीं शताब्दी से पूर्व उल्लेखनीय कलाकार भी नहीं के बराबर हुए। यहाँ प्रायः विदेशी चित्रकार ही अपना प्रभाव जमाये रहे। बिजेन्टाइन, रोमनस्क, गोथिक, पुनरुत्थान आदि सभी युगों में अन्य देशों के कलाकार यहाँ आते रहे तथा राजदरबार में आश्रय प्राप्त करते रहे। यद्यपि इन विदेशी चित्रकारों में हॉलबिन, वॉन-डाइक तथा पीटर-पॉल-रूबेन्स प्रमुख रहे हैं, तथापि हमने पूर्व पृष्ठों में देखा कि आंग्ल-कला एवं कलाकारों का यूरोपीय दृश्य-चित्रण में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। इसकी पृष्ठभूमि में आंग्ल-दर्शन की विचारधारा का भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा क्योंकि कला, साहित्य एवं दर्शन एक-दूसरे के सहयोगी ही रहे हैं। आंग्ल-अनुभववादी सौंदर्यशास्त्रियों ने कला के मूल्य एवं प्रभाव को भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से देखा, तथापि वे कुछ निष्कर्षों में एकमत है। यही दृष्टिकोण कला में भी निहित है। प्रायः सभी विचारक सहमत थे कि कला का उद्देश्य आनंद प्रदान करना है जिसमें नैतिक मूल्य भी सन्निहित हैं। कला में संवेगों की प्रधानता रहती है। शैफ्ट्सबरी ने सौंदर्य तथा विभु को एक माना। टॉमस रीड ने सौंदर्य को निःस्पृह सिद्ध किया। एडीसन के अनुसार सौंदर्य परिवेश एवं संगति का फल है तथा सौंदर्यानुभूति ऐन्द्रिय अनुभूति तथा कल्पनाजन्य है। ह्यूम सौंदर्य को व्यक्तिनिष्ठ मानते हैं। बर्क ने सौंदर्यानुभूति को सामाजिक प्रवृत्ति माना। एल्सन के अनुसार सौंदर्य विचारों का प्रवाह है। इन सभी विचारकों ने अन्य सौंदर्यशास्त्रियों को प्रभावित अवश्य किया, लेकिन अनुभववादी दृष्टि के कारण ये सामाजिक समस्याओं से भी उलझते रहे। सौंदर्य के स्वरूप को लेकर विवाद चलता रहा कि वह वस्तु, गुण, भावना, पहेली या कुछ और है। सौंदयानुभूति को लेकर भी समस्या उठी कि यह व्यक्तिगत है या सार्वभौमिक, सप्रयोजन है या निष्प्रयोजन, नैतिक है या अनैतिक। इस समस्या को जर्मन दार्शनिक इमैनुअल कांट ने सर्वप्रथम क्रमबद्ध रूप से हल करने का प्रयत्न किया।

□□□

अध्याय 5

जर्मन सौंदर्यशास्त्र

जर्मनी के सौंदर्य-विषयक चिंतन में बुद्धिवादी परंपरा पहले से ही विद्यमान थी जिसके प्रधान व्याख्याता लाइबनीज थे । अठारहवीं शताब्दी तक इंग्लैण्ड की अनुभववादी परंपरा का प्रभाव भी आ चुका था । इसके फलस्वरूप अठारहवीं शताब्दी के जर्मन सौंदर्यशास्त्र में प्रत्ययवाद के दार्शनिक आधार पर बुद्धिवादी और अनुभववादी विचार प्रणालियों का जर्मन द्वन्द्वात्मक संयोजन मिलता है । इस समय के सौंदर्यशास्त्रियों को बौद्धिकता के साथ रोमांसवादी सौंदर्यशास्त्र ने भी प्रभावित किया जो एक विरोधाभास है । इस प्रकार 18वीं शताब्दी में सौंदर्यशास्त्रियों के दो निकाय हैं :

(1) प्रत्ययवादी सौंदर्यशास्त्र-बाउमगार्टेन, हाइन्स, हैमन, हर्डर, कांट, गेटे, हम्बोल्ट ।

(2) रोमांटिक सौंदर्यशास्त्र-शिलर, फिक्टे, शेलिंग, हीगेल, ऑर्थर शोपेनहॉवर, फ्रेडरिख नीत्शे ।

एलेक्जेंडर बाउमगार्टेन [Alexander Baumgarten] (1714-1762 ई॰)

ऐलेक्जेन्डर बाउमगार्टेन ने सौंदर्यशास्त्र को प्रत्ययवाद के साथ अनुभववाद का अवलम्ब लेकर "ऐन्द्रिय-ज्ञान" के रूप में प्रतिष्ठित किया । बाउमगार्टेन का महत्त्व इसलिए है कि सर्वप्रथम इन्होंने ही सौंदर्य और कला का क्रमबद्ध विवेचन करने वाले शास्त्र को "सौंदर्यशास्त्र" कहकर पारिभाषित किया । अब तक दार्शनिकों ने ऐसे किसी शास्त्र की कल्पना नहीं की थी । यद्यपि बहुत से विचारक इस शब्द से परिचित थे तथापि किसी का ध्यान इस ओर नहीं गया ।

बाउमगार्टेन ने लाइबनीज से प्रभावित होकर ऐन्द्रिय ज्ञान और बौद्धिक ज्ञान में भेद किया । इनके अनुसार तार्किक ज्ञान की वस्तु सत्य है तथा ऐन्द्रिय ज्ञान की वस्तु सौंदर्य । इन्द्रियों से प्राप्त प्रत्यय ऐन्द्रिय कहे जाते हैं । यह ज्ञान प्राप्ति का निम्न माध्यम है । ये ऐन्द्रिय प्रत्यय स्पष्ट या अस्पष्ट होते हैं । कला एवं सौंदर्य का संबंध इसी ऐन्द्रिय ज्ञान से होता है । कला, सौंदर्य एवं ऐन्द्रिय ज्ञान के क्रमबद्ध अध्ययन हेतु ही सौंदर्यशास्त्र जैसे शास्त्र की आवश्यकता थी । इनके अनुसार सौंदर्य ऐन्द्रिय ज्ञान की वस्तु है । सौंदर्य पूर्णता है जिसका बोध परम निरपेक्ष रूप में नहीं किया जा सकता वरन् यह इन्द्रियों द्वारा ही संभव है । सत्य भी एक पूर्णता है जिसका बोध विवेक द्वारा ही संभव है । शिवत्व भी पूर्णता है किंतु इसका बोध इच्छा के माध्यम से होता है । सौंदर्य वस्तु के आपसी अंगों की समानुरूपता, आपसी क्रम-व्यवस्था, पारस्परिक-संबंध तथा इनकी पूर्णता है । इनके अनुसार सौंदर्य का प्रयोजन आनंदित और उत्तेजित करना है । सौंदर्य की पूर्णतम अभिव्यक्ति प्रकृति

में होती है इसीलिए कला प्रकृति की अनुकृति है। इन्हीं कारणों से बाउमगार्टेन ने सौंदर्यशास्त्र को "ऐन्द्रिय ज्ञान का विज्ञान" कहकर पारिभाषित किया जिसका प्रयोग परवर्ती सौंदर्यशास्त्रियों ने वैज्ञानिक अर्थ में किया।

जे॰जी॰ सुल्जर [J. G. Sulzer] (1720–1779 ई॰)

सुल्जर ने भी बाउमगार्टेन के समान स्वीकार किया कि कलात्मक अनुभूति तार्किक ज्ञान की अपेक्षा कम स्पष्ट होती है, किंतु बाउमगार्टेन के विरोध में इन्होंने सौंदर्य को कला की वस्तु स्वीकार नहीं किया। इन्होंने कला का संबंध शिवत्व से स्थापित किया। मानवता का लक्ष्य पूर्णरूपेण सामाजिक जीवन को कल्याणमय बनाना है। इस उद्देश्य की पूर्ति नैतिक शिक्षा से की जा सकती है जिसमें कला का माध्यम उपयुक्त है। कला उद्देश्यपूर्ण, उपयोगी तथा नैतिकता को समृद्ध करने वाली होनी चाहिये। इस प्रकार सौंदर्य भी वही है जो उक्त अनुभूति को जन्म दे तथा विकसित करे। केवल पशु ही अशिक्षित मूल प्रवृत्तियों की ओर अग्रसर होता है। कला की नैतिक शिक्षा द्वारा इन मूल-प्रवृत्तियों को मानव मन से सुधारात्मक रूप से विकसित किया जाता है। इसी कारण मानव व पशु में भेद है। कला द्वारा मानव नैतिक जीवनयापन हेतु प्रवृत्त या प्रेरित होता है।

एम॰ मेन्डलसन [M. Mendelssohn] (1729–1786 ई॰)

मेन्डलसन के अनुसार कला का लक्ष्य सुन्दर जीवन की उपलब्धि है। कला एक प्रकार का विकास है जो ऐन्द्रिय अनुभवों से उठकर सत्य तथा शिव के स्तर पर पहुंचती है तथा मानव को भी वहाँ तक पहुँचने हेतु प्रेरित करती है। ऐन्द्रिय अनुभव में सौंदर्यानुभूति अस्पष्ट तथा धुँधली होती है तत्पश्चात् पारस्परिक सहमति, सामंजस्य तथा बुद्धिवादिता द्वारा यही ऐन्द्रिय अनुभव सत्य तथा शिव से तादात्म्य स्थापित कर लेता है। यही सौंदर्य का वास्तविक स्वरूप है। कला का उद्देश्य नैतिक जीवन की पूर्णता है। इस प्रकार इन्होंने सौंदर्य, शिव तथा सत्य के त्रिकोण को समन्वित करने का प्रयास किया है।

मेन्डलसन ने आनंदानुभूति के भी तीन स्रोत माने हैं :

(1) अनेकता में एकता अर्थात् सौंदर्य,

(2) अनेकता में पारस्परिक सहमति या सामंजस्य तथा बौद्धिकपूर्णता; एवं

(3) शारीरिक स्थिति का उन्नयन या ऐन्द्रियता की उत्पत्ति।

इन्हीं तीन क्रमों के माध्यम से कलाकार हमारी नैतिक भावनाओं को व्यावहारिक जगत में वास्तविक रूप में परिवर्तित करता है और इन्हीं से आनंदानुभूति होती है।

विन्किलमान [Winckelman] (1716–1761 ई॰)

विन्किलमान ने भी सर्वप्रथम कला का क्रमबद्ध इतिहास लिखने का प्रयत्न किया था। इन्होंने यूनान जाकर तत्कालीन खुदाई से निकली "लाओकून" का अध्ययन किया। काव्य व चित्रकला के भेद पर चिन्तन किया। कला का अध्ययन भी इन्होंने ऐतिहासिक पृष्ठिभूमि में रखकर

किया तथा यह सिद्ध किया कि प्रत्येक कला अपने-अपने विशिष्ट युग, संस्कृति तथा आत्मा की अभिव्यक्ति होती है । इन कारणों से ही उन्हें महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक ख्याति का विचारक माना जाता है ।

विन्किलमान ने कला का उद्देश्य मात्र सौंदर्य ही निर्धारित किया । कला और शिवत्व पृथक् हैं । इन्होंने प्राचीन यूनानी कला के अध्ययन के आधार पर अपना सौंदर्य सिद्धान्त स्थापित किया और यूनानी कला के चार विशिष्ट युगों की विशिष्ट शैलियों का उल्लेख करके उदात्त शैली का विवेचन किया :

(1) **प्रारंभिक या प्राचीन शैली**-इसके अन्तर्गत प्रारंभ से लेकर मूर्तिकार फिडियास के युग तक की कला आती है । यह शैली रुक्ष, ओज़स्वी, शक्तियुक्त तथा स्पष्ट होते हुए भी दिव्यता व शालीनता से विहीन थी ।

(2) **उदात्त या शालीन शैली**-इसके अन्तर्गत मूर्तिकार फिडियास से लेकर स्कोपास के युग तक की कलाओं को लिया । यह शैली यूनानी प्रतिभा की पूर्णतम अभिव्यक्ति थी जिसमें उदात्तता, सादगी तथा एकता के गुण विद्यमान थे ।

(3) **सुन्दर शैली**-इसका प्रतिनिधित्व प्रेक्साइटेलिस करते हैं । सौंदर्य, माधुर्य तथा कोमलता इसके विशेष गुण रहे हैं ।

(4) **अनुकृतिमूलक शैली**-इसमें कलाकार अपने पूर्वजों की अनुकृति करते थे । ये संग्रहवादी कलाकार थे ।

विन्किलमान उदात्त शैली के पक्षधर थे । उदात्त शैली प्रबल संवेगों को अभिव्यक्ति न देकर आत्मा की सार्थक प्रशान्ति को अभिव्यक्त करती है जो इसकी सबसे बड़ी विशेषता है । सशक्त, हिंसक आदि संवेगों को अभिव्यक्ति देना सुगम है, किंतु आत्मा की प्रशान्ति को अभिव्यक्त करना निश्चय ही कठिन प्रक्रिया है । विन्किलमान के अनुसार, "उन्हीं लोगों के चेहरों में पूर्ण सौंदर्य प्रकट होता है जिनका मन प्रत्येक उद्वेग से रिक्त तथा शांत होता है। उदात्त शैली के कलाकारों ने अपना लक्ष्य सौंदर्य की अपेक्षा शालीनता को बनाया । इस उदात्त शैली द्वारा शालीन सौंदर्य की अभिव्यक्ति हुई है जिसमें शालीनता तथा सौंदर्य एक हो गये हैं ।

विन्किलमान आदर्श सौंदर्य को पूर्ण सौंदर्य मानते थे । इसी आदर्श सौंदर्य की अभिव्यक्ति कला का सर्वोच्च लक्ष्य है, किंतु अभिव्यक्ति की तीव्रता सौंदर्य को क्षति पहुंचाती है । विन्किलमान "लाओकून" का उदाहरण देते हुए कहते हैं कि लाओकून साँपों के पाश में फंसकर भी पीड़ा की तीव्र अभिव्यक्ति नहीं करता वरन् धैर्य एवं प्रशान्त होकर पाश से स्वयं को तथा पुत्रों को मुक्त कराने का प्रयास करता है, इसी कारण यह सौंदर्य का श्रेष्ठ उदाहरण है ।

जी॰ ई॰ लेसिंग [G.E. Lessing] (1729–1781 ई॰)

लेसिंग के अनुसार सशक्त या तीव्र संवेगों को अभिव्यक्ति देने से सौंदर्य की क्षति नहीं होती । दुःखान्त नाटक, विरेचन, करुणा, भय आदि की इन्होंने विशद् व्याख्या की है । यूनानी कला

में प्रकृति के समान ही हिंसक और वीभत्स संवेगों को भी अभिव्यक्ति दी गयी है। उदाहरणार्थ, होमर के काव्य में नायक आहत होने पर चीखते हैं, लौह पुरुष मार्स की चीख दस हजार कंठों के समवेत् स्वर के बराबर सुनाई देती है, सौंदर्य की देवी वीनस जरा-सी खरोंच लगने से चीखती हैं। लेसिंग के अनुसार अन्य कलाओं की अपेक्षा शिल्प कला में भावों को अभिव्यक्त करने में सौंदर्य का ध्यान रखना पड़ता है। शिल्प कला में चीखने की क्रिया को व्यक्त करने से मुँह की आकृति में विकृति आ जाती है, इसलिए लाओकून के श्रेष्ठ रचयेता ने उसका मुँह उतना ही खुला दिखाया है जितना आह लेते समय खुलता है। इस प्रकार कलाकार ने चीख को आह में भर दिया है। मूर्तिकला में एक ही क्षण को व्यक्त किया जा सकता है, इसलिए वह क्षण जीवन का सर्वोत्तम क्षण होना चाहिये।

लेसिंग के अनुसार काव्य और चित्रकला में भी भेद है। चित्रकला की अनुकृति का माध्यम आकार, रंग और प्रतीक होते हैं। रंग तथा आकार आकाश में स्थित हैं, इसलिए ये शरीर के सदृश्य होते हैं। काव्य की विषय-वस्तु ध्वनियाँ हैं जो काल में अपना अस्तित्व रखती हैं। काल के माध्यम से ही गति आती है। चित्रकला में भी गति होती है क्योंकि रंग, आकार तथा प्रतीक अर्थात् शरीर अपने अस्तित्व में ही रखता है। ये शरीर निरंतर बने रहते हैं तथा निरन्तरता में से ही भिन्न-भिन्न रूपों में रूपायित होते हैं। पूर्व क्षण, आगामी क्षण में वर्तमान रहता है। कलाकार अपनी चित्रकला में एक विशिष्ट क्षण की क्रिया को चित्रित कर सकता है। ये क्रियाएँ ही कला की उचित वस्तुएँ हैं। क्रियाएँ जीव से भिन्न नहीं हैं, इसलिए कला में जीवन व क्रिया दोनों की प्रस्तुति होती है। कलाकार एक ही गुण या क्षण को व्यक्त कर सकता है, इसलिए उन्हीं गुणों की अनुकृति करनी चाहिये जो स्पष्ट रूप से ऐन्द्रिय संवेगों को उत्तेजित कर सकें। लेसिंग के अनुसार, सौंदर्य की वृद्धि सामंजस्य, संतुलन, अनुपात और अलंकार से होती है। सौंदर्य कला का लक्ष्य है। लेसिंग ने आवश्यकता से सौंदर्य का कोई संबंध नहीं माना है।

उक्त दोनों विचारकों ने यूनानी कला को अपना आदर्श बना लिया था। प्रशान्ति, भव्यता, शालीनता, औचित्य और नैतिकता को ही कला का आदर्श लक्ष्य स्वीकार किया। किंतु सौंदर्यशास्त्र की धारा में कोई गतिरोध आने की अपेक्षा एक नया आंदोलन या विचार तूफान के समान आया। इस आंदोलन में अनुभूति की गहनता, मौलिकता, स्वच्छन्द प्रतिमा तथा सहज संवेगों को अत्यधिक महत्त्व दिया गया। इस आंदोलन का नाम "स्टार्म एण्ड स्ट्रेस" था जिसके प्रतिनिधि हर्डर थे। इसी आंदोलन की परंपरा में रोमांसवादी सौंदर्यशास्त्र का उद्भव हुआ जो विश्वव्यापी बन गया।

जे॰ जी॰ हर्डर [J. G. Herder] (1744-1803 ई॰)

हर्डर के अनुसार, "काव्य मानव जाति की मातृभाषा है।" इस प्रकार हर्डर ने कला की उत्पत्ति दैवी नहीं मानवीय स्वीकार की है। दृष्टि, श्रवण तथा स्पर्श इन तीन मुख्य इन्द्रियों से ही हम सौंदर्यानुभूति करते हैं। हर्डर ने लोकगीतों तथा लोक-कथाओं को अत्यधिक महत्त्व दिया। इन्होंने काव्य और कला का सर्वश्रेष्ठ युग आदिमयुग माना क्योंकि उस युग की सभी कलाओं में सहजता, प्रवाह और अनुभूति की गहन अभिव्यक्ति और मौलिकता थी। इस प्रकार हर्डर ने संवेदनावादी एवं अनुभववादी दृष्टिकोण को महत्त्व दिया।

हाइन्स [Heignes] (1746–1804 ई०)

हाइन्स के अनुसार, सौंदर्य प्राकृतिक पूर्णता का नाम है । सौंदर्य निरपेक्ष सत्य है जिसका शिवत्व व उपयोगिता से कोई संबंध नहीं । विवेक द्वारा सौंदर्यानुभूति नहीं हो सकती । संपूर्ण सौंदर्य का निर्गम-स्थल जीवन ही है । समस्त इन्द्रियाँ ही सौंदर्य की अनुभूति कराती हैं । हाइन्स ने सौंदर्य का निर्गम इन्द्रियों व काम भावना से माना है क्योंकि चित्रकला एवं शिल्पकला, विशेषतः नग्न आकृतियाँ, सर्वप्रथम काम-भावना का स्पर्श करती हैं, किंतु ये शारीरिक कामुकता से भिन्न हैं ।

इमानुएल कांट [Immanual Kant] (1724–1804 ई०)

कांट का जन्म 1724 में केनिन्सबर्क में एक मोची परिवार में हुआ था । उन्होंने अपना सारा जीवन इसी शहर की चहारदीवारी में ही व्यतीत किया । केनिन्सबर्क विश्वविद्यालय में इन्होंने भौतिक विज्ञान, गणित एवं ईश्वरवाद का अध्ययन किया । 1755 में इन्हें विश्वविद्यालय में नियुक्ति मिल गयी जहाँ इन्होंने गणित, भौतिक विज्ञान, तर्कशास्त्र, तत्त्व-समीक्षा, आचार-शास्त्र, भौतिक भूगोल, मानव-विज्ञान, प्राकृतिक ईश्वरवाद तथा "दार्शनिक एन्साइक्लोपीडिया" पर व्याख्यान दिये । इन सबका प्रभाव इनके दर्शन पर भी दृष्टिगोचर होता है । 1770 में इन्हें तर्कशास्त्र एवं तत्त्व-समीक्षा का प्रोफेसर बना दिया गया जहाँ 1797 तक रहे । बाद में स्वास्थ्य खराब होने के कारण 1804 में इनकी मृत्यु हो गयी ।

उस समय दो विरोधी धाराएँ थीं- एक तो बुद्धिवादियों की, जो यह मानते थे कि मनुष्य की बुद्धि सब कुछ जान सकती है और दूसरा मत अनुभववादियों का था कि मानव बुद्धि रूप में कुछ भी निश्चित नहीं जान सकता । इन दो विरोधी धाराओं के मध्य ही कांट का प्रादुर्भाव हुआ । कांट ने इन दोनों पक्षों में समझौता करवाकर मध्यम मार्ग की स्थापना की । बुद्धिवादी कार्य-कारण सिद्धान्त में, सहजात प्रत्यय में, आत्मा में तथा ईश्वर में विश्वास करते थे और इन्हीं तत्त्वों को विश्व की क्रमिक व्यवस्था का कारण बताते थे । इनके मतानुसार इन्द्रियाँ केवल विवेक की दासियाँ हैं तथा वे निष्क्रिय हैं संवेदनाएँ वहाँ से होकर विवेक के पास आती हैं और यही अव्यवस्थित संवेदनाओं को एकता प्रदान करता है, अर्थात् यह ज्ञान का नियामक सिद्धान्त है । किंतु इनके विपरीत अनुभववादी लॉक का मत था कि हम केवल अपने संवेद्य प्रत्ययों को जानते हैं, वस्तु के गुणों को ही पाते हैं । वस्तु स्वयं में क्या है, इसका ज्ञान किसी को नहीं होता । लॉक ने ही कहा था कि "पदार्थ है तो जरूर, किंतु वह क्या है, मैं नहीं जानता ।" जिन वस्तुओं को हम जानते हैं वे केवल संवेदनाओं के पुंजभाव हैं । बर्कले ने भी इसे स्वीकारा किंतु उन्होंने प्रत्ययों का कारण ईश्वर को माना । जिस पदार्थ को लॉक ने अज्ञेय मान लिया था, बर्कले ने उसकी सत्ता ही अस्वीकार कर दी थी क्योंकि जो अज्ञेय है, उसे कैसे जाना जा सकता है । ह्यूम ने इस आंदोलन को आगे चलकर पूर्ण किया । इन्होंने अंत में मनोवैज्ञानिक तर्कों का सहारा लेकर अनुभववाद को संदेहवाद में बदल दिया । इन्होंने कार्य-कारण-सिद्धान्त, आत्मा, अमरता एवं सैद्धान्तिक ज्ञान की असंभावना घोषित कर दी जिससे विज्ञान, तत्त्व-मीमांसा एवं धर्म का स्वतः ही खंडन हो गया । इन्होंने केवल संवेद्य प्रत्यय ही सत्य माने तथा वस्तुओं को इन्हीं का पुंज मात्र माना ।

इसी आधुनिक दर्शन की पृष्ठभूमि से प्रभावित होकर कांट ने प्रारंभ में तो बुद्धिवादी लाइबनीज-बुल्ववादी दर्शन का अनुसरण किया, किंतु अंग्रेजी अनुभववाद विशेषतः ह्यूम तथा रूसो के प्रभाव में आकर उसे तिलाजंलि दे दी। कांट ने कहा भी है कि "ह्यूम ने मुझे रूढ़िवाद की निद्रा से जगा दिया है – "ह्यूम ने कारण तत्त्व की आलोचना करके उसे रूढ़िवादी नींद से तो जगा दिया, यह तो कम से कम स्वयं ही कहते हैं, किंतु यह जागृति अस्थायी थी और उसने नींद लेने वाली एक नयी दवा खोज ली जिसमें वह फिर से सो गये। कांट के लिए ह्यूम एक विपक्षी थे जिनका खण्डन करना था, लेकिन रूसो का प्रभाव ज्यादा गंभीर था।" कांट पर ह्यूम का प्रभाव निषेधात्मक माना गया है। रूसो के मानववाद का प्रभाव अधिक माना गया है। 1770 तक ये अपने उस दार्शनिक दृष्टिकोण तक पहुँच गये जिसके लिए वे विख्यात हैं।

कांट ने दोनों ही पक्षों की बातों को सुना। उनके बौद्धिक गुरुओं में एक ओर तो बुल्व थे तो दूसरी ओर ह्यूम। दोनों की बातें सुनने के बाद इन्होंने निर्णय किया कि दोनों ही एक सीमा तक सही हैं, किंतु उस सीमा को जब हठ में आकर पार करने लगते हैं तो भ्रांत हो जाते हैं। इसके लिए कांट ने दोनों पक्षों की आलोचना करके 12 वर्षों के सतत् प्रयास से अपना "आलोचनात्मक दर्शन" प्रस्तुत किया। कांट अपने दर्शन को "आलोचना" कहते थे। कांट का दर्शन साधारण अर्थ में ही आलोचना नहीं है वरन् प्रत्यय सिद्धान्त होने के कारण विशेष अर्थ में भी है। लाइबनीज एवं लॉक के आत्यंतिक सिद्धान्तों से भिन्न यह आलोचनात्मक है। यह प्रत्ययों के निर्माण के विषय में इन्द्रियबोध जनित एवं शुद्ध बुद्धि की स्वाभाविक क्रिया में भेद दिखाता है। अनुभववाद के साथ कांट मानते हैं कि हमारे विचारों का विषय तो इन्द्रियों से प्राप्त होता है तथा प्रत्ययवादियों या बुद्धिवादियों के साथ ये मानते हैं कि इन विचारों का रूप बुद्धि का काम है अर्थात् बुद्धि अपने स्वाभाविक नियमों के अनुसार इन्द्रियों द्वारा प्राप्त असंबद्ध विषय को विचारों में परिवर्तित कर देती है। कांट का दर्शन ज्ञान-मीमांसक है।

अपनी पहली पुस्तक "क्रिटिक ऑफ प्योर रीजन" में कांट ने ज्ञान की यही समस्या उठायी। इसमें इन्होंने प्राकृतिक व्यवस्था का औचित्य सिद्ध किया। ह्यूम ने जिस समस्या को उठाया था, कांट ने उसी का समाधान किया। इन्होंने ज्ञान की प्रामाणिकता सिद्ध करने हेतु प्रागानुभविक सिद्धान्तों की खोज की। अंत में ईश्वर, आत्मा की अमरता एवं स्वतंत्रता के आध्यात्मिक विषयों को भी उठाया है। अपनी दूसरी पुस्तक "क्रिटिक ऑफ प्रेक्टिकल रीजन" में दूसरी समस्या "नैतिकता" को उठाया। यह समस्या बुल्व एवं उनके अनुयायियों द्वारा उठायी गयी थी। कांट ने पहली आलोचना में ही सिद्ध कर दिया था कि बुद्धि उन्हें समझने का प्रयत्न करती है। इन्द्रियाँ जिसे नहीं देखतीं; बुद्धि के लिए वह वस्तु सदैव अज्ञेय बनी रहेगी। इस प्रकार ईश्वर व धर्म के नैतिक-प्रत्यय, अमरता एवं आत्मा का ज्ञान नहीं हो सकता। इस पुस्तक में कांट ने इन्हीं तथ्यों की स्थापना की है। "क्रिटिक ऑफ जजमेंट" में उदात्त एवं सौंदर्य पर अपने विचार व्यक्त किये हैं।

कांट की समस्या : ज्ञान की समस्या

कांट के दर्शन की मूलभूत समस्या ज्ञान की है। ज्ञान क्या है और कैसे संभव है ? मानव

बुद्धि की सीमाएँ क्या हैं ? इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिए कांट ने मानव-बुद्धि की समीक्षा की । कुशमैन नामक विद्वान ने लिखा है कि "कांट के दर्शन की समस्या अत्यंत संक्षेप में इस प्रकार रखी जा सकती है "हम क्या जान सकते हैं ?" इस सूत्रात्मक वाक्य की व्याख्या करना ही कांट की समस्या है ।

आधुनिक दर्शन का प्रारंभ ही एक ऐसी प्रबल मान्यता से होता है जिसमें दार्शनिकों ने चुपचाप मान लिया था कि मानव में ज्ञान-शक्ति है । इसी आधार पर वे अपने दर्शन प्रस्थापित करते चले गये । इनके समक्ष एक ही समस्या थी कि ज्ञान की पद्धति क्या है ? और यहीं आकर अनुभववादियों तथा बुद्धिवादियों में मतभेद था । तथापि दोनों ही इस मत से सहमत थे कि वास्तविक ज्ञान सार्वभौमिक तथा अनिवार्य होता है । बुद्धिवादियों ने प्रत्यक्ष यथार्थ को छोड़कर बौद्धिक कल्पना में ध्यान केन्द्रित किया । उनके कुछ निश्चित सिद्धान्त थे जिनके अनुसार यथार्थ का तर्कपूर्ण ढंग से जो रूप होना चाहिये उसी पर विचार करने लगे । इन्होंने प्रत्यक्ष निरीक्षण एवं प्रयोग को तिलांजलि देकर बौद्धिक लोक में ही रहना पसंद किया । इस प्रकार इन्होंने दूसरे पक्ष को भुला दिया । इसी प्रकार दूसरी ओर अनुभववादियों ने भी हमारा संपूर्ण ज्ञान मूल में इन्द्रियबोध एवं अनुभव पर आश्रित कर दिया और कह दिया कि हमारे ज्ञान का एकमात्र साधन प्रत्यक्ष अनुभव है । जहाँ बुद्धिवादियों ने प्रत्यक्ष अनुभव को भुला दिया था, वहीं अनुभववादियों ने बौद्धिक नियमों को कोई स्थान नहीं दिया, जिसके अनुसार बुद्धि इस इन्द्रियजनित विषय को ज्ञान में परिवर्तित करती है । फलतः दोनों पक्ष सुदूर सीमाओं पर पहुँच गये जहाँ दोनों में से किसी को भी सही सिद्ध करना कठिन था । जोड ने लिखा है "यदि अनुभववादी सही हैं तो विवेकपूर्ण ज्ञान असंभव है और यदि बुद्धिवादी सही हैं तो बताना मुश्किल हो जायेगा कि जानने के लिए वस्तुएँ क्यों हैं ?" कांट का दर्शन इन दोनों का मध्य मार्ग है ।

ह्यूम ने तो इन्द्रिय-बोध को अत्यधिक महत्त्व देकर बुद्धि को जड़ बना दिया था, किंतु कान्ट ने कहा कि बुद्धि वस्तुतः चेतन है । वह विश्रृंखल इन्द्रिय-बोध को श्रृंखलाबद्ध करती है । कान्ट ने "ज्ञान क्या है ? के उत्तर में कहा कि "ज्ञान अनुभवातीत संयोजक क्रिया है ।" ज्ञान का आवश्यक गुण वैज्ञानिक होना है जिसका अभिप्राय हुआ कि ज्ञान सार्वभौमिक एवं अनिवार्य होना चाहिये । सार्वभौमिक एवं अनिवार्य होने के लिए आवश्यक है कि ज्ञान का मूलाधार अनुभव के बाद बुद्धि में होना चाहिये । अनुभव से सार्वभौमिक सत्य की प्राप्ति नहीं हो सकती, उसके लिए बुद्धि का सहारा लेना आवश्यक है । इस प्रकार ज्ञान अनुभवहीन या बौद्धिक हुआ । संयोजक का तात्पर्य है- कुछ नूतन करने वाला । अनुभव द्वारा प्राप्त सभी विचार या प्रक्रियाएँ संयोजक होती हैं, अर्थात् उनका संश्लेषण किया जाता है विश्लेषण नहीं । थिल्ली के अनुसार, "कांट शुद्ध ज्ञान की परिभाषा में दो लक्षणों को दिखाते हैं- सार्वभौमिकता एवं अनिवार्यता ।" बुद्धिवादियों के साथ वे सहमत हैं कि गणितशास्त्र और पदार्थ विज्ञान के रूप में ऐसा ज्ञान होता है और दूसरी ओर अनुभववादियों के साथ वे यह भी मानते हैं कि यह ज्ञान भावात्मक होता है । यह वस्तुओं के यथार्थ रूप का ज्ञान नहीं है । यह उनके दृश्य रूप, जिसे हम अपनी इन्द्रियों से जानते हैं; का ज्ञान है । इसलिए यथार्थ आध्यात्मशास्त्र असंभव है । अनुभववाद के अनुसार यह मानते हैं कि हम उसी को जान सकते हैं जिसे अनुभव करते हैं अर्थात् हमारा ज्ञान का विषय इन्द्रियबोध है और बुद्धिवादियों

के साथ कहते हैं कि सार्वभौमिक एवं अनिवार्य सत्य अनुभव से प्राप्त नहीं हो सकता। इन्द्रियाँ हमारे ज्ञान के विषयों को लाती हैं। हमारे ज्ञान का मार्ग तो अनुभव से ही प्रारंभ होता है, किंतु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि इसकी संपूर्ण उत्पत्ति केवल अनुभव से ही होती है। हो सकता है कि स्वयं अनुभव दो तत्त्वों से निर्मित हो-एक तो इन्द्रियजनित बोध तथा दूसरा तत्त्व जो इन्द्रिय-बोध के समय बुद्धि से मिलता है। बुद्धि ज्ञान के विषयों को अपने स्वाभाविक नियमों के अनुसार शृंखलाबद्ध करती है। अनुभववादी जिन्हें संवेदन कहते हैं वे वस्तुतः वैसे हैं नहीं। मानस में आने के साथ ही इन्द्रियबोध पर बौद्धिक नियमों की क्रिया हो जाती है। हम सत्य को यथार्थ रूप में तो कभी देख ही नहीं सकते, इसलिए हमें प्रत्ययों के प्रबंध का सार्वभौमिक व अनिवार्य ज्ञान होता है, वस्तुओं के यथार्थ रूप का नहीं। अब कांट ने प्रश्न उठाया कि "क्या शुद्ध बौद्धिक ज्ञान संभव है ?" कांट ने तो ज्ञान की परिभाषा ही "अनुभव स्वतंत्र संयोजक" कहकर की है। अब यही समस्या है कि यह अनुभव स्वतंत्र संयोजन ज्ञान अर्थात् बौद्धिक ज्ञान संभव है या नहीं। ह्यूम से बढ़कर कांट ने कहा कि यह बौद्धिक ज्ञान संभव है और इसका आधार प्रत्यक्ष दर्शन निरीक्षण के बाद शुद्ध बुद्धि में होना चाहिये। जब हम यह कहते हैं कि "मनुष्य मरणशील प्राणी है" तो हम इसी ज्ञान को लक्षित करते हैं। सभी सार्वभौमिक सिद्धान्त इसी प्रकार के शुद्ध बौद्धिक हैं। अब समस्या यह भी है कि इस प्रकार का अनुभव स्वतंत्र संयोजक ज्ञान कैसे संभव है ? कांट ने कहा है कि "वास्तविक ज्ञान संभव है यदि निर्णय के लिए इन्द्रियाँ तो सामान उपस्थित करें और शुद्ध बुद्धि उस सामान को जोड़ने के लिए आवश्यक सीमेंट दे।"

कांट ने आगे चलकर यह विचार दो अंशों में बाँट दिया :

(1) ऐन्द्रिक अंश संवेद जिन्हें कांट ने "सहज ज्ञान" कहा है, एवं

(2) प्रज्ञा अर्थात् समझ।

सहज ज्ञान के अनुसार बुद्धि पर भिन्न-भिन्न प्रकार के मानसिक चश्में चढ़े हुए हैं और वे चश्में अज्ञात् रूप से प्रत्येक ज्ञेय पदार्थ का रूप परिवर्तित कर देते हैं। इसी सहज ज्ञान को कांट ने "देश व काल" कहा है। कांट ने कहा कि "देश व काल" बुद्धि की मौलिक सहज ज्ञान शक्तियाँ हैं जो कि प्रत्येक अनुभव के पूर्व उसमें स्थित होती हैं। "वेबर के अनुसार यह कांट की अमर खोज है।" देश व काल वस्तुओं को जानने के तरीके हैं, वे इन्द्रियों की क्रिया या रूप हैं, किंतु ये असंबंधित संवेद या सहज ज्ञान ही ज्ञान नहीं होता, वस्तुओं की एक समझ या धारणा भी होनी चाहिये जिसे कांट ने प्रज्ञा नाम दिया और कहा कि संयोजक चेतन-मन के बिना ज्ञान असंभव है। बुद्धि ग्रहण ही नहीं करती क्रिया भी करती है। अन्तःबुद्धि विषयात्मक है तथा समझ धारणात्मक है। अन्तर्बुद्धि धारणाओं द्वारा विचार करती है। संवेद को समझने के लिए धारणाओं के अन्तर्गत लाना चाहिये और धारणाओं को भी प्रत्यक्ष का विषय देना चाहिये। समझ अपने आप किसी वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं कर सकती और इन्द्रियाँ स्वयं किसी वस्तु पर विचार नहीं कर सकतीं। दोनों के सामंजस्य से ही ज्ञान संभव है। अर्थात् कांट के मतानुसार ज्ञान की प्राप्ति का सर्वप्रथम साधन तो इन्द्रियाँ हैं किंतु वे निष्क्रिय हैं। उनमें अपनी कोई ताकत नहीं होती। यद्यपि ये जड़ भी नहीं होतीं, केवल प्रत्यक्ष दर्शन से ही संबंधित हैं। यह ज्ञान बुद्धि के बिना व्यर्थ है। इन्द्रियाँ बुद्धि के विवेक की दासियाँ हैं तथा निष्क्रिय हैं। इनके आधार पर प्रत्यय या धारणा बनती

है । धारणा का तात्पर्य है-बिम्ब । जिसके बिम्ब जितने उच्च होंगे अभिव्यक्ति उतनी ही उत्कृष्ट होगी । जैसा ज्ञान इन्द्रियाँ ग्रहण करेंगी वैसा ही बुद्धि-बोध करेगी । इन्द्रियों का ज्ञान अर्द्धसत्य है । सत्य हम उसी को कहते हैं जो सार्वभौमिक हो । इन्द्रियात्मक ज्ञान को सत्य कह देने पर अनेक अव्यवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं । इनके आधार पर हम किसी भी सत्य की स्थापना नहीं कर सकते । बुद्धि व इन्द्रियाँ आपस में एक-दूसरे की पूरक हैं । बिना इन्दियों के बुद्धि का ज्ञान नहीं होता और बिना बुद्धि के इन्द्रियों का । ये दोनों सिद्धान्त (हेतुजन्य संवेदन शास्त्र तथा हेतुजन्य तर्कशास्त्र) मिलकर ही हेतुजन्य मूल तत्त्वों का सिद्धान्त कहलाता है ।

कांट ने कहा है कि मस्तिष्क बचपन में खाली होता है । उसकी कुछ शक्तियाँ होती हैं । ये तीन शक्तियाँ- ज्ञान, क्रिया एवं इच्छा हैं । इन्हीं के आधार पर उन्होंने बुद्धि को तीन भागों में बांटा है :

(1) **बुद्धि,** जिसका संबंध ज्ञान से होता है,

(2) **निर्णय शक्ति,** जिसके आधार पर हमें सुख-दुःख का ज्ञान होता है, यह क्रिया है, एवं

(3) **प्रज्ञा–** बुद्धि से परे जो कुछ भी हमें अनुभव होते हैं वे प्रज्ञा के अंतर्गत आते हैं । इनका संबंध इच्छा व संकल्प से होता है । इस ज्ञान की व्याख्या प्रायः कम ही होती है । प्रज्ञा को कई स्थानों पर तर्क भी कहा है ।

कांट के मतानुसार बुद्धि से हमें व्यावहारिक ज्ञान होता है । इन्द्रियों से प्राप्त ज्ञान को बुद्धि व्यवस्थित करती है । किंतु आत्मा, नैतिक प्रत्यय आदि का ज्ञान बुद्धि द्वारा नहीं होता, ये सब वस्तुएँ परमार्थ जगत से संबंधित हैं और इनका ज्ञान प्रज्ञा से होता है । प्रज्ञा व बुद्धि के बीच दोनों को जोड़ने की तीसरी शक्ति निर्णय शक्ति है । कांट ने ज्ञान और अनुभूति के मध्य इसी निर्णय शक्ति की कल्पना की है । निर्णय दो प्रकार के होते हैं :

(1) **सामान्य निर्णय**-ये समाज द्वारा बनाये जाते हैं तथा ये नियम होते हैं । इनके अंतर्गत विशेषों को समर्पित कर दिया जाता है ।

(2) **मननात्मक निर्णय**-जब निर्णय किसी विशेष के माध्यम से सामान्य का अन्वेषण करते हुए आगे बढ़ता है तब वह मननात्मक निर्णय कहा जाता है । मननात्मक निर्णय हमेशा अपने सामान्य रूप की खोज में रहता है । सौंदर्य-मूलक रुचि का संबंध इसी मननात्मक निर्णय से होता है । सौंदर्यमूलक रुचि को कांट मूलरूप से व्यक्तिगत मानते हैं ।

मननात्मक निर्णय से हम अनुकूलता का अन्वेषण करते हैं । मनुष्य अपनी व्यक्तिगत प्रयोजनता के द्वारा पाता है कि उसके मस्तिष्क और प्रकृति में अनुकूलता है, किंतु वस्तुतः ऐसा नहीं है । अनुकूलता के प्रति मननात्मक निर्णय की यह सामान्य प्रकृति मात्र है । मन की निर्णायक शक्ति अपने परिणामों को प्रकृति पर आरोपित कर देती है । इसी विधि का अनुसरण करके व्यक्तिगत रुचि अपने को सामान्य रूप में परिवर्तित करना चाहती है ।

निर्णय शक्ति की व्याख्या कांट का दूसरा महत्त्वपूर्ण योगदान है ।

सौंदर्य क्या है ?

कांट भी प्लेटो के समान ही सौंदर्य का परिणाम विशुद्धिकरण मानते हैं। इनका कहना है कि प्राकृतिक सौंदर्य में शुद्धात्मा द्वारा ही मनोनिवेश हो पाता है। कांट सौंदर्य को वस्तुगत तत्त्व न मानकर विशिष्ट अनुभूति का कारण मानते हैं। टॉल्सटॉय व रस्किन ने भी अनुभूति पर बल दिया है किंतु इनका दृष्टिकोण नैतिक है। कांट सौंदर्य में निर्लिप्त भाव को महत्त्व देते हैं। कांट के अनुसार मानसिक सामंजस्य और संतुलन, सार्वजनिकता, निर्लिप्तता और उद्देश्यहीन सार्थकता, भावन-व्यापार की विशेषताएँ हैं जिनसे सौंदर्य की प्रतीति होती है। कांट के अनुसार सौंदर्य चिन्तनशील धारणा का आनंद है। इसका अस्तित्व वस्तुनिष्ठ नहीं है बल्कि इसका उद्देश्य नैतिक शिवत्व की स्थापना है।

सौंदर्य और कला-विषयक आस्वाद का विचार कांट ने अपनी तीसरी पुस्तक "निर्णय मीमांसा" में किया है। एक ओर इन्होंने सौंदर्य-निर्णय के अंतर्गत अनुभववादियों की "सुखानुभूति" को ग्रहण करके उसमें से आसक्ति तत्त्व को निकालकर "आसक्तिहीन आसक्ति" के रूप में निर्णय का प्रतिवादन किया। दूसरी ओर इन्होंने बुद्धिवादियों का अनुसरण करके "प्रयोजनहीन प्रयोजन" के रूप में मनुष्य की व्यवस्थापिका बुद्धि को निर्णय का आधार बनाया। इस प्रकार कांट के सौंदर्य-विषयक निर्णय में हृदय व बुद्धि का अद्‌भुत समन्वय हुआ। यद्यपि कांट की सौंदर्यशास्त्रीय अवधारणा में गौण रूप से प्रयोजन, आसक्ति और नैतिकता का भी समावेश है, फिर भी "शुद्ध रूप" को सर्वोपरि मानने के कारण इनके सौंदर्यशास्त्र को "अतीन्द्रिय" कहा जाता है।

कांट के अनुसार सौंदर्य का ज्ञान हमें इन्द्रियों एवं निर्णय शक्ति अर्थात् प्रज्ञा द्वारा होता है। उन्होंने इसी आधार पर सौंदर्य के दो भेद किये हैं :

(1) प्रयोजन सापेक्ष सौंदर्य, एवं

(2) प्रयोजन निरपेक्ष सौंदर्य।

"प्रयोजन सापेक्ष सौंदर्य" कांट के अनुसार, सौंदर्य का एक ऐसा प्रकार है जिसमें वस्तु के सौंदर्य के प्रति सचेत रहते हुए हम उसके विशिष्ट प्रयोजन से भी परिचित रहते हैं। यहाँ दो प्रकार का आनंद मिलता है- एक तो रूपबोध का तथा दूसरे उस वस्तु की उपयोगिता को तृप्त करता है। इसमें व्यक्ति सामंजस्यपूर्ण रूप के प्रति भी सचेत रहता है तथा यह सौंदर्य स्वयं में नैतिक सार्थकता को भी समाविष्ट कर लेता है।

"प्रयोजन निरपेक्ष सौंदर्य" को स्वतंत्र सौंदर्य भी कहा जा सकता है क्योंकि यह प्रयोजन-रहित होता है। उदाहरणार्थ, सुंदर फूल प्रकृति का स्वतंत्र सौंदर्य है। एक वनस्पतिशास्त्री के विपरीत सामान्य व्यक्ति फूल के स्वतंत्र सौंदर्य को ही अनुभूत करता है। इसी प्रकार यूनानी पात्र देखकर भी हमें सौंदर्यबोध होता है। इनको देखते ही हमारे मन में एक रुचिकर एवं सामंजस्यपूर्ण रूपाकृति का बोध होता है किंतु हम उनके प्रयोजन, उपभोग व प्रयोग से अनभिज्ञ रहते हैं।

वस्तुतः ये दोनों प्रकार एक ही वस्तु को दो दृष्टिकोण से देखने के कारण उत्पन्न होते हैं।

सौंदर्य के साथ कांट ने सौंदर्य-बोधजन्य आनंद की चर्चा भी की है। आनंद दो प्रकार का

होता है-प्रयोजन सापेक्ष तथा प्रयोजन निरपेक्ष। कांट सर्वप्रथम आनंद को वैयक्तिक अनुभूति स्वीकारते हैं। एक आनंदानुभूति सुंदर वस्तु की अनुभूति से उत्पन्न होती है। यह अनिवार्य रूप से व्यक्तिगत होता है। वस्तु के रूपों एवं मस्तिष्क के रूपों के तादात्म्य से उत्पन्न यह आनंद एकतरफा होता है। इससे हमारी तृष्णाओं की पूर्ति होती है, जबकि एक आनंद वह भी होता है जो हमारी इच्छा से स्वतंत्र हो, अर्थात् कोई वस्तु हमारे आनंद का कारण होकर भी हमारी तृष्णा नहीं जगाती। यहीं आकर कांट ने कहा है कि सौंदर्यानुभूति का आनंद पशु जगत से भिन्न होता है। स्वतंत्र आनंद मनन के द्वारा प्राप्त है जैसे संगीत श्रवण आदि। कांट के अनुसार यह आनंद निष्पक्ष होता है, उसका वास्तविक वस्तु से संबंध नहीं होता, इसलिए यह निःस्वार्थ होता है। इच्छायुक्त आनंद में स्वामित्व एवं मेरा की कामना उत्पन्न होती है इसलिए वह स्वतंत्र आनंद नहीं है। कांट की चिंतन-प्रक्रिया आनंदानुभूति की निष्प्रयोजनता को ही सिद्ध करती है।

सौंदर्य-ग्रहण के संबंध में उन्होंने दो शब्दों "अभिरुचि" तथा "निर्णय" का प्रयोग किया है। इनके अनुसार सौंदर्य-ग्रहण "शुद्ध बुद्धि" और "व्यावहारिक-बुद्धि" से भिन्न "निर्णय" के अन्तर्गत माना है जिसे "अभिरुचि" के द्वारा पारिभाषित किया जा सकता है। शुद्ध बुद्धि का आग्रह प्लेटो के शब्दों में इस बात पर होता है कि "अपने आप से असहमत होने की अपेक्षा सारे संसार से असहमत होना बेहतर है।" इसके विपरीत कांट ने अपनी "निर्णय-मीमांसा" में यह प्रतिपादित करने का प्रयास किया है कि अपने आप से सहमत होना ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि "हर किसी के स्थान पर स्वयं को रखकर" सोचना भी आवश्यक है। कांट ने इसे "परिवर्द्धित मनोवृत्ति" कहा है। शुद्ध बुद्धि के चिंतन में केवल स्वयं से ही संवाद होता है, किंतु निर्णय में चाहे हम एकांत में अकेले ही चिंतन करें, अपने से भिन्न दूसरों से संवाद होता है। निर्णय में अपनी वैयक्तिक सीमाओं से मुक्ति लेनी होती है। व्यक्तिगत धारणाएँ जब तक व्यक्तिगत हैं, तब तक उन्हें निर्णय की संज्ञा नहीं दी जा सकती। कांट के अनुसार निर्णय की क्षमता केवल अपनी दृष्टि से वस्तुओं को देख सकने की क्षमता नहीं, वरन् जो भी उपस्थित हैं उन सबके परिप्रेक्ष्य से देख सकने की क्षमता है। निर्णय ऐसा महत्त्वपूर्ण कार्य है जिसमें "दूसरों के साथ संसार का साझीदार होना" संभव होता है।

इसी निर्णय क्षमता का विचार कांट ने सौंदर्य संबंधी अभिरुचि के संदर्भ में किया है। इन्होंने सौंदर्य के सार्वजनिक महत्त्व को ध्यान में रखते हुए कहा है कि अभिरुचि संबंधी निर्णय विवाद के लिए खुले रहते हैं क्योंकि हम इस विषय में दूसरों से भी भाग लेने की आशा रखते हैं। अन्य निर्णयों के समान सौंदर्य-निर्णय में भी थोड़ी बहुत आत्मनिष्ठता होती है, किंतु फिर भी वह सार्वभौमिक होता है। सौंदर्य निर्णय में बराबर यह प्रतीति होती रहती है कि पदार्थ की वस्तुगत सत्ता है जिसे सब लोग अपने-अपने दृष्टिकोण से देखने को स्वतंत्र हैं। सौंदर्य की इस वस्तुनिष्ठता के कारण ही अभिरुचि व निर्णय निर्वैयक्तिक हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में पदार्थ या कलाकृति के प्रति किसी व्यक्ति विशेष का कोई जीवन संबंधी प्रयोजन नहीं रहता तथा न ही आत्मा का नैतिक प्रयोजन निहित होता है। इस प्रकार सौंदर्य संबंधी अभिरुचि "आसक्तिहीन" होती है।

कांट सौंदर्यानुभूति को "अनासक्त परितोषजन्य" कहते हैं। इसका कोई नैतिक कारण नहीं है वरन् वे सौंदर्यानुभूति को वैयक्तिक इच्छा-रुचियों, अहं केन्द्रित पूर्वाग्रहों एवं स्थूल उपयोगितावाद से भिन्न व विशिष्ट प्रतिपादित करना चाहते थे। इच्छा से उनका तात्पर्य विषय के अस्तित्व के

आस्वाद से है । जो निर्णय को दूषित करता है उसकी निष्पक्षता को बाधा पहुँचाता है । कांट ने प्राकृतिक जगत तथा अन्तर्जगत के संबंध में विचार करते हुए सौंदर्यबोध तथा सांसारिक सुख बोध में पृथकत्व सिद्ध किया है । प्राकृतिक जगत के संबंध में अनेक प्रकार से अपने विचार व्यक्त किये जा सकते हैं जैसे, दर्शन, इतिहास आदि द्वारा । ये विचार बाहरी रूप से तो असंख्य होते हैं, पर आंतरिक रूप से ये परस्पर संबंद्ध भी हो सकते हैं । हमारे व्यक्तिगत विचार भी सामान्य हो सकते हैं । जैसे मानव मरणशील प्राणी है । यह विचार व्यक्तिगत भी है तथा सामान्य भी । हममें एक प्रकार की अलौकिक अनुभूति होती है जिसके कारण हम आत्मा की निरपेक्ष तथा स्वतंत्र सत्ता मान लेते हैं । हमारे अन्तर्जगत का संगठन ज्ञान व इच्छा के योग से होता है । इच्छा में ही हमारी स्वतंत्रता व बाधाविहीन प्रवृत्ति होती है । इस प्रकार ब्रह्म जगत की अतीन्द्रिय सत्ता तथा अन्तर्जगत में स्वतंत्रता बोध की सत्ता को एक मानते हुए कांट बाह्य जगत को अन्तर्जगत का साधन तथा अन्तर्जगत को बाह्य जगत का साध्य मानते हैं । जब इस ऐक्य की अनुभूति हमें हो जाती है तो हमें प्राकृतिक रूप की एकता में भी आनंद आता है यही आसक्तिहीन आसक्तपूर्ण सौदर्यानुभूति है । सुखबोध तो उपयोगितावादी दृष्टि है और इसमें व्यक्तिगत प्रयोजनसिद्धि का साहचर्य रहता है जबकि सौंदर्यानंद इनसे पृथक् कल्पना तथा बुद्धि वृत्तियों के भाव से परिपूर्ण होता है । यह ऐन्द्रिय तथा अतीन्द्रिय के मिलन से उत्पन्न होता है । यह ज्ञानात्मक न होकर भाव संवेगात्मक है, किंतु यह व्यक्तिनिष्ठ नहीं है । यह एक प्रकार का दर्शनानंद है जिसमें लाभ-हानि विहीन केवल किसी वस्तु के दर्शन से आनंद होता है । वस्तु का दर्शन करने पर भी सौंदर्यानंद वस्तु-निरपेक्ष आंतरिक आनंद होने के कारण ही आध्यात्मिक भी कहा जाता है । सौंदर्यानंद वस्तु निरपेक्ष होने के साथ दृष्टा-निरपेक्ष भी है । कांट का विचार है कि देखने के कारण ही वस्तु को सुंदर तथा अनुभूत धर्म को सौंदर्य कहते हैं ।

सौंदर्यानुभूति को अनासक्त मानने के परिणामस्वरूप ही कांट ने "अनुभूति की विषयगत सार्वभौमिकता" सिद्धान्त की स्थापना की । इस प्रकार यह आनंद विलक्षण भी है । नीति तथा सौंदर्य दोनों व्यक्तिनिष्ठ होने के साथ सर्वनिष्ठ भी हैं क्योंकि जो वस्तु या नीति एक को सुंदर या उचित लगती है वह दूसरे को भी लग सकती है । भला-बुरा लगता तो इन्द्रिय रुचि पर निर्भर है पर सौंदयानुभूति में यह निश्चिंतता होती है कि जो हमें सुंदर लगता है वह दूसरों को भीं लग सकता है । जिस वस्तु से सभी को आनंद न मिले वह कभी सुंदर नहीं हो सकती । सौंदर्यानुभूति निष्पक्ष होने के कारण दृष्टा की विशिष्ट संवेगात्मक प्रक्रियाओं से दूर रहती है । इस प्रकार सौंदर्य का संप्रेक्षण व्यक्ति और मानवता के बीच एक सामान्य भूमि पर होता है- यही उसकी सार्वभौमिकता का कारण है । निष्प्रयोजन होने के कारण यह व्यक्तिनिष्ठ होकर भी सार्वभौमिक हो जाता है । कांट सौंदर्य-बोध को प्रत्यक्ष ज्ञान से ही नहीं परोक्ष ज्ञान से भी अलग मानते हैं । उनकी धारणा है कि सभी मनुष्यों में अन्तर्लोक की क्रिया एक ही प्रकार की होती है और अन्तर्लोक के साथ बहिर्लोक के सामंजस्य संगठन में ही सभी व्यक्तियों में एकरूपता रहती है जिसके फलस्वरूप सौंदर्यानंद की अभिव्यक्ति भी एकरूप होती है । भारतीय दर्शन में भी यही बात कही गई है कि रसानुभूति में पर-अपर के भाव नष्ट हो जाते हैं । कांट तथा भारतीय दर्शन के अद्वैतवाद में भेद केवल यही है कि कांट जिसे ज्ञान व उदात्त के नाम से जानते हैं, भारतीय दर्शन में वही ब्रह्म के नाम से जाना जाता है । दोनों दर्शनों का अंतिम लक्ष्य एक ही है ।

सौंदर्यानुभूति की अवस्था एक विशेष मानसिक अवस्था होती है। यह मानसिक अवस्था दर्शक व वस्तु के सामंजस्य से होती है अर्थात् सौंदर्यानंद तथा रुचि मन की सहानुभूति के कारण होती है। सहानुभूति का तात्पर्य है-सह+अनुभूति अर्थात् वस्तु के साथ सामंजस्य होना। बुद्धि व इन्द्रियों के सामंजस्य से ही सौंदर्यानंद उत्पन्न होता है अर्थात् इन्द्रियानुभवों एवं बुद्धि में वस्तु का अच्छी तरह ज्ञान होने के पूर्व ही एक प्रकार का समझौता हो जाता है, यही बुद्धि व इन्द्रियों की पारस्परिक क्रीड़ा है। यह एक प्रकार की सहानुभूति ही है क्योंकि एक व्यक्ति की सहानुभूति से जनसामान्य की सहानुभूति भी संपृक्त रहती है। इसमें मननात्मक निर्णय का भी योगदान रहाता है। इसी से व्यक्तिगत रुचि स्वयं को सामान्य रूप में परिवर्तित करती है।

उदात्त की कल्पना

यह कांट का तीसरा महत्त्वपूर्ण योगदान है। सौंदर्य की तरह उदात्त भी सौंदर्यशास्त्र का ही एक महत्त्वपूर्ण प्रत्यय रहा है। उदात्त सौंदर्य का उत्कृष्टतम रूप है जिसकी पूर्ण अभिव्यक्ति कला में सदैव संभव नहीं है। कुछ सौंदर्यशास्त्रियों ने इसे अरूपता का संवेद्य न मानकर इसे सौंदर्य से भिन्न करने का प्रयास किया है, तो कुछ विद्वान इसे अनुभूति की तीव्रता के कारण विरूप या कुरूप के समतुल्य मानते हैं। उदात्त की अरूपता विरूपा होने के स्थान पर अनंतरूपता की द्योतक है। सौंदर्य के समान ही उदात्त के संबंध में भी वस्तुनिष्ठ और व्यक्तिनिष्ठ दोनों दृष्टियों से विचार किया गया है। कांट व्यक्तिनिष्ठ दृष्टि में उदात्तता की अनुभूतिमूलक व्याख्या करते हैं। वस्तुतः उदात्त भी सौंदर्य के समान वस्तु, धर्म तथा व्यक्ति-मन सापेक्षता दोनों पर निर्भर रहता है। जहाँ सौंदर्यानुभूति में वस्तु के रूप में धर्म के साथ व्यक्ति-मन का तादात्म्य हो जाता है, वहाँ उदात्तता में वस्तु और व्यक्ति का अंतर बना रहता है। वस्तु धर्म की अनंतता के कारण उसकी अनुभूति इतनी रोमांचकारी हो जाती है कि उदात्तता सौंदर्य की अपेक्षा अधिक व्यक्तिनिष्ठ प्रतीत होती है।

संभवतः कांट ने ही पहली बार उदात्तता के स्वरूप को क्रमबद्ध रूप से प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। उदात्त का प्रत्यय कांट के लिए एक नैतिक प्रत्यय बन जाता है। उदात्त और सौंदर्य में भेद मानते हुए कांट ने कहा है कि प्रथम तो सौंदर्य रूपयुक्त होता है वह समीप होता है। उदात्त वस्तु होते हुए भी रूपाकृतिहीन हो सकता है क्योंकि वह असीम एवं अनंत होता है जिसे एक इकाई में आबद्ध नहीं कर सकते। इस प्रकार "सुंदर" बुद्धि की अनिश्चित अवधारणा का निरूपण है और "उदात्त" प्रज्ञा के अनिश्चित प्रत्ययों का निरूपण है। दूसरे, प्राकृतिक सौंदर्य हमारी निर्णय-शक्ति के प्रयोजन के अनुकूल होता है किंतु जिस वस्तु से उदात्तता की भावना का उदय होता है, वह हमारी निर्णय-शक्ति के विरुद्ध पड़ती है तथा साथ ही निरूपण की शक्ति को अवरुद्ध कर देती है।

कांट सौंदर्यशास्त्र के प्रत्यय या भाव को ही "उदात्त" कहते हैं। उदात्त को शब्दों के माध्यम से अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। उदात्तता महान् प्रतिभा की विभूति है। साधारण के हाथों में वह मानवीय धरातल पर उतर आती है। उदात्तता को दृष्टि में रखकर ही भारतीय अलंकारियों ने महाकाव्य की गरिमा का गान किया है। अरस्तू ने भी भव्यता के कारण ही एपिक एवं दुःखांत नाटक को अन्य साहित्यिक विधाओं से श्रेष्ठ माना है। कांट अन्तर्मुखी दृष्टि से

उदात्तता को असीम रूप का अमूर्त भावन मानते हैं जो ऐन्द्रिय रूप से परे हैं, यद्यपि इसकी अभिव्यक्ति ऐन्द्रिय माध्यम से होती है तथा हो सकती है। इसी प्रकार भारतीय चिंतन में भी कहा है कि हम ब्रह्म की अनुभूति को वर्णित नहीं कर सकते। भारतीय आध्यात्मिक दृष्टि के अनुसार, "सुंदर का ही उत्कृष्ट रूप उदात्त है जिसमें प्रवृत्तियों से ऊपर उठकर मन आध्यात्मिक जगत की अनुभूतियों का मूर्तरूप में आस्वादन करता है।" उदात्तता उच्च मानसिक धरातल की द्योतक होने के साथ-साथ शारीरिक संपन्नता को भी प्रकट करती है। पंडितराज जगन्नाथ ने "भग्नावरणाचित्" कहकर रस को अद्वैत की अनुभूति माना है। रस का यह उदात्त आध्यात्मिक रूप "रसो वैसः" के रूप में ईश्वरीय अनुभूति का पर्याय हो गया है। कांट भी इसे ऐन्द्रिय रूप में समाहित न मानकर मानसिक चिंतन या भावन का विषय मानते हैं।

विन्किलमान के विचारों से प्रेरणा लेकर कांट ने कहा कि उदात्तानुभूति में ऐन्द्रिय संवेदन मन को झकझोरने वाला होने पर भी आध्यात्मिक आत्म-जीवन के उच्च धरातल पर ले जाता है। इन्होंने उदात्त का सौंदर्य के साथ संबंध स्वीकार किया है, किंतु दोनों को कलात्मक अनुभूति के दो पहलू माना है जिनकी प्रकृति में पर्याप्त अंतर है। उदात्त का वर्गीकरण करते समय कांट ने रूप की अनंतता एवं शक्ति की असीमता, उदात्त के दोनों स्रोतों की ओर संकेत किया है। उसका आलंबन कलात्मक मूल्यांकन की पकड़ में नहीं आता, वह हमारे विवेक को विभ्रम में डाल देता है और मन में सौंदर्य की तरह समरसता की अनुभूति के स्थान पर असामंजस्यता उत्पन्न करता है। उदात्त अपेक्षाकृत अधिक व्यक्तिनिष्ठ है। उसकी अनुभूति हेतु हमें आत्मनिर्भर होकर अपनी सांस्कृतिक आध्यात्मिक चेतना का आधार ग्रहण करना पड़ता है। उसका प्रभाव इतना सशक्त है कि सौंदर्य की तरह परिमित ऐन्द्रिय संवेदनों के माध्यम से उसकी अनुभूति प्राप्त नहीं की जा सकती। कांट ने उदात्त को नैतिक चेतावनी कहकर समझाया है। उदात्त सौंदर्यानुभूति के लिए नहीं वरन् नैतिक अनुभूति के लिए अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है।

कांट ने उदात्त के भी दो प्रकार बताये हैं :

(1) गणितीय उदात्त, एवं

(2) गत्यात्मक उदात्त।

गणितीय उदात्त किसी भी वस्तु की तुलना से परे होता है। आकार की असीमता का बोध होता है और इसकी अनुभूति कल्पना व ज्ञान की अंतःक्रीड़ा में होती है। गत्यात्मक उदात्त की अनुभूति कल्पना व इच्छा की अन्तःक्रीड़ा से उत्पन्न होती है और इससे प्रकृति की अरोध्य शक्ति एवं गति का बोध होता है।

कांट के अनुसार उदात्त की भावना के उदय के साथ व्यक्ति के मन की संवेदनाएँ और बोध अवरुद्ध हो जाते हैं, जैसे समुद्र की असीमता, तारोंभरा आकाश। इनके आकार का एक उचित बोध पा लेने में बुद्धि व संवेदना असफल रहती है। कांट के अनुसार ऐसी स्थिति में हमारी जीवन-शक्ति में गतिरोध उत्पन्न हो जाता है, किंतु फिर स्थिति बदलती है और पराजित कल्पना स्वयं अपने अंदर लौट आती है तथा तब वह अपनी व्यापकता की अनुभूति करती है। कांट के

अनुसार वस्तुतः उदात्त तत्त्व प्रकृति में नहीं, केवल हमारे अंदर है। हम तो केवल एक अनिश्चित अनुग्रह के कारण उदात्त को प्राकृतिक वस्तु से संबंधित कर देते हैं। वस्तुतः वे प्रज्ञा के प्रत्ययों के प्रतीक हैं तथा ये प्रत्यय ही ईश्वर, आत्मा और अमरता आदि के उदात्त तत्त्व हैं।

अंत में, कांट ने एक प्रतिभा-शक्ति मानी है जिसके आधार पर सौंदर्य-रचना एवं अनुभूति होती है। यह सौंदर्यानुभूति सभी को नहीं होती। सामान्य को तो सापेक्ष की अनुभूति होती है एवं प्रतिभा प्राकृतिक देन है। कांट ने इसे प्रज्ञा का एक भाग बताकर कहा कि यह विवेक के रूप में व्यक्ति के मन में काम करती रहती है। यह रचना-प्रक्रिया या प्रतिभा-शक्ति का चिंतन अद्‌भुत रूप से नया लगता है। प्रतिभा किसी नियम का अनुसरण नहीं करती वरन् नियम प्रतिभा का अनुसरण करते हैं। कांट ने कहा है कि प्रतिभा प्रकृति है और वह विवेक के रूप में व्यक्ति के मन में क्रिया करती है। कांट ने वैज्ञानिक एवं कलाकार की प्रतिभा में भी अंतर किया है। विज्ञान के नियम सभी के लिए ग्राह्य हैं, किंतु कलाकार की रचना-प्रक्रिया बहुत ही गूढ़, अस्पष्ट और पहेली जैसी होती है। स्वयं कलाकार अपनी रचना-प्रक्रिया की व्याख्या नहीं कर सकता और न ही वह दूसरों को सिखा सकता है। इस तरह प्रतिभा के लिए कोई नियम नहीं है। उसकी कृतियों को आदर्श बनाकर नियम-निर्माण किया जा सकता है। कांट ने प्रतिभा को सौंदर्यमूलक प्रत्ययों का आलय भी बताया है। जिन प्रत्ययों को बौद्धिक प्रक्रिया से नहीं समझा जा सकता, उन्हें कलाकार अपनी प्रतिभा के बल पर साकार रूप देता है।

गेटे (1749-1832 ई०)

गेटे अनुभूति को ही सर्वस्व मानते हैं। इनके लिए सौंदर्य प्रकृति की वस्तु है जिसे विवेक एवं तर्क से नहीं वरन् अनुभूति एवं प्रेम के माध्यम से प्राप्त किया जा सकता है। ये कल्पना और बुद्धि के समन्वय पर बल देते हैं। इनके अनुसार रचना-प्रक्रिया में बुद्धि व कल्पना का द्वन्द्व समाप्त हो जाता है। हमारी कलात्मक कल्पना प्रकृति का पुनः उत्पादन करती है जो कलाकृति में ही प्रतिबिम्बित होती है। गेटे ने सौंदर्य को जीवन की एक आकस्मिक घटना माना है। यही सौंदर्य अनन्त प्रेरणा स्रोत है क्योंकि सौंदर्य प्रेम से उत्पन्न होता है। कोई वस्तु या आकृति हमें इसीलिए सुन्दर लगती है कि हम उससे प्रेम करते हैं। इसी सौंदर्य व प्रेम से प्रेरित होकर कलाकार कला का सृजन करता है।

डब्ल्यू० वी० हम्बोल्ट [W. V. Humboldt]

इनके अनुसार कला, कल्पना के माध्यम से प्रकृति का निरूपण करती है अर्थात् पहले कला प्रकृति की वास्तविकताओं को नष्ट करती है, फिर कल्पना शक्ति के माध्यम से उसका पुनः निर्माण करती है। कलाकार प्रारंभ में किसी सुंदर वस्तु को देखता है यह पहला स्तर है, फिर वह उसी के अनुरूप दूसरी वस्तु को सृजित करने की इच्छा से उत्तेजित होता है। अंत में वह चमत्कृत होकर अपने अनुभवों को प्रारूप देता है। यही रचना-प्रक्रिया है जिसका अनुभव आनंददायक है। इस प्रकार रचना-प्रक्रिया में तीन बातें प्रमुख हैं-निश्चित वस्तुपरकता, ऐन्द्रिय व जीवन्त तथा वस्तुगत नियमों पर आधारित। ये प्रक्रियाएँ हम्बोल्ट के अनुसार अत्यन्त गूढ़ और रहस्यमय हैं।

एफ॰ शिलर [F. Schiller] (1759-1805 ई॰)

शिलर कांट के विचारों से प्रभावित थे, फिर भी इन्होंने कांट के विचारों को और स्वतंत्र रूप से विकसित किया। कांट ने कहा था कि सौंदर्यानुभूति मस्तिष्क के ज्ञान विभागों की सामंजस्ययुक्त क्रीड़ा है। इस विचार को शिलर ने क्रीड़ा-प्रवृत्ति नामक सिद्धान्त से समझाया। शिलर के अनुसार, सौंदर्य व्यवहार जगत की स्वतंत्रता है। एक ओर तो वह प्राकृतिक नियमों से स्वतंत्र है दूसरी ओर नैतिक नियमों से युक्त है। सौंदर्य रूप व वस्तु की संयोजक कड़ी है, लेकिन शिलर के लिए रूप व वस्तु दो अलग-अलग सत्ताएँ नहीं हैं बल्कि एक है। रूप का (आश्रय) लेकर कवि वस्तु को गढ़ता है। यह शिलर का नया विचार था। मनुष्य रूप और वस्तु दोनों है, इसलिए इनके बीच संतुलन आवश्यक है। संतुलन लाने का यह कार्य मनुष्य मन में निहित क्रीड़ा प्रवृत्ति करती है। यही क्रीड़ा प्रवृत्ति सौंदर्य की रचना करती है। कला एक क्रीड़ा है लेकिन यह अचेतन और आनंददायक है। इस प्रकार कला वास्तविक रूप से भिन्न है क्योंकि क्रीड़ा के नियमों का ध्यान रखना पड़ता है। कला की क्रीड़ा में नियम का अनुगमन करना पड़ता है, किंतु ये नियम स्वयं स्वतंत्र रचना होते हैं। न तो ये नियम प्राकृतिक आवश्यकताओं के अनुसार होते हैं, न ही नैतिक आदर्शों के अधीन, लेकिन साथ ही इन नियमों का प्राकृतिक और नैतिक नियमों से कोई द्वन्द्व भी नहीं होता। इसलिए व्यवहार और परमार्थ जगत के मिलन-बिन्दु क्रीड़ा का यही क्षण है-सौंदर्य व्यवहार जगत की स्वतंत्रता है और इसी क्रीड़ा प्रवृत्ति की वस्तु है। आदमी तभी पूर्ण आदमी होता है जब वह क्रीड़ारत होता है। यही उसकी सौंदर्यानुभूति का वास्तविक क्षण होता है। जीवन एक कला है और कला एक जीवन है, इन दोनों बातों का समन्वय शिलर के विचारों में हो जाता है। लगभग शिलर के समय से ही रोमांटिसिज्म शुरू हो जाता है। शिलर के विचारों में भी पर्याप्त रूप से रोमांटिसिज्म विचार थे, लेकिन वे सचेत रूप से इसमें भाग नहीं ले सके थे।

फिक्टे के अनुसार सौंदर्य प्रकृति में नहीं वरन् दर्शक की सुंदर आत्मा में निहित होता है। कला इसी सुन्दर आत्मा की अभिव्यक्ति है। सौंदर्य दर्शक के दृष्टिकोण पर निर्भर करता है, इसीलिए सौंदर्य बाह्य जगत की वस्तु नहीं है वरन् वह कलाकार व दर्शक की आत्मा में निहित है।

शेलिंग के अनुसार प्रकृति एवं आत्मा के दो रूप हैं-एक अचेतन है और दूसरा चेतन। कला इन्हीं दोनों को एकता प्रदान करती है। कला और प्रकृति में सादृश्यता है तथा सौंदर्य असीम में उपस्थित असीम का लघुचित्र है। रोमांटिक कला की तुलना इन्होंने एक समुद्र से की थी जिसमें बौद्धिक विकास की धाराओं, दर्शन, विज्ञान, धर्म और राजनीतिक धाराओं का समागम हो गया है, किंतु सौंदर्य आवश्यकता और स्वतंत्रता से मुक्त है, इसी कारण सौंदर्य सत्य तथा शिव के बीच संबंध स्थापित करता है। शेलिंग के अनुसार कला सौंदर्य प्राप्ति का सर्वोत्तम माध्यम है।

जी॰ डब्ल्यू॰ एफ॰ हीगेल [G. W. F. Hegel] (1770-1831 ई॰)

हीगेल का जन्म 27 अगस्त, 1770 ई॰ को हुआ था। ये जर्मन दार्शनिक थे। हीगेल से ही मार्क्सवाद निकला जिसने पाश्चात्य राजनीतिक व्यवस्था में भारी परिवर्तन ला दिया था। हीगेल ने सारी सृष्टि को विचार के विकास का परिणाम मानते हुए पक्ष (थेसिस), प्रतिपक्ष (एंटीथेसिस) तथा

समन्वय (सिंथेसिस) का उल्लेख किया है। कार्ल मार्क्स ने विकास की इस प्रक्रिया को पदार्थ के स्तर पर स्वीकार किया है जिसका सामाजिक स्तर पर अर्थ होगा-आर्थिक व्यवस्था के स्तर पर इस प्रक्रिया को स्वीकार करना, स्थूल एवं गोचर परिस्थितियों तथा उनके संघर्ष के आधार पर मानव संस्कृति के विकास की व्याख्या करना। यह व्याख्या इतिहास की विचारात्मक या आदर्शवादी व्याख्या कहलाती है तथा यह सिद्धान्त आध्यात्मिक विकासवाद का सिद्धान्त कहलाता है जो पश्चिम में हीगेल तथा भारत में अरविंद में लक्षित होता है। प्रायः यह कहा जाता है कि जर्मन दर्शन में कांट का वही स्थान है जो यूनानी दर्शन में प्लेटो का है तथा कांट की तुलना में हीगेल को जर्मन दर्शन का अरस्तू कहा जाता है। यह सत्य है कि हीगेल का दर्शन कांट से विशेषतः प्रभावित है, किंतु फिर भी दोनों में प्रकारिक अंतर है। कांट भौतिकीय विद्वानों से प्रभावित थे तथा हीगेल समाज-दर्शन तथा मानव-इतिहास से प्रभावित होते हुए दर्शन में विकास पर बहुत बल देते थे। तथापि उनके दर्शन को विकासवादी नहीं कहा जा सकता क्योंकि उन्होंने किसी विकास-सिद्धान्त को नहीं अपनाया है। उनके दर्शन में परिवर्तन एवं विकास का वही स्थान है जो अरस्तू के दर्शन में पाया जाता है।

जर्मन सौंदर्यशास्त्र को कांट के पश्चात् हीगेल ने ही सर्वाधिक सुदृढ़ सैद्धान्तिक आधार एवं सार्वभौम परिप्रेक्ष्य प्रदान करने का प्रयास किया। इनका महत्त्व सौंदर्यशास्त्र के इतिहास में विशेषतः इसलिए है कि उन्होंने समस्त ललितकलाओं के सामान्य तत्त्वों के आधार पर एक व्यवस्थित कला सिद्धान्त का निर्माण किया जिसके अंतर्गत प्रत्येक ललितकला की विशेषताओं का निरूपण करते हुए उनमें अन्तरावलम्बन एवं तारतम्य स्थापित किया। हीगेल का सौंदर्यशास्त्र पूर्ववर्ती समस्त विरोधों को समाप्त करने का प्रयास है। स्वयं हीगेल ने अपने दर्शन को अपने सभी पूर्ववर्ती चिंतनों का अंतिम निचोड़ समझा है तथा यूनानी विचारधारा को दर्शन का प्रभात एवं जर्मन विचारधारा को दर्शन की संध्या समझा है। हीगेल दर्शन को पूर्ववर्ती विचारों का निचोड़ कहने का तात्पर्य है कि इसमें यूनानी एवं कांट के विचारों का सम्मिश्रण व समन्वय है। किंतु हीगेल के दर्शन की आधारशिला तो यूनानी है, किंतु उनके दर्शन की इमारत की वास्तुकला जर्मनी है जिसमें फिख्ते तथा शेलिंग की अपेक्षा कांट का बहुत बड़ा योगदान है। हीगेल के संपूर्ण चिंतन को तीन भागों में बाँटा जा सकता है :

(1) **तर्क**-इसमें विचार एवं तर्क का संबंध बताने का प्रयास किया है।

(2) **प्रकृति का दर्शन**-इसमें प्रकृति के विकास को समझाने हेतु तर्क दिये हैं।

(3) **आत्मा का दर्शन**-इसमें इतिहास, सांस्कृतिक-परिवर्तन, कला, धर्म व दर्शन पर विचार किया है। कला, धर्म एवं दर्शन को एक-दूसरे से संबंधित बताकर समन्वय स्थापित करने का प्रयास करते हुए क्रमशः विकास बताया है।

कला क्या है ?

हीगेल का कला-दर्शन प्रत्यय जगत या विश्वात्मा पर निर्भर है। इनके अनुसार दृश्यमान जगत आभास-मात्र है, अतः ये विश्वात्मा को ही विकास का मूल तत्त्व एवं शक्ति मानते हैं। जिस प्रकार स्पेन्सर ने भूतात्मक संघटन को, सेम्युएल ऐलेक्जेण्डर ने अनिर्वचनीय प्राकृतिक संबंध को,

और लाइबनीज ने चित्र बिन्दु को मूल-तत्त्व माना है, उसी प्रकार हीगेल ने विश्वात्मा को विकास का चरम तत्त्व माना है। इसके विविध रूपों को ध्यान में रखते हुए हीगेल ने उसे ऐब्सोल्यूट, मांइड या इंटेलिजेंस भी कहा है। यह सृष्टि चैतन्य के विकास का ही परिणाम है। मनुष्य के रूप में चैतन्य की श्रेष्ठ अभिव्यक्ति हुई है। विकास का गुण चैतन्य का सहज गुण है और इसलिए यह चेतन विकास मर्यादित रूप में होता है। इसका तात्पर्य है कि मानव-बुद्धि इस विकासवाद के स्वरूप को तथा रहस्य को समझने में समर्थ है। इस प्रकार हीगेल ने बुद्धि की सीमाएँ कांट के समान स्वीकार नहीं कीं।

हीगेल का सौंदर्य-दर्शन त्रयात्मक है। द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया के अनुसार उनकी विश्वात्मा का विकास तीन स्तरों पर होता है जिसे प्रायः "कला-दर्शन का हीगेलीय-त्रय" कहा जाता है। विश्वात्मा स्वयं को तीन अवस्थाओं में प्रकट करती है-वाद, प्रतिवाद तथा संवाद। इन तीन अवस्थाओं का व्यक्तिकरण तीन दार्शनिक स्थलों पर होता है - तर्क, प्रकृति तथा मन। इस प्रकार विश्वात्मा इन तीनों धरातलों पर क्रमशः सूक्ष्मता से "तर" से "तम" की ओर बढ़ती जाती है। पुनः यह मन तक पहुँचकर तीन अवस्थाओं में प्रकट होती है-सब्जेक्टिव, ऑब्जेक्टिव तथा एब्सोल्यूट। इनकी अवस्था में पहुँचती है तब उच्चस्तरीय कला की सृष्टि होती है। अधिकांश भारतीय कला-विचारक भी एब्सोल्यूट को महत्त्व देते हैं जो "सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम्" की चिर-परिचित त्रयात्मकता में व्यक्त है।

कला, धर्म और दर्शन-ये तीनों चेतन विकासवाद के सर्वश्रेष्ठ तत्त्व हैं। यद्यपि इनकी सृष्टि मानव-मन ने की है तथापि मन की उच्चतर शक्तियों का सहारा लेकर ही उन्होंने रूप ग्रहण किया है और इसलिए उनमें चेतन या विश्वात्मा ही व्यक्त होती है। हीगेल के अनुसार कला वस्तुतः विचार का ऐन्द्रिय अवतार है अर्थात् विचारों का संवेदनात्मक प्रस्तुतिकरण ही कला में होता है। कला में विचार को इस रूप में उतारा जाता है कि वह इन्द्रियों द्वारा बोधगम्य हो जाये। इस दृष्टि से कला मस्तिष्क की वस्तु है। हीगेल ने समन्वय स्थापित करते हुए कहा कि कला मस्तिष्क की वस्तु होने के साथ-साथ अनुभव एवं ज्ञान की भी वस्तु है। कला का विषय तो विचार है और उसका रूप विचार की ऐन्द्रिय अभिव्यक्ति है। इस प्रकार हीगेल के कला विवेचन में विषय और रूप, विचार और अभिव्यक्ति द्वैत हैं। इन दोनों में अन्ततः विचार ही प्रधान है। जो कला विचार को जितनी स्पष्टता एवं प्रधानता के साथ व्यक्त करेगी वह उतनी ही श्रेष्ठ होगी। यदि कला विचार का प्रस्तुतिकरण है तो यह भी विचार के समान ही ज्ञान के भाग में स्थित है तथा विचार सत्य है अतः यह भी सत्य है। ललितकलाओं में श्रेष्ठता का आधार विचार की स्पष्ट अभिव्यक्ति है। इस प्रकार रूप या सामग्री के संकोच से विचार की प्रधानता होती जायेगी। जहाँ सामग्री विपुल है वहाँ चेतना उसकी विपुलता में ही अटक कर रह जायेगी तथा मूल विचार तक पहुँचने में बाधित होगी। जैसे-जैसे सामग्री का संकोच होगा, वैसे-वैसे ही विचार अधिक प्रत्यक्ष होगा और कला में उत्कर्ष आयेगा। किंतु हीगेल ने आगे और समन्वय स्थापित करते हुए कहा कि "अंतिम विचार क्या होगा ? घृणा, सुख-दुःख, प्रेम, करुणा आदि विचार तो हैं किंतु अंतिम नहीं। अंतिम विचार तो आत्मा है।

हीगेल के मतानुसार यह विश्वात्मा परम सत्ता है, वह इसी विश्व में है, सर्वगत और सभी आत्म-चेतनाओं में साकार होती रहती है। विश्वात्मा सक्रिय, जीवित तथा सभी कार्यों में निहित

उनकी अनुप्राणित शक्ति है अर्थात् यह विश्वात्मा जड़-जीव, मानव द्वारा साकार होकर क्रमशः परिपूर्ण होती रहती है और मानव, विज्ञान, कला, धर्म तथा दर्शन में साकार एवं वाचाल होती है। यह विश्वात्मा जड़ प्रकृति में मूक, जीवन तथा मानव में ही निखरित होकर आत्मबोध को प्राप्त करती है। यह विश्वात्मा अपने निजीपन में अमूर्त रहती है। स्वयं को साकार करने हेतु अपने से इतर और एकदम भिन्न रूप में जड़-प्रकृति की रचना करता है। हीगेल ने विश्वात्मा को कर्त्ता और चेतन माना है। यदि सीमित वस्तुएँ ही न हों तो उनमें निहित विशिष्ट गुणों तथा सामान्य की उद्‌घाटन-प्रक्रिया कैसे होगी ? अतः हीगेल के अनुसार विश्वात्मा परिमित में अपरिचित तथा व्यक्तित्वपूर्ण में निर्वैयक्तिक रूप से पायी जाती है। हीगेल ने विचार को भी दो भागों में बाँट दिया है- (1) शुद्ध विचार और (2) अशुद्ध विचार। शुद्ध विचार वह है जिसे इन्द्रियों से किसी भी अंश में प्राप्त नहीं किया हो तथा अशुद्ध विचार वह है जिसे अनुभवाश्रित कहा जा सकता है। विश्वात्मा सूक्ष्म वस्तु है। यह शुद्ध विचार है जिसका ज्ञान प्रज्ञा के माध्यम से होता है। कला भी विश्वात्मा की ही अभिव्यक्ति है। विश्वात्मा कई प्रकार से अभिव्यक्त होती है। विचार के स्तर पर दर्शन के रूप में, अनुभव के स्तर पर धर्म के रूप में तथा जब हमारी अनुभूति के रूप में अभिव्यक्त होती है तब वह कला कहलाती है। कला आत्मा की अभिव्यक्ति तो है किंतु आत्मा का ज्ञान प्रज्ञा के माध्यम से होता है जबकि कला का ज्ञान इन्द्रियों के माध्यम से होता है। इन्द्रियों से प्राप्त ज्ञान के आधार पर कला अशुद्ध विचार सिद्ध होती है। किंतु प्रज्ञा भी तो इन्द्रियों के माध्यम से ही अनुभूति करती है, ज्ञान प्राप्त करती है। इस प्रकार अनुभवजन्य ज्ञान, प्रज्ञात्मक एवं इन्द्रियात्मक ज्ञान के बीच की कड़ी है।

हीगेल ने कला को सत्य की अभिव्यक्ति भी कहा है। यह उसी सत्य की निम्न श्रेणी की अभिव्यक्ति है जो धर्म व दर्शन में उच्च स्तर पर अभिव्यक्त होता है। मानव की "समझ" के तीन स्तरों के आधार पर ही विश्वात्मा जो स्वयं सत्य है, तीन रूपों में व्यक्त होती है-कला, धर्म व दर्शन। हीगेल ने कहा है कि "कला वाद है, धर्म प्रतिवाद है तथा दर्शन संवाद है।" विश्वात्मा कला की अपेक्षा धर्म में अधिक स्पष्टतः व्यक्त होती है। चूँकि कला का माध्यम भाव संवेग होता है जबकि धर्म में प्रतीक माध्यम होता है। धर्म के रूप में भी विश्वात्मा की कल्पना आवश्यक है। कला व धर्म सामान्य लोगों की समझ के अनुरूप हैं। इन दोनों की अपेक्षा केवल दर्शन में ही शुद्ध विचार के अवलम्बन से विश्वात्मा सरलता, स्पष्टता एवं प्रधानता से परिपूर्ण रूप में अभिव्यक्त होती है। यही बात गीता दर्शन में भी कही गयी है। इसमें मुक्ति एवं योग का मार्ग सर्वसाधारण हेतु बताया गया है तथा ज्ञान का मार्ग विशिष्ट बुद्धि वाले लोगों हेतु बताया गया है। इस प्रकार कला, धर्म एवं दर्शन की विषयवस्तु तो एक ही है-विश्वात्मा। केवल इसे अभिव्यक्त करने के माध्यम अलग-अलग हैं। कला में यह मूर्तरूप में व्यक्त होती है। सफल कला के लिए आवश्यक है कि अभिव्यक्ति उचित रीति से संवेगात्मक स्तर पर हो सके। इस प्रकार विषयवस्तु या विचार जितना उत्कृष्ट होगा, कलात्मक अभिव्यक्ति भी उतनी ही उत्कृष्ट एवं सूक्ष्म होगी। उदाहरणार्थ, मुस्लिम धर्म की विषयवस्तु ऐसी है कि उसकी कलात्मक अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। बौद्ध धर्म एवं ईसाई धर्म की कल्पना मुस्लिम तथा ज़ियो धर्म की कल्पना से विस्तृत व उच्च है, अतः इनकी कलात्मक अभिव्यक्ति भी श्रेष्ठ है।

हीगेल के इस विश्वात्मा के विचार में वेदान्त-दर्शन की अभिव्यक्ति पाई जाती है। उपनिषदों के अनुसार परम-सत्ता एक है। इस एक परम सत् ने अपने अकेलेपन को दूर करने हेतु उद्घोष किया कि "मैं अनेक हो जाऊँ।" इस उद्घोष के साथ उसी का प्रतिबिम्ब पाकर यह सृष्टि निर्मित हुई। हीगेल के दर्शन में भी विश्वात्मा सूक्ष्म है तथा सूक्ष्म की अभिव्यक्ति स्थूल में उतनी श्रेष्ठता से नहीं होगी जितनी सूक्ष्म में। सूक्ष्म की अभिव्यक्ति का माध्यम जितना स्थूल होगा, अभिव्यक्ति भी उतनी ही स्थूल होगी। इस प्रकार हीगेल ने विश्वात्मा की तीन अवस्थाओं या माध्यम के आधार पर कला को तीन अवस्थाओं में रखा है :

(1) प्रतीकात्मक अवस्था,

(2) शास्त्रीय अवस्था, एवं

(3) रोमांटिक अवस्था,

हीगेल ने ललितकलाएँ पाँच मानी हैं :

(1) वास्तुकला,

(2) मूर्तिकला,

(3) चित्रकला,

(4) संगीत कला; तथा

(5) काव्य कला।

इन सभी कलाओं में क्रमशः विचार की सूक्ष्मता ऊर्ध्व गति से वर्तमान होती हुई अंतिम तीन कलाओं में एब्सोल्यूट को स्वायत्त कर लेती है। संक्षेप में हीगेल के सौंदर्य दर्शन को इस प्रकार रख सकते हैं :

Thesis	-	Anti-Thesis	-	Synthesis
Logic	-	Nature	-	Mind
Subjective	-	Object	-	Absolute
Symbolic	-	Classical	-	Romantic
पक्ष	-	प्रतिपक्ष	-	समन्वय
तर्क	-	प्रकृति	-	विचार
विषय	-	वस्तु	-	परम सत्य
प्रतीकात्मक	-	शास्त्रीय	-	रोमांसवादी

कला

प्रतीकात्मक	शास्त्रीय	रोमांटिक
(वास्तुकला)	(मूर्तिकला तथा आंशिक रूप से चित्रकला)	(चित्रकला, संगीत कला तथा काव्य कला)

(1) प्रतीकात्मक कला

जब मानव आत्म-चैतन्य की स्थिति तक पहुँचा ही था, तभी इस प्रतीकात्मक कला का जन्म हुआ। प्रतीक का तात्पर्य है कि सामग्री पर विचार आरोपित कर दिया गया है। प्रतीक विचार को सहज रूप से व्यक्त नहीं करता वरन् ऐसा मान लिया जाता है कि वह विचार को व्यक्त कर रहा है और विचार उसमें समाहित हैं। यह उस समय की स्थिति है जब मनुष्य स्वयं को प्रकृति में देखने का प्रयास करता है। इसलिए यहाँ विचार भी अपूर्ण रहता है तथा रूप भी दूषित रहता है। प्रतीकात्मक कला में व्यापकता एवं फैलाव होता है तथा इस व्यापकता एवं फैलाव द्वारा विचार को व्यक्त करने का प्रयास किया जाता है। लेकिन विचार को पूरी तरह से समझाना संभव नहीं होता, इसलिए विचार और अभिव्यक्ति में, विषय एवं रूप में पूर्ण सामंजस्य की स्थापना नहीं हो पाती। दोनों में विरोध बना रहता है। इसीलिए हीगेल ने प्राचीन भारतीय कला, मिश्र की कला एवं चीन की कला को अपूर्ण माना है।

मन्दिर प्रतीकात्मक कला का एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण है। मन्दिर के निर्माण द्वारा ईश्वर को एक आवास प्रदान करने का प्रयास किया जाता है। यद्यपि मन्दिर को ईश्वर का घर माना जाता है तथापि मन्दिर ईश्वर को अभिव्यक्त नहीं करता क्योंकि वास्तुकला की सामग्री सबसे अधिक स्थूल है और उसकी रचना यांत्रिक नियमों के आधार पर की जाती है। इस प्रकार इस कला के दो दोष हैं-प्रथम तो इसमें व्यक्त सौंदर्य का प्रत्यय हमारी चेतना का नाममात्र को स्पर्श करता है तथा द्वितीय इसमें अभिव्यक्ति के माध्यम की स्थूलता रहती है। इस कला में अन्तर्वस्तु अभिव्यक्ति की तुलना में अधिक होती है।

प्रतीकात्मक कला में प्रतीक केवल साधन होता है। यहाँ आध्यात्मिकता या चित्र की अभिव्यक्ति प्रतीक द्वारा व्यक्त नहीं हो पाती। प्रतीक एवं परम चित्र में कुछ सामान्य अवश्य होना चाहिये, किंतु दोनों में तादात्म्य नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ, त्रिभुज द्वारा ईश्वर को अभिव्यक्त किया जाता है। परंतु त्रिभुज ईश्वर के त्रियेकत्व ईसाई धर्म में पिता, पुत्र एवं पवित्र आत्मा को, ईश्वर के सृष्टि-कर्त्तव्य पालन तथा संहार के त्रिभुज को, ब्रह्मा, विष्णु, महेश के त्रयादि को व्यक्त कर ईश्वर का प्रतीक होता है। किंतु त्रिभुज एक समय में नील नदी का तथा उर्वरता का प्रतीक था, तो अब भारत में त्रिभुज को परिवार नियोजन का प्रतीक माना जाने लगा है। इस प्रकार कला में प्रतीक अनेकार्थक होता है और इसी कारण वह परम तत्त्व को निश्चित रूप से भासित नहीं कर सकता। इसमें परम चित्त का संकेत तो मिलता है पर अभिव्यक्ति नहीं हो पाती। इस कला में कलाकार को परम सत्ता और प्रतीक के मध्य भेद का ज्ञान तो होता है परंतु इन दोनों पक्षों का समन्वय नहीं हो पाता। प्रतीक ईश्वर या विचार को अभिव्यक्त करने में उससे इतर एवं केवल बाह्य रूप होता है। प्रतीक ईश्वर द्वारा परिवर्तित होकर ईश्वर से ओतप्रोत नहीं हो पाता। इसी प्रकार परम चित्त भी प्रतीक का अन्तर्वर्ती रहस्य नहीं रह पाता अर्थात् कलाकार को प्रतीक एवं परम चित्त के पृथकत्व का ज्ञान होता है, किंतु इन दोनों के समन्वय के उपरांत आत्मज्ञान या परम चित्त की आत्मचेतना उत्पन्न नहीं होती। यह तभी संभव है जब प्रतीक एवं परम चित्त के बीच मूर्त एकीकरण हो जाये। पहले तो सामान्य एवं विशिष्ट में साकार होकर मूर्त सामान्य का रूप धारण कर लेता है। वह विशिष्ट या प्रतीक जो परम चित्त को स्वयं में साकार कर परम चित्त की

अभिव्यक्ति में सार्थक होता है उसे हीगेल ने व्यष्टि की संज्ञा दी है। यह व्यष्टिपूर्णता हीगेल के मतानुसार यूनानी कला में ही है। प्रतीकात्मक कला की समन्वय के अभाव से उत्पन्न अस्पष्टता, विकृति तथा विरूपता के परिणामस्वरूप शास्त्रीय कला जन्म लेती है। जब हम नयी अभिव्यक्ति खोजने का प्रयास करते हैं जिसमें हमारी कल्पना व अभिव्यक्ति समन्वित हो जाये, तब इसमें रूप अपनी वस्तु तथा विषयवस्तु अपना रूप प्राप्त करती है।

(2) शास्त्रीय कला

हीगेल के मतानुसार यूनानी कला को चिर्-प्रतिष्ठित या शास्त्रीय कला कहा जा सकता है। इसमें अन्तर्वस्तु एवं रूप में समन्वय पाया जाता है। इस कला में परम चित्त सौंदर्य वस्तु का अंतर्वर्ती प्राण तथा तत्त्व होता है और अन्तर्वस्तु भी पूर्णतया अंतर्वर्ती परम चित्त की शक्ति से परिवर्तित होकर व्यष्टि को प्राप्त करती है। यह सत्य है कि इसमें विश्वात्मा का आभास मानव-शरीर द्वारा होता है। किंतु यह आदर्श मानव शरीर में विश्वात्मा की कल्पना है सामान्य में नहीं। आदर्श मानव रूप में ही प्राण-प्रतिष्ठा की गयी है। शास्त्रीय यूनानी कला में देवता तथा देवी पूर्णतया व्यक्तित्वपूर्ण देखने में आते हैं जिनके द्वारा परम चित्त की अभिव्यक्ति भी पूर्ण होती है। हीगेल ने कहा भी है "यूनानी शास्त्रीय कला अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गयी है क्योंकि वहाँ मानवाकृति में प्राण-प्रतिष्ठा की गयी है। इससे सुंदर कला न हो सकती है, न होगी।" शास्त्रीय कला में सौंदर्य या विश्वात्मा का उचित मूर्त नहीं होता है। इसमें अभिव्यक्ति का स्वरूप उतना अधिक स्थूल नहीं रहता। कुल मिलाकर इस कला में विचार या बिम्ब की एक पारस्परिक अनुकूलता प्रस्थापित हो जाती है और इन दोनों में एक समतोल निष्पन्न हो जाता है, किंतु कला का विकास नहीं रुक जाता। हीगेल मूर्तिकला को अधिक विकसित मानते हैं। मूर्तिकला में वास्तुकला की अपेक्षा कम सामग्री का उपयोग होता है। दूसरे मूर्ति का निर्माण यान्त्रिक नियमों के अनुसार नहीं होता वरन् यहाँ एक नवीन तत्त्व का उदय होता है और यही तत्त्व आदर्श मानव रूप है। इसीलिए हीगेल के मतानुसार मूर्तिपूजा आत्मा के पतन का संकेत नहीं है वरन् वह तो आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख करती है, किंतु फिर भी हीगेल का कहना है कि ईश्वर का मानव-रूप वस्तुतः चिंतन की अपरिपक्वता का ही परिचायक है। ये शास्त्रीय कला में विषम एवं आकार में पूर्ण समन्वय रहने पर भी इसे श्रेष्ठ नहीं मानते क्योंकि यूनानी कला में देवी-देवता सुंदर अवश्य दिखाई देते हैं, पर ये सब एक ओर सीमित तथा दूसरी ओर अर्द्धमुक्त दिखाई देते हैं। सीमित तो वे अवश्य होंगे ही क्योंकि कोई भी इन्द्रियनिष्ठ वस्तु अपरिमित नहीं हो सकती। किंतु यूनानी कला के देवी-देवता न तो पूर्णतया नीतिवान हैं तथा न ही वे मुक्त प्रतीत होते हैं। ऐसा लगता है कि कोई अदृष्ट या प्रारब्ध है जिसके अनुसार देवी-देवताओं का जीवन संचालित होता है। फिर यूनानी कला इस रूप में भी सममित लगती है कि इसमें सभी प्रकार के तत्त्वों का समन्वय नहीं हो पाता। इस प्रकार जब मन विचार को उसके शुद्ध रूप में ग्रहण करने में समर्थ हुआ तो कला का आगे विकास हुआ।

(3) रोमांसवादी कला

शास्त्रीय अवस्था तक विचार को ऐन्द्रिय रूप में अभिव्यक्त करने का प्रयास किया गया, किंतु विचार की शुद्ध अवस्था ईश्वर से या सगुण रूप से उच्च कोटि की है। वह अरूप है, भाव

रूप है, व्यक्त एवं व्याप्त है, आत्म-रूप है। शास्त्रीय कला में सौंदर्य या प्रत्यय की सूक्ष्मता का उत्पादन रहता है और प्रत्यय को पिण्डीभूत बनाने की विशेष प्रवृत्ति रहती है। अतः शास्त्रीय कला में एक ओर सौंदर्य-सृजन की इन्द्रियग्राह्य मूर्तता की उच्चतम दशा मिलती है तो दूसरी ओर इसका व्यपदेश बहुत संकीर्ण होता है अर्थात् मूर्ति-निर्माण जैसी शास्त्रीय कला सौंदर्य या प्रत्यय को सर्वत्र शारीरिक आकार की मूर्तता में बाँधना चाहती है जबकि सौंदर्य एवं अन्य प्रकार के प्रत्यय मनुष्य की अन्तर्मुख मनःचेतना में अवसित रहने के कारण सीमाओं से परे हुआ करते हैं। इस प्रकार सौंदर्य एवं प्रत्यय को शारीरिक आकार की लघु सीमाओं और अभिव्यक्ति की पिण्डीभूत दशाओं से ऊपर रखकर अपेक्षाकृत निस्सीम अभिव्यक्ति देने हेतु रोमांटिक कला की अवतारणा होती है। हीगेल ने कहा है कि "शेष दो प्रकार की कलाएँ जहाँ आत्मा या चेतना के तटवर्ती प्रदेशों में इधर-उधर भटकती रह जाती हैं, वहाँ रोमांसवादी कला आत्मा या चेतना की गहराइयों में उतरकर एक आध्यात्मिक क्रिया बन जाती है।" इस प्रकार रोमांटिक कला का उद्देश्य "प्रतीकात्मक" या "शास्त्रीय" कला के समान सौंदर्य के किसी अंशमात्र का ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष करा देना नहीं रहता है वरन् रोमांसवादी कला में अभिव्यक्त सौंदर्य के साथ ही आत्मा के गहन अंशों की भी अभिव्यक्ति होती है। रोमांसवादी कला का मूल तत्त्व मनोवेग है। मनोवेगों का सहारा लेकर रोमानी कला मनुष्य के भावों, उसकी चेतना और आत्मा को प्रभावित करती है और इस प्रकार अनुभूति के स्तर पर चेतना का मानव-स्वभाव से पूर्ण तादात्म्य ही इसका परम लक्ष्य है। हीगेल का मत है कि "रोमांसवादी कला की विकसित दशा में पहुँचकर मनुष्य का चेतन-जगत या आत्म-जगत् "इदम्" के विवर्त्त पर, रूपतन्मात्राओं से भावित बाह्य जगत पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेता है और तब रोमांसवादी कला का उद्देश्य अभिव्यक्ति की मूर्तता के ऐन्द्रिय प्रत्यक्षों से ऊपर उठ जाता है।" शास्त्रीय कला में निश्चिन्त शांति एवं नित्य आनंद देखने को मिलता है जबकि रोमांसवादी कला में संघर्ष, तनाव, गति व विकास भी देखने को मिलता है। अरूप चेतना को ऐन्द्रिय रूपों में प्रकट करने के प्रयास में विचार की प्रधानता रहती है। ऐन्द्रिय रूप तो संकेत-मात्र करते हैं और जब व्यक्ति विचार करके मर्म तक भाव, विचार या अनुभूति तक पहुँच जाता है, तो वे ऐन्द्रिय रूप अनपेक्षित हो जाते हैं। प्रतीकात्मक कला के समान रोमांसवादी कला में भी विषय एवं रूप में द्वन्द्व रहता है, किंतु यह द्वन्द्व उच्च स्तर पर एवं आत्मिक स्तर पर होता है। प्रतीकात्मक कला में विषय या विचार की अपूर्ण स्वीकृति होती है लेकिन रोमांसवादी कला में विचार अधिक सशक्त होता है और इसलिए वह ऐन्द्रिय रूप को पराभूत कर स्वयं को मुक्त एवं स्वच्छंद रूप से प्रकाशित करने का प्रयास करता है।

हीगेल के इस विश्लेषण का निष्कर्ष यह है कि "प्रतीकात्मक" कला में सौंदर्य या प्रत्यय की अपूर्ण व कलात्मक अभिव्यक्ति होती है मानो इस कोटि की कला सौंदर्य की पूर्ण व कलात्मक अभिव्यक्ति के अन्वेषण में छटपटाकर रह जाती है। इस प्रकार प्रतीकात्मक कला में विषय के अनुरूप विधान की परिपूर्णता नहीं रहती है और इसकी अभिव्यक्ति में वस्तुतांत्रिक पक्ष की प्रधानता हो जाती है। फिर शास्त्रीय कला में विषय और विधान की समानता रहती है, सौंदर्य या प्रत्यय और उसकी अभिव्यक्ति में अनुरूपता तथा संतुलन का निर्वाह रहता है। कला के तीसरे प्रकार रोमांसवादी कला में प्रतीकात्मक कला का विलोम मिलता है क्योंकि इसमें अभिव्यक्ति पक्ष की

सूक्ष्म स्पष्टता विषय को स्वायत्त कर लेती है और सौंदर्य का आत्मिक पक्ष विधान की वस्तुनिष्ठता को पराभूत कर देता है । इसी दृष्टिकोण के आधार पर हीगेल ने कला की दो श्रेणियाँ निर्धारित की हैं :

(1) **वस्तु-तांत्रिक कला**-इसमें प्रतीकात्मक व शास्त्रीय कलाएँ स्थापत्य व मूर्तिकला आती हैं ।

(2) **आत्म-तान्त्रिक कला**-इसमें रोमांसवादी कला अर्थात् चित्र, संगीत तथा काव्य कलाएँ आती हैं ।

सौंदर्य क्या है ?

हीगेल ने कहा है कि सौंदर्य वही है जिसमें परम चित्त इन्द्रियनिष्ठ वस्तुओं के माध्यम से भासित हो । चूँकि परम चित्त का स्वरूप आध्यात्मिक होता है, इसलिए सर्वश्रेष्ठ सौंदर्य-वस्तु वह है जिसमें आध्यात्मिकता ऐन्द्रिय माध्यम से स्वच्छन्दता के साथ दिखाई पड़ती है । सौंदर्य का निकष स्पष्टता और जीवन है । जो वस्तु जितनी जीवंत होगी वह उतनी ही सुंदर और स्पष्ट होगी । स्पष्टता और जीवन विश्वात्मा का संकेत देते हैं । हीगेल के अनुसार, सौंदर्य मात्र भ्रम है क्योंकि सत्य ही एकमात्र सत्ता है और वही विश्वात्मा है । यह विश्वात्मा स्वयं को प्रकृति और कला सौंदर्य के रूप में प्रकट करती है । यह स्वयं को दो प्रकार से व्यक्त करती है-वस्तु और विषयी के रूप में अथवा प्रकृति और आत्मा के रूप में ।

कला का विषय सौंदर्य होता है और सौंदर्य हेतु आवश्यक है कि किसी इन्द्रियनिष्ठ वस्तु के माध्यम से सौंदर्य व्यक्त हो । यह सत्य है कि सौंदर्य-वस्तु को इन्द्रियनिष्ठ होना चाहिये, किंतु इसके साथ ही दूसरी शर्त यह भी है कि निरपेक्ष सत्ता को इस इन्द्रियनिष्ठ वस्तु के माध्यम से भासित होना चाहिये । इसके लिए आवश्यक है कि मानव-चेतना इस स्थिति में हो कि वह इन्द्रियनिष्ठ वस्तु में परम चित्त की उपस्थिति का अन्तर्ज्ञान कर ले । चूँकि बिना इन्द्रियनिष्ठ सामग्री के सौंदर्य-वस्तु संभव नहीं है और चूँकि सामग्रियों में अनेक अंग पाये जाते हैं इसलिए अनेकत्व को एकत्व में व्यवस्थित करने पर भी सौंदर्य-भाव होता है । यह सुंदर में रूप और अरूप का, वस्तु और कल्पना का तथा विचार व आकार के समवाय की ओर संकेत करता है । यह एकीकरण यान्त्रिक भी हो सकता है और जैविक भी । सौंदर्य-वस्तु का आदिरूप प्रकृति की छटा में विद्यमान होता है । प्राकृतिक छटा भी विविध रूपों में पाई जाती है । पत्थर में भी परमचित्त की स्थिति रहती है और इसके विभिन्न अंगों में भी एकीकरण देखने में आता है, किंतु पत्थर की अपेक्षा पेड़-पौधों में अधिक सौंदर्य होता है । पत्थर व पेड़-पौधों में गति नहीं होती इसलिए इनसे अधिक सौंदर्य प्राणियों में होता है । प्राणियों में एकीकरण की व्यवस्था भी जैविक होती है यांत्रिक नहीं । जैविक व्यवस्था में संपूर्ण शरीर अंगों के पारस्परिक सहयोग से जीवित रहता है और शारीरिक अंग भी संपूर्ण शरीर से पुष्ट और संरक्षित रहते हैं । हीगेल ने "सौंदर्य को ललित कला का दर्शन कहा है ।" कला को ये शिष्ट वृत्ति का परिणाम मानते हैं और यह विश्वास करते हैं कि कला स्वतः स्फूर्त प्रतिभा-व्यापार द्वारा निरंतर नाना रूपों में प्रकट होती है । इन्हीं नाना रूपों के कारण उसके किसी निश्चित

रूप का अभाव दिखाई पड़ता है। हीगेल का यह विश्वास भी था कि हम कला को बहिरंग साधनों के माध्यम से ही समझ सकते हैं। वस्तुतः उसके पीछे एक अज्ञात प्रेरणा काम करती रहती है जो स्वतंत्र होकर भी युक्ति से परिशोध्य है और शिल्पी प्रेरणा की अवस्था में भी असम्बद्ध नहीं रहा करता। जिस प्रकार प्लेटो ने कला को प्राकृतिक जगत का अनुकरण मानकर प्राकृतिक जगत की अपेक्षा उसे हीन बताया था, उसके विपरीत हीगेल ने कला को आत्मा का चैतन्य धर्म माना, अनुकरण नहीं। उनका विचार था कि कला के समान सप्राणता अन्य किसी में नहीं होती। हम जो कुछ देखते हैं उसे कला में पुनर्जीवित अवस्था में प्रस्तुत करते हैं। कला सृष्टि के समय मन प्रयोजनरहित हो जाता है, साथ ही विशिष्टता-संपन्न भी रहता है। इस प्रकार आत्मा में सौंदर्य होता है और कला आत्मा का चैतन्य धर्म है, अतः उसमें भी सौंदर्य निहित है। सौंदर्य के समस्त लक्षण ललितकलाओं पर घटित होने के साथ उसी प्रकार प्रकृति के रूपों पर भी घटित होते हैं। फूल का रूप, चाँदनी की कोमल आभा, कोकिल की कूक आदि सभी में ऐसे गुण विद्यमान हैं जो हमारी चेतना को चमत्कृत करते हैं। इनके विषय में हमारी संवेदना व्यक्तिगत रागद्वेष से मुक्त, तटस्थ और निरपेक्ष होती है। इनके रूप का भी हम आस्वादन करते हैं। ऐन्द्रिय आस्वादन ही प्रत्यक्ष मात्र नहीं है। इनकी अनुभूति में भी ज्ञानेन्द्रियों के अतिरिक्त कल्पना का योगदान निश्चय ही रहता है। भारतीय आलोचकों के अनुसार ऐसा प्रत्येक पदार्थ सुंदर है जिसके भावन या सृजन में मानव अपनी सक्रिय चेतना या उस परम चेतना, जिसके वे अंग हैं; के अव्यक्त आशय को व्यक्त करता है या अपने लिए गोचर बनाता है। किंतु हीगेल ने इस मत का विरोध करते हुए प्राकृतिक सौंदर्य को ललितकला के सौंदर्य से हेय बताया है।

हीगेल प्राणवान वस्तु में विरुद्ध जातीय सत्ताओं की उपस्थिति के कारण विशेष सौंदर्य मानते हैं जो जड़ वस्तु में नहीं होता। इनका प्रबल तर्क है कि प्रकृति में मानस तत्त्व का अभाव रहता है। उसमें यदि मानस तत्त्व की प्रतीति होती है तो यह आरोपित ही हो सकती है और मानस तत्त्व के अभाव में सौंदर्य की परिकल्पना अपूर्ण ही रहती है। प्रकृति में ऐन्द्रिय आकर्षण है। कल्पना व भावना को उद्‌बुद्ध करने की क्षमता है, किंतु मानस तत्त्व का अभाव ही प्रकृति में न तो स्वतः आत्मप्रसार की शक्ति है और न ही वह स्वतंत्र है, इसलिए प्रकृतिगत सौंदर्य को इन्होंने कलागत सौंदर्य से हेय माना है। इनके विचार से वास्तविक सौंदर्य व्यापकता व स्वतंत्रता में होता है। हीगेल ने दूसरा तर्क दिया है कि सौंदर्यानुभूति लौकिक पदार्थों के साक्षात् अनुभव से भिन्न होती है। प्रकृति के मधुर, शांत, उदात्त, अरूप एवं भयावह आदि अनेक रूप हो सकते हैं। सौंदर्यानुभूति तो प्रीतिकार होती है। हीगेल प्रकृति को जड़ न मानकर उसे चित्त का असीम प्रकाश मानते हैं। प्रकृति मानव मन में प्रसार कर जाती है तथा स्वतंत्र रूप ग्रहण करके कला सृष्टि के रूप में उपस्थित हो जाती है। यदि हम किसी वस्तु को प्रत्युत्तर में सुंदर नहीं देखते तो वह स्पष्टतः कुरूप है। अतः उसकी अनुभूति को सौंदर्यानुभूति मानने का प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार इन्हीं प्राकृतिक पदार्थों की कलात्मक अभिव्यक्ति जो प्रत्यक्षतः शोककर व अपरूप है; कला निबद्ध होकर सुंदर व प्रीतिकर बन जाती है। सब वस्तुएँ पूर्णता प्राप्ति में ही श्रेय प्राप्त करती हैं और क्षुद्र वस्तु का चित्त वस्तु से सम्मिलित व उसके आधार पर पूर्ण स्वरूप धारण करना ही सौंदर्य है। इस प्रकार प्रकृति अपना पूर्णत्व मानव चित्त द्वारा कला निबद्ध होकर प्राप्त करती है अतः कलागत सौंदर्य श्रेष्ठ है। प्राकृतिक

वस्तुएँ कितनी ही विशाल व सूक्ष्म क्यों न हों, परंतु परिमित होने के कारण अपरिमित सत्ता का आभास उनके माध्यम से अधूरा रह जाता है । जबकि कला में मानव-चेतना द्वारा अंगों की व्यवस्था या अंगों का एकीकरण किया जाता है अर्थात् प्रकृति के दोष को पूर्णत्व प्रदान किया जाता है । तथापि प्रकृति में सौंदर्य नहीं मानना त्रुटिपूर्ण है । प्रकृति स्वयं कुरूप नहीं है वरन् हीगेल के दार्शनिक विचारों ने उसे कुरूप बना दिया है ।

उदात्त

हीगेल का कला एवं सौंदर्य संबंधी दृष्टिकोण शुद्ध. आध्यात्मिक है । उदात्तता में आध्यात्मिक अभिव्यक्ति का चरम विकसित रूप प्राप्त होता है । हीगेल के अनुसार, उदात्त सौंदर्य का दौवारिक है, कला में जिसकी अभिव्यंजना प्रतीकात्मक होती है । उनका कहना है कि सच्चा उदात्त ऐन्द्रिय रूप में समा नहीं सकता । उसका संबंध विवेकपूर्ण विचारों से है जिनकी उचित रूपात्मक अभिव्यंजना संभव नहीं है, फिर भी वे मानव चित्त में जागकर उसे प्रभावित करते हुए अपनी अपर्याप्तता में ही ऐन्द्रिय रूप के द्वारा पुनः प्रतिष्ठित हो जाते हैं । हीगेल का कहना है कि "उदात्त अनंत की अभिव्यक्ति का प्रयत्न है जिसकी सफल अभिव्यंजना के लिए सृष्टि में कोई भी वस्तु उचित माध्यम प्रतीत नहीं होती ।" अर्थात् उदात्त ससीम वस्तु में असीम की अपूर्ण व्यंजना है और असफल व्यंजना के रूप में वस्तु सहित उदात्त बन जाता है । प्रतीकात्मक असफल व्यंजना में उदात्त कुरूप से मिलता जुलता है । सौंदर्य के समान दोनों की रूप-कल्पना में परिपूर्णता संभव नहीं है । इनके अनुसार आध्यात्मिक आत्म-तत्त्व की अतीन्द्रिय उदात्त व्यंजना बाइबिल आदि धर्मग्रंथों में मिल जाती है, जहाँ लौकिक बिम्ब उस अनंत को मूर्तरूप देने में अपर्याप्त होकर प्रतीकात्मकता का सहारा लेते हैं । ये आध्यात्मिक उदात्त को व्यक्ति रूप से परे मानते हैं । कला में ससीम से असीम का बोध, एक ओर मनुष्य के मन पर अपनी अनंतता का सशक्त प्रभाव डालता है तो दूसरी ओर ईश्वरीय तत्त्व से दूर अपनी ससीमता का अनुभव कराता है । हीगेल कलागत उदात्त की आध्यात्मिक भावना को शास्त्रीय स्थूल आदर्शवादिता और रोमांसवादी वैयक्तिक भाव-प्रवणता से भिन्न मानते हैं । फिर भी रोमांसवादी रूप की स्वच्छन्दता में उदात्त की अनंतता को व्यक्त करने की अधिक संभावनाएँ हैं ।

हीगेल ने सत्य एक ही माना है जो सार्वभौमिक तर्कपूर्ण तंत्र है, जिसमें सभी विचार अनिवार्यतः व्यवस्थित रहते हैं । यह सत्य केवल कालिक अभिव्यक्तियों के आधार पर ही जाना जा सकता है, इसलिए हीगेल ने अपने युग के समस्त इतिहास, धर्म, कला, विज्ञान तथा दर्शन के अध्ययन के फलस्वरूप समष्टिपूर्ण विश्व दर्शन की स्थापना की है ।

हीगेल ने दर्शन को मूर्त प्रत्ययों की परिपूर्ण व्यवस्था कहा है जो जैविक या सर्वांगिक तंत्र होते हैं । इसका सबसे अच्छा उदाहरण मानवात्मा है । अतः इन्होंने आत्मा को अपने विश्वकोशीय दर्शन का कुंजीपद स्वीकार किया है और यही भारतीय प्रत्ययवाद का भी कुंजीपद है – आत्मनं विद्धि । इसी कारण इस दर्शन का प्रभाव भारतीय विचारकों पर भी पड़ा है जिनमें राधाकृष्णन्, हीरालाल हलधर, ए०सी० मित्रा आदि हैं ।

हीगेल के प्रभाव से ही 19वीं सदी के जैविक विकासवाद को विचारकों ने सर्जनात्मक उन्मज्जनकारी तथा अंतःप्रवेशाकारी प्रक्रिया दर्शकों को उत्पन्न किया ।

ऑर्थर शोपेनहावर [A. Schopenhaver] (1788–1860 ई॰)

जर्मनी के प्रसिद्ध निराशावादी दार्शनिक शोपेनहावर भारतीय विचारधारा से प्रभावित थे । कांट ने कहा था कि परम तत्त्व का ज्ञान बुद्धि की सीमा से परे है । इसे उन्होंने स्वीकार कर लिया और कांट के समान ही व्यवहार जगत तथा परमार्थ जगत में अंतर को भी मान लिया, लेकिन इनका कहना है कि व्यवहार जगत का सृष्टा कोई बाहरी तत्त्व नहीं बल्कि इच्छा है । इसी आदिम इच्छा ने या "जीवन की इच्छा" ने इस जगत का निर्माण किया है । यह पहले जड़ पदार्थ में, फिर पौधों में, और जानवरों में उत्पन्न होती हुई मनुष्य में उत्पन्न हुई और यहाँ वह आत्म-चेतना से मुक्त हो गयी। किंतु यह इच्छा हमेशा अतृप्त रहती है । व्यक्ति इसी क्रूर इच्छा का दास है । जगत को इच्छा का कार्य कहकर शोपेनहावर ने जगत को सर्वोत्तम स्थान बताया जहाँ बुराइयों के सिवाय कुछ और है ही नहीं । जीवन को उन्होंने एक दुःखद व्यवसाय कहा । जीवन इच्छा का गुलाम है । जब तक वह इससे मुक्त नहीं होगा, उसे शांति नहीं मिलेगी और बिना शांति के निर्वाण नहीं मिल सकेगा । बुद्धि से शांति नहीं मिल सकती क्योंकि बुद्धि इच्छा की सेविका है, वह विज्ञान की उन्नति करती है । विज्ञान इच्छा के लिए भोग-सामग्री एकत्रित करती है । मुक्ति केवल ज्ञान से संभव है । ज्ञान न तो इच्छा का दास है और न वह स्वयं इच्छा है वह तो केवल शांति है । यह ज्ञान केवल प्रत्यय का ज्ञान है जो केवल कलाकार की दृष्टि से ही प्राप्त किया जा सकता है तथा यह मुक्ति का मार्ग भी है । वैराग्य से केवल जीवन की मुक्ति मिलती है जबकि कला से मनुष्य को विदेह मुक्ति मिलती है ।

शोपेनहावर का सौंदर्यशास्त्र तत्त्व-मीमांसा पर आधारित ही नहीं वरन् उनकी तत्त्व-मीमांसा का एक भाग है । प्रत्ययों का सौंदर्यमूलक चिंतन ही ज्ञान का सर्वोत्तम प्रकार है । कला मनुष्य की सर्वोत्तम उपलब्धि है । केवल कला के माध्यम से ही प्रत्ययों का ज्ञान संभव है और कला का कार्य केवल इन्हीं प्रत्ययों का सम्प्रेषण करना है । शोपेनहावर का प्रत्यय सिद्धान्त प्लेटो से काफी साम्य रखता है । लेकिन इन प्रत्ययों का ज्ञान उसी को होता है जो विरक्त और इच्छारहित होकर उनका मनन करता है । ज्ञान के इस विभाग को इन्होंने प्रतिभा कहा है । कलाकार अपनी प्रतिभा के कारण ही वस्तुओं को ही नहीं वरन् उनके प्रत्ययों को भी देख लेता है । प्रतिभा प्रत्यय ज्ञान की एक शक्ति है । ज्ञान के इस क्षण में कलाकार दुःख-सुख से मुक्त हो जाता हैं एवं वह देवत्व की स्थिति को प्राप्त कर लेता है । विज्ञान अपने उद्देश्य एवं साधन से कला से सर्वथा भिन्न है । विज्ञान इच्छा की सेवा में तत्पर रहता है, उसे वर्तमान और भविष्य की चिंता रहती है लेकिन प्रतिभा वाला व्यक्ति इससे मुक्त रहता है, वह अर्द्ध-विक्षिप्त होता है, उसे भविष्य आदि की परवाह नहीं होती, उसका अपना मार्ग होता है । "सामान्य आदमी के लिए उसका ज्ञान विभाग पथ-प्रदर्शन के लिए केवल एक दीपक है लेकिन प्रतिभा-संपन्न व्यक्ति के लिए यह एक सूर्य है जो पूरे जगत को प्रकाशित कर देता है ।" प्रतिभाशाली व्यक्ति केवल दृष्टा है, वह दुःख, सुख और इच्छा से मुक्त होता है ।

प्राकृतिक वस्तु या कला की वस्तु से प्राप्त आनंद एक ही है । लेकिन कला, प्रकृति के रहस्यों को समझने में सहायक होती है, इसलिए कला के माध्यम से हमें प्रत्ययों का ज्ञान सरलता

से हो जाता है। ऐसा इसलिए होता है कि कलाकार को प्रत्ययों का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है और वह वास्तविक वस्तुओं से अलग करके उन्हें कला में व्यक्त कर देता है। एक अर्थ में कलाकार अपनी दृष्टि से हमें दिखाता है। सौंदर्यानुभूति का आनंद हमेशा विरक्त और निष्काम होता है। सौंदर्यानुभूति के क्षणों में व्यक्ति स्वयं को वस्तु में और वस्तु को स्वयं में देखता है अर्थात् वह वस्तु से तादात्म्य स्थापित कर लेता है। वह अपना व्यक्तित्व खो देता है तब इच्छा जगत समाप्त हो जाता है केवल प्रत्यय जगत शेष रहता है। नेत्रेन्द्रिय इच्छा से तत्काल संबंध स्थापित नहीं करती, लेकिन अन्य इन्द्रियाँ तत्काल इच्छा से संबंध स्थापित कर लेती हैं। ध्वनि कटु या मधुर हो सकती है और इच्छा से तत्काल संबंध स्थापित कर सकती है। स्पर्शेन्द्रिय प्रत्यक्ष रूप से इच्छा के संपर्क में रहती है। फिर भी, ऐसे स्पर्श भी होते हैं जो उदासीन हो सकते हैं। लेकिन गंधेन्द्रिय और स्वादेन्द्रिय अनिवार्य रूप से इच्छा को जगाने में सफल रहती हैं। कांट ने भी इन्हें "व्यक्तिगत इंद्रियाँ" कहा था और शोपेनहावर भी इन्हें अधम इन्द्रियाँ कहते हैं। वास्तविक आनंद केवल वस्तुपरकता में निहित होता है और सौंदर्यमूलक ज्ञान केवल प्रकाश से संभव होता है क्योंकि वह इच्छा से मुक्त होता है।

जब हम किसी वस्तु को सुंदर कहते हैं तो हमारा आशय होता है कि वह वस्तु हमारे सौंदर्यमूलक मनन की वस्तु है। इसका एक अर्थ तो यह है कि हम वस्तु की अनुभूति से वस्तुपरक हो जाते हैं, हम व्यक्ति के रूप में अपनी सत्ता खो देते हैं और केवल इच्छारहित सत्ता मात्र रह जाते हैं। दूसरी ओर हम वस्तु को एक विशेष रूप में न देखकर उसे प्रत्यय रूप में देखते हैं। प्रत्येक वस्तु को चाहे वह प्रकृति की हो, कला की हो या जीवन की हो, इस दृष्टि से देखा जा सकता है। फिर यह भी है कि प्रत्येक वस्तु में इच्छा की अभिव्यक्ति है, इसलिए प्रत्येक वस्तु प्रत्यय की अभिव्यक्ति है जिससे प्रत्येक वस्तु सुंदर सिद्ध होती है। लेकिन जिस बिंदु पर इच्छा स्वयं को जितना ही वस्तु-सत्य के रूप में व्यक्त करती है वह बिन्दु उतना ही सुंदर होता है साथ ही वह वस्तु उतनी ही सार्थक और अभिव्यंजक भी होती है। इसलिए मनुष्य सारी वस्तुओं की अपेक्षा अधिक सुंदर होता है और उसकी प्रकृति का उद्घाटन करना कला का सर्वप्रमुख उद्देश्य है। मनुष्य का रूप और भावाभिव्यक्ति चित्रकला और शिल्पकला की भी प्रधान वस्तु है। मनुष्य की क्रियाएँ काव्य की मुख्य वस्तु हैं, किंतु फिर भी प्रत्येक वस्तु का अपना-अपना सौंदर्य होता है, चाहे वह रूपहीन हो या असंतुलित। कठोरता, गुरुता, सरलता और प्रकाश ऐसे प्रत्यय हैं जो स्वयं को चट्टान, भवन और जल रूप में व्यक्त करते हैं।

शोपेनहावर शिल्पकला, स्थापत्य कला एवं चित्रकला से काव्य कला को उच्च मानते हैं, लेकिन संगीत को वे कलाओं का सरताज कहते हैं। अन्य कलाएँ प्रत्ययों के एक-एक क्षण को व्यक्त करती हैं उसे संपूर्ण रूप में व्यक्त नहीं कर पातीं। संगीत अन्य कलाओं की तरह प्रत्ययों की अनुकृति नहीं करता वरन् वह स्वयं इच्छा की अनुकृति है और प्रत्यय इसी इच्छा की प्रतिच्छाया है। इस अर्थ में संगीत संपूर्ण जगत की अनुकृति है। संगीत के सशक्त प्रभाव का यही कारण है कि वह स्वयं वास्तविक तत्त्व की अभिव्यक्ति करता है जबकि अन्य कलाएँ केवल प्रतिच्छाया की अभिव्यक्ति करती हैं। संगीत किसी विशेष और सीमित आनंद या दुःख, पीड़ा या भय, शांति या प्रसन्नता को व्यक्त नहीं करता बल्कि इनके सामान्य स्वरूप को अभिव्यक्ति देता है। संगीतज्ञ जगत की आन्तरिक प्रकृति का उद्घाटन करता है, वह अपनी भाषा में गहनतम ज्ञान की अभिव्यक्ति

करता है जिसे बुद्धि समझने में असफल रहती है। शोपेनहावर लाइबनीज की तरह संगीत को गणित का क्रमबद्ध अभ्यास नहीं मानते थे। संगीत तत्त्व-मीमांसा और दर्शन से उत्पन्न होता है। इसका स्रोत अचेतन मन है। संगीत पूर्ण गतियों को अभिव्यक्ति देता है।

फ्रेडरिख़ नीत्शे [Friedrich Nietzsche] (1844-1900 ई॰)

फ्रेडरिख़ नीत्शे ने कहा कि सौंदर्य को केवल आत्माभिव्यक्ति के माध्यम से प्राप्त किया जा सकता है। आत्माभिव्यक्ति के क्षणों में कलाकार वास्तविकता का शासक बन जाता है, उसे अपने अनुसार गढ़ता है रूपान्तरित करता है तथा अलंकृत करता है। इस प्रकार वह वास्तविकता को मानवीय आवश्यकता के अनुरूप बनाकर सुन्दर बनाने में सफल होता है। इस प्रकार वास्तविक सौंदर्य वस्तु में नहीं होता। इन्होंने कला की बहुत निंदा की और ईश्वर के अस्तित्व को भी नकारा। तथापि इनका मानना था कि इस जगत का अस्तित्व केवल सौंदर्य-विषयक भ्रम के रूप में ही उचित ठहराया जा सकता है। कला को इस प्रकार का पलायन और पतनशील कहा। नीत्शे ने ग्रीक-साहित्य को आधार मानकर ही अपना सौंदर्यशास्त्रीय विवेचन किया।

जर्मन सौंदर्यशास्त्र में इतनी बौद्धिकता के होते हुए भी रोमांटिक सौंदर्यशास्त्र आश्चर्यजनक रूप से दृष्टिगत होता है। जर्मन रोमांसवादी कला-सिद्धान्त के निर्माता तथा प्रचारक फ्रेडरिख़ श्लेगेल थे। इन्होंने रोमांसवादी कला को विश्वव्यापी तथा प्रगतिशील कला माना। शिलर के समय से ही रोमांसवादी आंदोलन प्रारंभ हो गया था। अब तक शास्त्रीय कला परंपरा का ही महत्त्व था जो नैतिक पक्ष में आदर्शवादी होते हुए भी रचना-प्रक्रिया में रूढ़ि एवं परंपरा का ध्यान रखती है। इसमें सामंजस्य, संतुलन, नियम, संयम, स्वास्थ्य और व्यवस्था को कला का आदर्श माना जाता था। दूसरी ओर 18वीं शताब्दी में रोमांसवादी आंदोलन प्रारंभ हुआ। शास्त्रीय रुचि एवं बौद्धिकता के प्रति यह तीव्र व व्यापक विद्रोह था। शास्त्रीय रुचि में जो तिरस्कृत तत्त्व थे, वे ही इस आंदोलन के आदर्श बन गये। विवेक के विरुद्ध अनुभूति, नियम के विरुद्ध कल्पना, अनुकृति के विरुद्ध प्रतिभा और मौलिकता, नीरस संवेगों की अपेक्षा तीव्र संवेगों को रोमांसवादी कलाकारों व विचारकों ने अपना आधार बनाया। रोमांसवादी कलाकारों व विचारकों का मत था कि यदि थोड़ी व्यवस्था भंग होती है तो क्या, जीवन का वास्तविक संवेग अपने वेग से तो अभिव्यक्ति पा ही लेता है और कला में यही तत्त्व आवश्यक है।

रोमांसवादी आंदोलन विश्वव्यापी था। जर्मनी से होते हुए यह इंग्लैण्ड, फ्रांस, इटली और अमेरिका में विकसित होता गया। इस आंदोलन के प्रमुख कवि, कलाकार तथा विचारक फ्रेडरिख़ श्लेगेल, जेरिको, ओजेन देलाक्रा, वर्ड्सवर्थ, कालरिज, कार्ल लाइल, जॉर्ज कीट्स, शैली, रूसो, विलियम ब्लैक, रोजेटी, बादलेयर, शेक्सपियर, पुश्किन, गोगिन आदि थे। इस आंदोलन में कल्पना, प्रतिभा तथा मौलिकता को अत्यंत महत्त्व मिला। अनुभूति तथा संवेगों के स्वच्छन्द प्रवाह को कला का सर्वस्व माना गया। वर्ड्सवर्थ के अनुसार काव्य भावातिरेक का स्वच्छन्द प्रवाह है। विलियम ब्लैक, जो स्वयं कवि व चित्रकार दोनों थे; ने कवि को दृष्टा कहा जो आन्तरिक विश्व को अन्तर्मन से देखते हैं। इनके चित्रों में कल्पना व आध्यात्मिकता है। इन्होंने प्रतीकात्मकता को महत्त्व दिया। रूसो कल्पना के महान् प्रेमी थे जिनका विचार था कि प्रकृति से दूर हट जाने के

कारण ही हम कष्ट उठा रहे हैं। उनका नारा था "प्रकृति की ओर वापस चलो।" इस आंदोलन में कल्पना एवं प्रतिभा का विशेष महत्त्व था क्योंकि ये वस्तुओं को चीरकर उनकी आंतरिक सच्चाई देखकर रचना करती हैं, इसी कारण से कलाकार की प्रतिभा में मौलिकता आती है। कल्पना स्वच्छन्द है तथा मौलिक प्रतिभा के लिए कोई नियम नहीं है। यह विश्वास कलाकारों में अडिग हो गया जिसके परिणामस्वरूप व्यक्तिगत अनुभूतियों में अस्पष्टता आने लगी। ऐसी कल्पनाएँ की जाने लगीं जो अद्भुत एवं विचित्र थीं, जिनका कोई अर्थ ही नहीं था। यह रोमांसवादी प्रवृत्ति व्यक्तिवादिता का ही परिणाम थी। इस आंदोलन के अंत में तो सौंदर्य को भयानक आकर्षक माना गया जिसकी आकर्षण शक्ति में पैशाचिक तत्त्व का दर्शन किया गया। सौंदर्य को विनाशकारक शक्ति माना जाने लगा। तथापि यह विनाश रोमांटिक कलाकारों व विचारकों को ग्राह्य था क्योंकि इससे आनंदानुभूति होती थी। रोमांसवादी सौंदर्य-चेतना चरम रूप से अपने ढंग की है जिसका प्रायः शास्त्रीय रुचि से विरोध दृष्टिगत होता है। शास्त्रीय कला में वीनस का सुडौल, माँसल तथा नग्न-चित्रण हुआ, किंतु यह नग्न-सौंदर्य ऐन्द्रिय इच्छाओं को जागृत नहीं करता। जबकि रोमांसवादी चित्रकला में वीनस का नग्न-चित्र वासनात्मक अनुभूतियों को जागृत करता है। फिर भी यह सत्य है कि रोमांसवादी कला से ही आधुनिक कला की विविध धाराओं को पृष्ठभूमि मिली जिनमें यथार्थवाद, प्रभाववाद, नव-प्रभाववाद, उत्तर-प्रभाववाद, धनवाद आदि प्रमुख हैं। यथार्थवाद में अंकन का सहज सामर्थ्य व नैसर्गिक गुणों की रक्षा, पुरानी शैली के समान चिकनेपन से मुक्ति तथा व्यक्तिगत चिंतन व दर्शन को प्रोत्साहन मिला जिससे ये कलाकार बंधमुक्त होकर कला सृजन में व्यस्त हो गये। प्रभाववाद में साधारण विषयों को महत्त्व (उदाहरणार्थ, अस्त-व्यस्त पड़ी वस्तुएँ, स्वाभाविक अवस्था में बैठा व्यक्ति आदि) रंगों व प्रकाश-चित्र के सर्वोपरि अंग माने गये तथा आकार गौण होते चले गये। अंकन शैली में भी मुक्त तूलिका संचालन द्वारा रंगों की मोटी परतें लगायी गयीं। इनमें मोने के चित्र "सूर्योदय का प्रभाव" तथा "घास का ढेर" प्रमुख हैं। नवप्रभाववाद में चित्रकार सोरां द्वारा विशुद्ध मूल रंगों के अमिश्रित छोटे-छोटे बिंदु के रूप में धब्बे लगाये गये तथा आकार के बाह्य सरलीकरण से ज्यामितीय आकारों की प्रधानता होने लगी। इसका श्रेष्ठ उदाहरण सोरां का "ग्रांद जात्त द्वीप में रविवारीय अपराह्न" है। उत्तर-प्रभाववाद में सेजां द्वारा आंतरिक भावना को महत्त्व मिला। आकारों को चारों ओर से देखकर चित्रित किया जिससे ज्यामितीयता के साथ रेखा गौण होती गयी तथा आकार विकृत होने लगे और रंगों का महत्त्व अधिक हो गया। सेजां के अनुसार "रंग ही आकार" है। रंगों के महत्त्व से आकारों में घनत्व आया। "ताश खेलते" तथा "स्नानमग्ना" इनके प्रतिनिधि चित्र हैं। गोगिन के आकारों का लचीलापन, धूमिल रंग-योजना तथा वान गो की तीव्र-तूलिका संचालन द्वारा भावनाओं की प्रतिक्रियात्मक अभिव्यक्ति भी उत्तर-प्रभाववाद की विशेषता रही।

कला के शैलीगत तथा कलात्मक विकास के उक्त अत्यंत संक्षिप्त वर्णन का उद्देश्य 19वीं शताब्दी के इन जर्मन सौंदर्यशास्त्रियों-कांट, शिलर, हीगेल, लिप्स आदि ने कल्पना, प्रतिभा, स्वच्छन्दता तथा वैयक्तिकता को जो महत्त्व दिया, उसका समकालीन कला पर पड़े प्रभाव का दिग्दर्शन करना है। इन सभी कला आंदोलनों का चरम विकास क्रोचे द्वारा स्थापित अभिव्यंजनावादी दृष्टिकोण में दृष्टिगत होता है जिसका विवरण आगामी अध्याय में दिया जायेगा।

□□□

अध्याय 6

अभिव्यंजनावाद

अभिव्यंजनावाद योरोपीय मानव की बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक काल की समस्यापूर्ण मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक स्थिति का तीव्र परिणामकारी दर्शन है । फ्रांस एवं जर्मनी दोनों देशों में औद्योगिक विकास के परिणामस्वरूप युद्ध की आशंका के जनित-विकारग्रस्त मनोवृत्ति कला व संस्कृति पर आघात कर रही थी । फ्रांस के बुद्धिवादी व तर्कनिष्ठ दर्शन की परिणति घनवादी व उत्तर-घनवादी कला में हुई । जर्मन विचारकों एवं कलाकारों में औद्योगिक विकास और यांत्रिकी जीवन के प्रति घृणा उत्पन्न हुई और प्रतिक्रियास्वरूप उन्होंने गूढ़ एवं पारलौकिक अनुभूतियों की कल्पना को खोजा । फ्रांस के कलाकार जड़ सौंदर्य द्वारा बौद्धिक आनंद देने में व्यस्त हो गये तथा जर्मन कलाकारों ने प्रतीकात्मक रंगों में भावनाओं द्वारा विकृत आकारों की नयी चित्र-सृष्टि का सृजन किया जिसके पीछे मानव के आंतरिक जीवन को प्रकाशित करने का उद्देश्य निहित था । इस युग के महत्त्वपूर्ण विचारकों में क्रौचे प्रमुख हैं जिन्होंने अभिव्यंजना-सिद्धान्त प्रतिपादित करके स्वतंत्र सौंदर्यशास्त्र की स्थापना की ।

बेनादेतो क्रौचे : [Benedetto Croche] स्वतंत्र सौंदर्यशास्त्र की स्थापना

क्रौचे एक आत्मवादी दार्शनिक थे जिन्होंने आधुनिक युग के भौतिकवाद के विरुद्ध अपने ढंग से आत्मा की अंतःसत्ता की प्रतिष्ठा की । कलाओं का विवेचन भी इसी स्तर पर किया । आत्मवादी विचारक होने के कारण उनका कलाओं के स्वरूप तथा सौंदर्य-सिद्धान्त का विवेचन गोचर या बौद्धिक जगत के आधार पर न होकर अतीन्द्रिय चेतना के स्तर पर है । "ऐस्थेटिक" नामक ग्रंथ में उनका सौंदर्यशास्त्रीय विवेचन मिलता है ।

क्रौचे का जन्म 25 फरवरी सन् 1866 को नेपल्स में हुआ था । रोम में इनकी प्रारंभिक शिक्षा हुई तथा 1886 ई० में ये पुनः नेपल्स लौट आये । इटली के सभ्य समाज में इनका बहुत सम्मान था । सन् 1920-21 में ये वहाँ के शिक्षामंत्री भी रहे थे । 1892 से 1897 तक इन्होंने एक पत्रिका का संपादन प्रारंभ किया, जिसमें इन्होंने इतिहास के स्वरूप, सौंदर्यशास्त्र, मार्क्सवादी अर्थ-व्यवस्था, आत्म-दर्शन तथा साहित्य-समीक्षा-पद्धति विषयक नवीन दृष्टिकोण प्रस्तुत करने के उद्देश्य से अनेक लेख लिखे । इसके बाद 1903 ई० में "ला क्रिटिका" नामक पत्रिका का प्रकाशन किया जिसमें इटालियन साहित्य के अनेक पक्षों की समीक्षा रहती थी । ये प्रारंभ में मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित अवश्य हुए थे किंतु तदनन्तर इन्होंने उसका प्रबल विरोध किया ।

क्रौचे के प्रभाव के फलस्वरूप "अभिव्यंजनावाद" नामक एक नयी विचारधारा का उद्भव

हुआ। जिस प्रकार महात्मा बुद्ध, महावीर स्वामी और दयानंद सरस्वती ने किसी मूर्तिपूजन पद्धति का प्रतिपादन नहीं किया, किंतु उनके अनुयायियों ने उनकी प्रतिमाओं की पूजा की, उसी प्रकार क्रौचे ने भी किसी अभिव्यंजनावाद जैसे वाद को नहीं चलाया था, तथापि वे इस वाद के जनक कहे जाने लगे।

इन्होंने इटालियन साहित्य का अध्ययन करके चिंतन एवं कला के विकास में अपना योगदान दिया। इन्होंने अभिव्यंजना शब्द को शाब्दिक अभिव्यंजना तक ही सीमित नहीं रखा वरन् उसमें रंग व शब्द की मूक अभिव्यंजना का भी अन्तर्भाव किया। इनका कहना है कि सहज ज्ञान एवं अभिव्यंजना के भेद का ज्ञान प्राप्त करना असंभव है क्योंकि ये दोनों एक ही हैं। ये साधारण व्यक्ति तथा कलाकार की प्रतिभा में भी अंतर मानते हैं" इसीलिए "कवि उत्पन्न होते हैं, बनते नहीं हैं" वाले सिद्धान्त का विरोध करते हैं। "तुम कविता क्यों लिखते हो ?" इसके उत्तर में यदि कोई नौजवान कहे कि मेरे पास कहने के लिए महत्त्वपूर्ण बातें हैं तो वह कवि नहीं है। यदि वह प्रत्युत्तर में यह कहे कि मुझे शब्दों के गिर्द चक्कर काटना और ध्वनि सुनाना पसंद है तो कदाचित् वह कवि बनने का राही है।

कला क्या है ?

क्रौचे का कथन है कि "कला सहज ज्ञान या अन्तर्ज्ञान है।" श्रेष्ठ कला उन सहजानुभूतियों का संकलन करती है जो हमेशा संवेदनों व प्रभावों से संबद्ध होती है। कला प्रभावों की अभिव्यंजना है न कि अभिव्यंजना की अभिव्यंजना। क्रौचे की कला संबंधी अवधारणा को समझने के पहले उनके ज्ञान, संवेदन तथा अभिव्यंजना शब्दों के स्वरूप को समझना आवश्यक है।

क्रौचे मानस व्यापार में दो वृत्तियों का संयोग मानते हैं :

(1) सैद्धान्तिक; तथा

(2) व्यवहारिक।

सैद्धान्तिक पक्ष का संबंध ज्ञान से है। ज्ञान भी दो प्रकार का होता है-प्रातिभ ज्ञान तथा प्रज्ञात्मक ज्ञान। इसी प्रकार व्यवहारिक क्रिया के भी दो भेद हैं-आर्थिक तथा नैतिक।

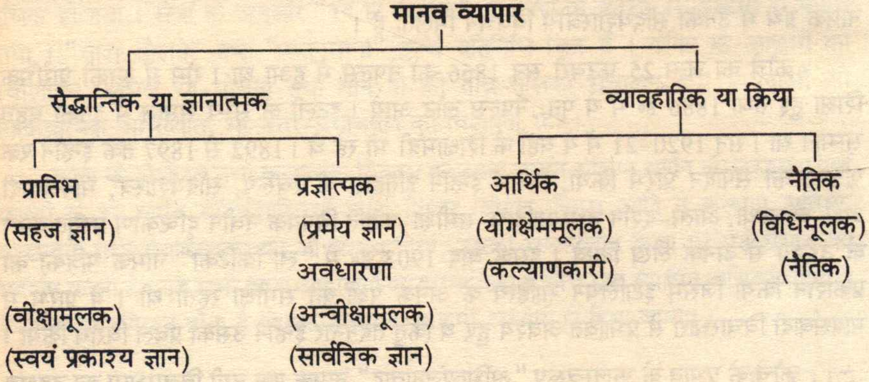

क्रौचे का कहना है कि दर्शन मूर्त का अध्ययन करता है । मन वास्तविक है, इसके अतिरिक्त कोई वास्तविक है ही नहीं । क्रौचे ने इसीलिए अपने सिद्धान्त को मानस दर्शन कहा है । मन ही सुंदर, सत्य, प्रेम और श्रेय का आधार है, वही कला-सृष्टि का आधार है । सभी रूप मन से ही प्रसूत होते हैं और रूपों के बिना कोई वास्तविक नहीं । मन ही सत्य है और सत्य ही मन है । यह एक ऐसी क्रिया है जो अखंड है । उसके भिन्न-भिन्न रूपों को देखा जा सकता है किंतु इन रूपों को एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता । इसी कारण मानस-व्यापार की इन वृत्तियों का स्वरूप ऐसा मिश्रित और प्राय: एक साथ चलने वाला होता है कि इनके पार्थक्य और क्रम को जानना असंभव है । कवि, कलाकार या हमारी आत्मा में इनकी ही एकान्वियता की प्रतीति होती है। क्रौचे ने बाह्य वस्तु की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार नहीं की है । इनका मत है कि समस्त रूप आदि का बोध केवल वीक्षा-वृत्ति के व्यापार द्वारा ही हो सकेता है । हमारे अंतर की वीक्षा-वृत्ति के अंतर्गत आने वाले व्यापार को ही सुंदर कहा जाता है । आंतरिक होने के कारण ही सौंदर्यबोध हेतु कोई नियम निश्चित कर सकना संभव नहीं है, इसीलिए जो वस्तु एक व्यक्ति को सुंदर लगती है, वह कभी-कभी दूसरे को कुरूप भी लग सकती है । मानस व्यापार के इन दोनों वर्गों में व्यवहारिक क्रियाएँ सैद्धान्तिक या ज्ञानात्मक क्रियाओं पर आधारित होती हैं । इसी प्रकार अन्वीक्षामूलक क्रिया वीक्षामूलक क्रिया पर निर्भर रहती है जो प्रातिभ ज्ञान है । योगक्षेममूलक क्रिया विधिमूलक क्रिया पर निर्भर रहती है । इस प्रकार वीक्षावृत्ति पूर्ण स्वतंत्र है और काव्य तथा कला का संबंध क्रौचे ने इसी वीक्षावृत्ति या प्रातिभ क्रिया से बताया है । यद्यपि किसी चित्र को देखते समय अन्वीक्षामूलक व्यापार की सत्ता बनी रहती है तथापि चित्र का वास्तविक आनंद हमें उनकी समग्रता या अखंडता के भाव में ही आता है और यही अखंड भाव वीक्षावृत्ति की स्वतंत्रता का द्योतक है । यही इन्ट्यूशन (सहज ज्ञान) है । सहज ज्ञान के साथ ही अभिव्यंजना की उपस्थिति रहती है ।

सहजानुभूति-इन्ट्यूशन को हिंदी में सर्वप्रथम शुक्लजी ने "स्वयं प्रकाश्य ज्ञान" कहा था । लंबा होने के कारण बाद में इसके स्थान पर "सहजानुभूति" शब्द प्रयुक्त किया । तत्पश्चात् इसके स्थान पर "सहज ज्ञान" या "अन्तर्ज्ञान" शब्द भी प्रयुक्त किये गये । क्रौचे ने कला का संबंध सहज ज्ञान से ही माना है और उसे बौद्धिक ज्ञान तथा उससे उत्पन्न प्रत्ययों व अवधारणाओं से पृथक् माना है ।

क्रौचे ने लिखा है कि "ज्ञान दो प्रकार का होता है-प्रातिभ ज्ञान और प्रज्ञात्मक ज्ञान । प्रथम प्रकार का ज्ञान कल्पना-प्रसूत है और दूसरे प्रकार का ज्ञान बुद्धि से प्राप्त होता है । प्रातिभ ज्ञान व्यष्टि का ज्ञान होता है और प्रज्ञात्मक ज्ञान सामान्य का ज्ञान होता है । एक के द्वारा वस्तुओं के बिम्बों या भावनाओं का निर्माण होता है और दूसरे के द्वारा वस्तुओं के विषय में सामान्य विचारों (कॉन्सेप्ट) का बोध होता है ।" हम साधारण जीवन में निरंतर प्रातिभ ज्ञान का अवलंब लेते रहते हैं । हमें प्रतीत होता है कि हम कुछ सत्यों को हृदयंगम तो कर रहे हैं पर उन्हें पारिभाषित करने में असमर्थ हैं । इन सत्यों को बौद्धिक विवेचना के आधार पर अभिव्यंजित नहीं किया जा सकता । इन्हें सहज ज्ञान या "आत्मा की अपरोक्ष अनुभूति" द्वारा ही जाना जा सकता है । यह ज्ञान हमें कल्पना द्वारा उपलब्ध होता है, यह ज्ञान व्यष्टि का होता है । यह वस्तुओं की इकाई से संपृक्त है तथा यह बिम्बों को उत्पन्न करता है । यह प्रत्येक व्यक्ति की चेतना के लिए स्वाभाविक है, इसीलिए

सहज ज्ञान है। यह किसी प्रमाण से प्रतिपादित नहीं होता, इसीलिए यह स्वयं प्रकाश्य ज्ञान है, श्रम–साध्य ज्ञान से इतर है अतः प्रातिभ है, कल्पना से उद्भूत होने के कारण काल्पनिक है। कला का बीज यही सहज ज्ञान या अन्तर्ज्ञान है जो कला ज्ञान का एक प्रकार है और सौंदर्य ही इसका फल है। क्रोचे ने कहा है "सहजानुभूति ज्ञान है वह धारणाओं से मुक्त है और यथार्थ के तथाकथित प्रत्यक्षीकरण से अधिक सरल है। वह यांत्रिक और निष्क्रिय न होकर प्रभावों की सक्रिय अभिव्यंजना है।" जयशंकर प्रसाद ने भी काव्य को "श्रेयमयी प्रेम रचनात्मक ज्ञानधारा" कहा है अर्थात् वे भी काव्य को ज्ञान का एक विशेष प्रकार मानते हैं। इसके विपरीत प्रज्ञात्मक ज्ञान का साधन बुद्धि है। यह सार्वत्रिक होता है और इसका विषय वस्तुओं से परस्पर संबद्ध हैं तथा यह अवधारणाओं को उत्पन्न करता है। इसके लिए वास्तविक आधारों की आवश्यकता पड़ती है जबकि प्रातिभ ज्ञान के लिए यह आवश्यक शर्त नहीं है। प्रज्ञात्मक ज्ञान की अनुपस्थिति में भी हम कल्पना या प्रातिभ ज्ञान द्वारा कभी देखी गयी वस्तु का बिम्ब बना सकते हैं जबकि बिना प्रातिभ ज्ञान के प्रज्ञात्मक ज्ञान असंभव है। क्रोचे के कला संबंधी विवेचन में आत्मिक ज्ञान का स्तर अधिक होने के कारण लगता है कि उन्होंने अंतर्ज्ञान में अवधारणाओं के लिए कोई स्थान नहीं रखा है। क्रोचे ने अवधारणाओं को भी स्वीकार किया है किंतु वे अंतर्ज्ञान का अंग बनकर आती हैं। इनकी स्वीकृति से अंतर्ज्ञान की स्वतंत्र सत्ता पर कोई असर नहीं पड़ता है। क्रोचे का कहना है कि "यह गलत है कि बौद्धिक ज्ञान के प्रकाश के बिना प्रातिभ ज्ञान क्या कर सकता है ? प्रातिभ ज्ञान अंधा होता है और बुद्धि उसे दृष्टि प्रदान करती है। हमें सर्वप्रथम अपने मस्तिष्क में यह निश्चित रूप से धारणा बना लेनी चाहिये कि प्रातिभ ज्ञान को किसी मार्गदर्शक की आवश्यकता नहीं रहती। उसके लिए यह आवश्यक नहीं कि वह किसी से आँखें उधार ले क्योंकि उसके पास उसकी सर्वोत्तम निजी दृष्टि होती है।" क्रोचे के मतानुसार प्रतिभा और प्रज्ञा अन्तर्मन की दो आँखें हैं। अन्तर्मन में जब प्रतिभा का उन्मेष होता है, उस समय उसकी प्रज्ञा की दृष्टि बंद नहीं रहती वरन् वह भी अपनी पूर्ण शक्ति के साथ खुल पड़ती है इसीलिए प्रातिभ ज्ञान व प्रज्ञात्मक ज्ञान का अंतर्भाव सदैव बना रहता है। प्रतिभा प्रज्ञा को अपने अंदर समाविष्ट वस्तु का विचार निरपेक्ष ज्ञान प्रदान करती है। ऐसी दशा में प्रज्ञाजन्य विचारों का स्वतंत्र अस्तित्व समाप्त हो जाता है। वे प्रतिभा के आलोक में ही व्यक्त होते हैं। वे विचार न रहकर प्रातिभ अनुभूति के विषय बन जाते हैं। इस प्रकार अवधारणाएँ सहजानुभूतियों के साथ समन्वित हो सकती हैं। जो अवधारणाएँ सहजानुभूतियों में घुलमिल जाती हैं उनमें अन्तःमूर्त हो जाती हैं फिर वे अवधारणाएँ नहीं रह जातीं। "निष्कर्ष यह है कि प्रातिभ ज्ञान प्रज्ञात्मक ज्ञान से स्वतंत्र है। विचारों का समावेश उसमें हो सकता है, किंतु वैसी स्थिति में विचार स्वतंत्र न रहकर प्रातिभ ज्ञान बन जाते हैं अर्थात् वे चिंतन के विषय न रहकर कल्पनात्मक अनुभूति के विषय बन जाते हैं।"

सहज ज्ञान एक प्रकार से अरूप संवेदनों का साहचर्य है। वस्तुओं के इन्द्रिय संपर्क के समय हममें जो संवेदना उत्पन्न होती है वह "अरूप" वस्तु होती है। आत्मा इसका अनुभव तो करती है किंतु वह क्या है इसका हमें स्पष्ट ज्ञान नहीं होता। इसे वह अभिव्यक्त नहीं कर सकती। जो अभिव्यंजना में मूर्त नहीं होती, वह सहज ज्ञान या सहजानुभूति न होकर संवेदन मात्र है। तात्पर्य यह है कि जब हम किसी वस्तु की प्रत्यक्ष अनुभूति या संवेदन प्राप्त करते हैं तब हमारा अन्तर्मन निष्क्रिय रहता है। हमारे अन्तर्मन पर बाह्य वस्तुओं का प्रभाव पड़ता है। अतः प्रत्यक्षानुभूति बाह्य

वस्तु के प्रभाव का परिणाम है। संवेदन या प्रत्यक्षानुभूति अनुभूति की वस्तु है जिसमें यांत्रिकता व निष्क्रियता पाई जाती है, जबकि सहजानुभूति में क्रियात्मकता व चेतनता परिलक्षित होती है। सहजानुभूति की ऊपरी सतह पर बुद्धि और तर्क की स्थिति हैं तथा नीचे की सतह पर संवेदनाएँ स्थित हैं। संवेदनाएँ अस्थिर व सुरूप हैं तथा एक प्रकार से सहजानुभूति के लिए वस्तु सामग्री का कार्य करती हैं। संवेदनाओं के निरूपण को हम प्रातिभ तभी मानेंगे जब उनसे समुचित बिम्ब की सृष्टि होती है। ऐसा न होने पर निरूपण असफल व वैशिष्ट्यरहित होता है। क्रौचे ने स्वयं कहा है कि "संवेदन (जिसे क्रौचे वस्तु कहते हैं) अपने निरपेक्ष रूप में यान्त्रिक तथा निष्क्रिय है, इसे मानवीय अन्तर्मन अनुभूत करता है उत्पन्न नहीं करता।" आगे क्रौचे ने कहा है कि "वस्तु को हमारे अन्तर्मन की क्रिया (कल्पना) अपने में लीन करके साथ एकाकार होने में प्रवृत्त होती है।" इस अन्तर्मन की क्रिया को ही क्रौचे ने रूप या अभिव्यंजना कहा है। वस्तु के बिना कल्पना कोई ठोस या मूर्त रूप धारण नहीं कर सकती। हमारी अन्तर्मन की क्रिया अर्थात् कल्पना एक ही रहती है किंतु वस्तु-वैभिन्य के कारण यह विविध प्रातिभ ज्ञान प्रदान करती है। क्रौचे संवेदन या प्रतीति को ही वस्तु कहते हैं तथा अर्न्तमन की क्रिया को ही वे रूप या अभिव्यंजना कहते हैं। इसी अभिव्यंजना को कुछ लोगों ने कल्पना कहा है। इस प्रकार क्रौचे ने दो प्रकार की अनुभूतियाँ मानी हैं -प्रथम, प्रत्यक्षानुभूति या संवेदनानुभूति और दूसरी कल्पनात्मक अनुभूति या प्रातिभ ज्ञान। पहली अनुभूति आत्मिक क्रिया का परिणाम नहीं होती है जबकि कल्पनात्मक अनुभूति आत्मिक क्रिया का ही परिणाम है। एक स्थिति में हम उसका भोग मात्र करते हैं, दूसरी स्थिति में उसका निर्माण। एक प्राकृतिक क्रिया है और दूसरी मानवीय।

क्रौचे का विचार है कि प्रत्येक प्रातिभ ज्ञान या सहजानुभूति अभिव्यंजना भी होती है। जिसकी अभिव्यंजना नहीं हो पाती वह प्रातिभ ज्ञान न होकर संवेदन मात्र प्राकृतिक तथ्य है। हमारा अन्तर्मन ही निर्माण, रूपविधान और अभिव्यंजना के द्वारा प्रातिभ ज्ञान उत्पन्न करता है। क्रौचे ने कहा है कि सहजानुभूति की क्रिया में उस अंश तक सहजानुभूति होती है जिस अंश तक वह उसे अभिव्यक्त करती है। अभिव्यंजना केवल शाब्दिक ही नहीं मूक भी होती है। अभिव्यंजना में केवल शब्द ही नहीं, रेखा, रंग व ध्वनि की भी योजना होती है। इसलिए सहजानुभूति का एक अंग है अभिव्यंजना। रेखागणित की आकृति की सहजानुभूति तभी होगी जब हमारे भीतर उसकी एक ऐसी सही प्रतिमा होगी जिसे हम शीघ्र ही कागज पर अंकित कर सकने में समर्थ हों। कुछ लोग कहते हैं कि उनके दिमाग में बड़े-बड़े विचार उठते हैं पर वे उन्हें अभिव्यक्त नहीं कर पाते। क्रौचे ने कहा है कि यदि उनके मस्तिष्क में वास्तव में विचार उठते तो निश्चय ही वे उन्हें अभिव्यक्त कर देते। इस प्रकार या तो विचार थे ही नहीं या वे न्यून व क्षीण थे। जब हम किसी आकृति के विषय में स्पष्ट धारणा बना लेते हैं तभी उसकी अभिव्यंजना हो पाती है। जिसे हम अंदर कह चुके हैं उसी को स्थिर रखने हेतु बाहर कह देते हैं। जिसे हम अंदर गा चुके हैं उसी अभिव्यक्ति को स्थाई रूप देने हेतु बाहर ध्वनि के माध्यम से जोर से गा देते हैं। इस प्रकार सहजानुभूति और अभिव्यंजना का एकात्मक संबंध है। सहजानुभूति व अभिव्यंजना एक साथ ही उपस्थित होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति बाहर से संवेदनशील होकर अपने अंदर एक प्रकाश का अनुभव उसी सीमा तक करता है जहाँ तक वस्तु को आकृति देने की उसकी क्षमता है। इस प्रकार भाव और प्रभाव, शब्दों या चित्रों के रूप में आत्मा के गूढ़ प्रवेश से या अन्तर्मन की क्रिया से विचार-शक्ति की स्पष्टता में प्रकट होते हैं। कलाकार व साधारण मानव में यही अंतर है कि कलाकार तो अपने मन में बने बिम्बों को स्थाई

करने हेतु बाह्य अभिव्यक्ति दे सकता है जबकि साधारण व्यक्ति नहीं। कलाकार इसीलिए कलाकार है कि वह उन वस्तुओं को देखता है जिनका अन्य लोग केवल अनुभव करते हैं, किंतु देख नहीं पाते। एक मुस्कराहट देखने पर हमें उसका केवल धुँधला-सा संवेदन मात्र होता है। हम उन सारी विशेषताओं को ग्रहण नहीं कर पाते जिनका पूर्ण योग वह मुस्कराहट है। जबकि चित्रकार जैसे-जैसे उस मुस्कराहट पर अपनी तूलिका का स्पर्श करता है, वह उसकी विशेषताओं का आविष्कार करता है और उन्हें चित्रित करने में सफल होता है। प्रातिभ ज्ञान और अभिव्यंजना का पूर्ण ऐक्य है। प्रातिभ ज्ञान की सुंदरता पर ही अभिव्यंजना की सुंदरता निर्भर करती है। क्रोचे के शब्दों में, "सहजानुभूति ज्ञान अभिव्यंजनात्मक ज्ञान है, वह बौद्धिक क्रिया से स्वतंत्र और स्वायत्त है, परवर्ती अनुभवातीत प्रभेदों यथार्थ और अयथार्थ, स्थान एवं काल के रूप संघटनों एवं अवबोधनों के प्रति वह उदासीन है। सहजानुभूति अथवा प्रतिनिधान रूप है और इसीलिए इससे भिन्न जो अनुभव है, वह संवेदन के प्रवाह अथवा तरंग से भिन्न है, वह मानसिक वस्तु द्रव्य से भिन्न है-यह रूप ही अधिकृति अभिव्यंजना है। सहजानुभूति का होना अभिव्यंजित होना है मात्र अभिव्यंजित होना, इससे न कुछ अधिक न कम।"

क्रोचे ने अभिव्यंजना को मानसी व्यापार माना है। अभिव्यंजना या अन्तर्ज्ञान हो जाने पर बाह्य अभिव्यक्ति की कोई अनिवार्यता नहीं रह जाती। लेकिन अगर कलाकार बाह्य अभिव्यक्ति करता है तो अपनी अभिव्यक्ति को स्थाई करने की इच्छा से ही करता है। किंतु वास्तविक कला तो उसी समय पूर्ण हो जाती है जब कलाकार के मन में पूर्ण बिम्ब स्पष्ट रूप से व्यक्त होता है। जितने ये बिम्ब स्पष्ट होते हैं उतनी ही हमारी कला की पूर्णता है। कला तो कलाकार के मन की अभिव्यक्ति है। क्रोचे ने अभिव्यंजना या कला को मानसी व्यापार मानकर उसकी सुंदरता व असुंदरता के प्रश्न को स्वतः ही समाप्त कर दिया है। विश्व में देखी वस्तुओं के जितने स्पष्ट बिम्ब बनेंगे चाहे वे वस्तुएँ कुरूप हों, वे उतने ही सुंदर हैं। यदि वस्तु चाहे अत्यंत सुंदर है किंतु उसके मानस बिम्ब अस्पष्ट हैं तो वह असुंदर होगी। जो सामान्य अर्थ में सुंदर है वह मानसिक अभिव्यक्ति में असुंदर भी हो सकता है।

अत्यंत संक्षेप में हम कह सकते हैं कि "क्रोचे प्रातिभ ज्ञान को कल्पनात्मक ज्ञान मानते हैं और कल्पना को अन्तर्मन की चेतन क्रिया मानते हैं। यह क्रिया या कल्पना ही रूप या अभिव्यंजना है। वस्तु इसी क्रिया के द्वारा अन्तर्भूत व एकीकृत किये जाने पर एक ठोस या मूर्त रूप प्राप्त करती है जिसे प्रातिभ ज्ञान कहते हैं। क्रोचे के अनुसार "यही कला है।" तुलसीदास ने इस अन्तर्मन की क्रिया को ही भावना मानकर लिखा है कि "जिनकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरत देखी तिन तैसी।" प्रभु मूर्ति एक ही थी किंतु भावना-भेद के कारण वह विविध रूपों में आभासित हुई। काव्य या कला में कवि या कलाकार का दृष्टिकोण ही प्रधान होता है। जैसा कवि को रुचिकर लगता है, उसका जैसा दृष्टिकोण होता है वैसा ही वह इस गोचर विश्व को रूप प्रदान करता है। क्रोचे कहते हैं - "काव्य या कला रूप है और रूप के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है।" रूप का अभिप्राय अन्तर्मन की चेतन क्रिया या कल्पना द्वारा वस्तु का पुनर्प्रस्तुतिकरण है। रूप स्थिर है जबकि वस्तु परिवर्तनशील। वस्तु के बिना आत्मिक क्रिया अपनी अमूर्तता त्याग कर मूर्त और वास्तविक क्रिया नहीं हो सकती। वस्तु ही उसके विशिष्ट अभिप्राय और उसकी विशिष्ट सहजानुभूति को प्रकट करती है।

क्रौचे ने प्रातिभ ज्ञान को अभिव्यंजना माना है। प्रातिभ ज्ञान और अभिव्यंजना दोनों एक ही क्षण में साथ-साथ उत्पन्न होते हैं- दोनों एक हैं दो नहीं। साथ ही क्रौचे ने माना है कि प्रातिभ ज्ञान ही कला है और कला प्रातिभ ज्ञान है। चूँकि कला प्रातिभ ज्ञान है और प्रातिभ ज्ञान अभिव्यंजना है, इसलिए कला अभिव्यंजना है और अभिव्यंजना कला है। इस प्रकार क्रौचे ने कला, प्रातिभ ज्ञान और अभिव्यंजना तीनों को अभिन्न स्वीकार किया है।

क्रौचे ने प्रत्येक प्रकार की अभिव्यंजना को कला माना है। इनके अनुसार वे लोग गलत हैं जो कला को तो प्रातिभ ज्ञान मानते हैं किंतु प्रत्येक प्रातिभ ज्ञान को कला नहीं मानते। क्रौचे के अनुसार यदि सूक्ति-काव्य कला है तो एक सरल शब्द भी कला है। एक कहानी कला है तो पत्रकार के समाचार नोट भी कला हो सकते हैं। कलाकार अपने अन्तर्मन की प्रेरणा से ही अभिव्यंजना करता है। अभिव्यंजना मन की बहक नहीं वरन् एक आत्मिक आवश्यकता है। अभिव्यंजना मुक्त प्रेरणा होती है। कवि कल्पना मन की बहक से भिन्न होती है। कल्पना के दो अर्थ हैं- एक अर्थ में वह अन्तर्मन का भावन व्यापार है और दूसरे अर्थ में वह विभावन व्यापार। क्रौचे ने भी इसी प्रकार आंतरिक अभिव्यंजना और बाह्य अभिव्यंजना को माना है। चूँकि क्रौचे सैद्धान्तिक क्रिया व व्यवहारिक क्रिया दो भिन्न-भिन्न क्रियाएँ मानते हैं और काव्य को सैद्धान्तिक क्रिया के एक भेद को प्रातिभ क्रिया से जोड़ते हैं इसलिए वे काव्य या कला को आंतरिक अभिव्यंजना तो मानते हैं किंतु बाह्य नहीं। संवेदनों को अभिव्यंजनात्मक रूप प्रदान कर देने पर कला का कार्य समाप्त हो जाता है। फिर बाह्य अभिव्यंजना की कोई आवश्यकता नहीं है। माइकेल ऐंजिलो ने कहा कि "चित्रकार हाथ से नहीं मानस से चित्र बनाता है।" लियोनार्डो-द-विन्सी ने भी कहा कि महान् प्रतिभा-सम्पन्न कवियों का मानस आविष्करण में उस समय सर्वाधिक सक्रिय होता है जिस समय वह अल्पतम बाह्य कार्य करता है। निष्कर्ष यह है कि क्रौचे भी हाथ से नहीं मानस से चित्र बनाने को कला मानते हैं। इन्होंने मानस दर्शन को आंतरिक अभिव्यंजना कहा है। जिसे ये आंतरिक अभिव्यंजना मानते हैं वे मानस में निर्मित "रूप" ही हैं। इनके अनुसार मानस-काव्य ही काव्य है और कवि दृष्टा है। फिर भी क्रौचे "वर्णना" अर्थात् बाह्य अभिव्यंजना को व्यवहारिक क्रिया तो मानते ही हैं। कला और दर्शन के संबंधों की विवेचना करते हुए क्रौचे ने लिखा है कि "वाणी अर्थात् बाह्य अभिव्यंजना के बिना विचारों का कोई अस्तित्व ही नहीं होता, ये सामान्य स्वीकृत होते हैं। कभी-कभी हमारे मानस में ऐसे विचार उत्पन्न होते हैं जो प्रातिभ ज्ञान के रूप में तो होते हैं किंतु उनकी इतनी संक्षिप्त या विचित्र अभिव्यंजना होती है कि वे हमारे लिए तो पर्याप्त होते हैं परन्तु अन्य व्यक्तियों तक सुगमतापूर्वक "समर्पण" किये जाने के लिए वे पर्याप्त नहीं होते।" समर्पण शब्द को कुंतक ने प्रक्षेपण के अर्थ में प्रयुक्त किया है। इस प्रकार क्रौचे किसी सीमा तक प्रक्षेपण को भी महत्त्व देते हैं। काव्य में कवि का दृष्टिकोण ही प्रधान रहता है। दृष्टिकोण का अर्थ है-जीवन या जगत को देखने का विशेष ढंग। दृष्टिकोण का ही दूसरा नाम स्वभाव है। स्वभाव का अर्थ है- "निज का अस्तित्व"। हमारा अस्तित्व हमारे स्वभाव या दृष्टिकोण में है। दृष्टिकोण ही व्यक्ति है और कवि भी व्यक्ति होता है अतः कवि का अस्तित्व भी उसके स्वभाव या दृष्टिकोण में है। इस प्रकार क्रौचे स्वभाव, दृष्टिकोण और भावना को कल्पनात्मक अभिव्यंजना, रूप या काव्य कहते हैं।

क्रौचे ने प्रत्येक अभिव्यंजना को कला या काव्य स्वीकारा है। इस प्रकार क्रौचे के अनुसार प्रत्येक वस्तु काव्य या कला का विषय बन सकती है और प्रत्येक वस्तु की अभिव्यंजना काव्य

है। इस प्रकार इन्होंने वस्तु चुनाव को ठुकरा दिया है। क्रोचे ने यह भी कहा है कि यदि "वस्तु" को ठीक से ग्रहण किया जा सके और उसे पूर्ण रूप से "अभिव्यंजना" के स्तर तक उठाया जा सके, तो चाहे वह "वस्तु" क्षुद्र ही क्यों न रही हो, उसकी क्षुद्रता नष्ट हो जाती है। क्रोचे ने कहा है कि "काव्य क्रिया में अभिव्यंजनात्मक क्रिया "वस्तु" के साथ जोड़ी नहीं जाती है वरन् "वस्तु" को उसके द्वारा "रूप" में बदल दिया जाता है। अभिव्यंजना में संवेदनाएँ इस प्रकार पुनः व्यक्त होती हैं जिस प्रकार फिल्टर में से छनकर पानी पूर्ववत् होता हुआ भी अपने पूर्व रूप से भिन्न रूप में प्रकट होता है।" अर्थात् फिल्टर में छने हुए पानी के समान कवि का अंतर्मन संवेदनाओं या इन्द्रियानुभूतियों (वस्तु) को अपनी अभिव्यंजनात्मिका क्रिया (कल्पना) में ढालता है तो पूर्ववत् होकर भी वे सर्वथा नवीन हो जाती हैं। इस प्रकार जब क्रोचे कहते हैं कि काव्य या कला "वस्तु" नहीं "रूप" है तो उनका अभिप्राय यही रहता है कि कला संवेदना नहीं है वरन् अभिव्यंजना प्राप्त संवेदना है। फ्रेंसिस्को डी सैंकिट्स ने लिखा है कि "कला न तो बुद्धि और तर्क की कृति होती है और न कौशल की कृति होती है वरन् वह शुद्ध और सहज कल्पनात्मक रूप है।" क्रोचे इसी मत से प्रभावित थे और यही उनके कला विवेचन का केन्द्रीय मत है। वे "वस्तु" के इसी शुद्ध सहज कल्पनात्मक रूप को कला कहते हैं।

क्रोचे के अनुसार यदि कला शब्द का अर्थ बाह्य अभिव्यंजना है तो उपयोगिता एवं नैतिकता को उसमें प्रवेश करने का पूर्ण अधिकार है। "विचार संपन्न और नैतिक आदर्शों एवं उनके संघर्षों से परिचित हुए बिना कवि या कलाकार होना असंभव है। कला वस्तुतः नैतिकता व दार्शनिकता की दासी या कठपुतली नहीं है फिर भी इसका संबंध दोनों से रहता है।"

क्रोचे के अनुसार काव्य या कला कवि या कलाकार के पूर्ण व्यक्तित्व की सृष्टि है, इसलिए काव्य या कला नैतिकता और सामाजिकता की उपेक्षा कैसे कर सकती है। कवि व्यक्ति ही नहीं वरन् समाज का सदस्य भी होता है, इसलिए वह समाज की उपेक्षा नहीं कर सकता। क्रोचे के शब्दों में, "कला स्वास्थ्य है न कि रोग, क्योंकि यह जीवन और महानतर मानवता की जननी है। इतिहास में ऐसा कोई भी महान् कवि नहीं मिलेगा जिसका हृदय संकीर्ण, मस्तिष्क संकीर्ण और आत्मा क्षुद्र कोटि की रही हो।"

क्रोचे ने कला की क्रिया को शुद्धिकरण की क्रिया भी माना है। जीवन के विचारों, कार्यों व भावों को कला की विषयवस्तु के स्तर तक उदात्त बनाकर वास्तविक जीवन के विचारों, कार्यों व भावों से भिन्न कर दिया जाता है। वे सभी साधारण भाव व अनुभूतियाँ बन जाते हैं उन्हें कोमल व शांत बनाकर भावना मे परिवर्तित कर दिया जाता है। कला में भावावेगों को मानस द्वारा नियंत्रित किया जाता है। क्रोचे ने कलाओं के वर्गीकरण को भी नहीं माना है। क्रोचे ने कला के स्वरूप को अधिकाधिक स्पष्ट करने के उद्देश्य से यह विचार भी किया है कि कला क्या नहीं है। कला के कुछ निषेध निम्न हैं :

कला भौतिक तथ्य नहीं है

यह भौतिक तथ्य नहीं हो सकती क्योंकि भौतिक तथ्य अवास्तविक होते हैं और कला, जिसकी साधना लोग जीवनपर्यन्त करते हैं और जो उन्हें अतीन्द्रिय आनंद से भर देती है; पूर्णतया वास्तविक है। इस प्रकार यह भौतिक तथ्य नहीं हो सकती, भौतिक तथ्य तो अवास्तविक होता है।

कला का सम्बन्ध किसी निश्चित रंग, शारीरिक रूप, ध्वनि आदि से उस तरह का नहीं है, जैसे धूप या विद्युत आदि का पदार्थों से होता है। साधारण जीवन में भी हम इस तरह के विश्वास भेद से परिचित होते रहते हैं। जैसे बच्चे पानी के बुलबुलों को या आसमानी इन्द्र-धनुषों को पकड़ने का प्रयत्न करते हैं, इसी प्रकार मनुष्य का मन सौंदर्य-प्रेमी होने के कारण सौंदर्य के कारणों को प्रकृति या भौतिक तथ्यों में ढूँढ़ने लगता है। इस तरह वह विश्वास बना लेता है कि कुछ रंग और रूप सुंदर होते हैं और कुछ रूप व रंग कुरूप होते हैं। इसी प्रकार मनोविज्ञान, विज्ञान और प्रकृति विज्ञान आदि भी तथ्यों के अध्ययन का सहारा लेते हैं। किंतु जब उन्हें सौंदर्यशास्त्र में लागू करते हैं तो वे भ्रामकता उत्पन्न करते हैं। इस तरह कहना कि कला भौतिक तथ्य नहीं है केवल इसी बात की पुनरावृत्ति करना है कि भौतिक विज्ञान कला का विश्लेषण नहीं कर सकता। जब हम विज्ञान की विधि अपनाते हैं तो सहृदय पाठक नहीं रह जाते। उदाहरणार्थ, जब हम एक कविता की मात्रा, शब्द आदि की गणना करने लगते हैं तो हम वास्तविक काव्य रस का आनंद खो देते हैं। किसी मूर्ति का आनंद सहजानुभूति के माध्यम से न लेकर जब हम उसका वजन लेने लगते हैं या इंच से उसके अंगों का अनुपात देखने लगते हैं, तो निश्चय ही हम कलात्मक बोध की हत्या कर देते हैं।

किंतु यदि भौतिक जगत की सत्ता नहीं मानी जाये तो मानस पर पड़ने वाले प्रभाव कैसे संभव होंगे जिनकी बात क्रोचे सर्वत्र करते हैं। मानस में निर्मित होने वाले बिम्बों की प्रेरणा क्या मानस स्वयं ही है। मनुष्य के चारों ओर के वातावरण का उन मानस बिम्बों के निर्माण में कोई योग नहीं है, वस्तुतः क्रोचे को तो केवल यही कहना है कि सहज ज्ञान की अन्तःप्रक्रिया मानसिक होती है, भौतिक नहीं। यह ठीक भी है, इसके लिए संपूर्ण बाह्य भौतिक जगत को असत्य ठहराना व्यर्थ ही है।

क्रोचे ने कला को व्यक्ति मानस के भीतर ही सीमित कर दिया है। क्रोचे का कहना है कि सहज ज्ञान की अभिव्यक्ति (यदि अभिव्यक्ति से अर्थ बाह्य भौतिक अभिव्यक्ति से लिया जाये), कभी नहीं होती, क्योंकि मानसिक प्रक्रिया की सूक्ष्मता को भौतिक पदार्थों की स्थूलता कैसे प्रकट कर सकती है। ध्वनि या रंग भीतरी सहज ज्ञान को, जो ध्वनिरहित व रंगरहित है; कैसे अभिव्यक्त कर सकते हैं? शरीर कैसे अशरीरी को प्रकट कर सकता है? यदि अभिव्यक्ति से मानसिक बिम्ब की पूर्णता का अर्थ लिया जाये तो प्रत्येक वास्तविक सहज ज्ञान की अभिव्यक्ति होती है। क्रोचे की तो मान्यता है कि "सहज ज्ञान स्वयं की अभिव्यक्ति है।" सहज ज्ञान और अभिव्यक्ति में भेद करना भ्रांति है। सहज ज्ञान और अभिव्यक्ति के इस अभेद के कारण ही क्रोचे के कला-दर्शन को "अभिव्यक्तिवाद" की संज्ञा दी गयी है।

क्रोचे के मतानुसार कला कोई यांत्रिक क्रिया नहीं है। यह अव्यवस्थित बिम्बों की भीड़-भाड़ नहीं है जिसमें किसी प्रकार की एकता का सूत्र नहीं होता। वस्तुतः सहज ज्ञान नितांत कलात्मक है जिसमें अनुभूति का सूत्र विविध बिम्बों को परस्पर ग्रंथित कर उनमें एकता स्थापित करता है और उसे सजीवता प्रदान करता है।

हमारा मस्तिष्क निरंतर प्रत्यक्ष-ज्ञान के आधार पर बिम्ब अथवा अर्द्ध-बिम्ब निर्मित करता रहता है जो या तो आगे बढ़कर बुद्धि के सहयोग से धारणा बन जाते हैं या लौटकर पुनः साधारण बिम्ब की स्थिति ग्रहण कर लेते हैं। जब हमारी कल्पना बिम्बों पर कुछ काल तक सक्रिय बनी

रहती है और उन्हें नितांत स्पष्ट रूप में देखने लगती है तो मानस की वह अवस्था विशेष सहज-ज्ञान अथवा कला को जन्म देती है । बिम्बों में एकता स्थापित करते हुए उन्हें सहज और स्पष्ट रूप में देखना ही सहज-ज्ञान है और यही अभिव्यक्ति है । ये बिम्ब मानसिक हैं मस्तिष्क पर बाह्य भौतिक पदार्थों के प्रतिफलित होने वाले रूप नहीं ।

क्रौचे ने एक ऐसी स्थिति को भी स्वीकार किया है जब कलाकार चाहे तो अपनी अभिव्यक्ति को, जो नितांत मानसिक है; बाह्य भौतिक रूप भी प्रदान करे । किंतु इस बाह्यात्मक अभिव्यक्ति का वास्तविक या कलात्मक अभिव्यक्ति से कोई संबंध नहीं है । यदि कोई कवि अपनी सहजानुभूति को शब्दों के रूप में लिखकर या बोलकर प्रकट करता है तो यह कला नहीं है क्योंकि यहाँ इच्छित प्रयत्न होने से अनुभूति की सहजता भंग हो जाती है । ये बाह्यीकरण के प्रयत्न केवल स्मृतिचिह्न हैं और उन्हें जब हम सुंदर कहते हैं तो हमारा आशय केवल उतना ही है कि उनकी सहायता से हम मानस की उन दशाओं का पुनः दर्शन कर सकते हैं जब हमें सुंदर सहजानुभूतियाँ प्राप्त हुई थीं ।

कला कोई उपयोगितावादी कार्य नहीं है

आज के इस आधुनिक युग में जब कला को प्रत्येक ज्ञान-क्षेत्र में तथा व्यवहार-क्षेत्र में साधन बनाया जा रहा है, कला के उपयोग का निषेध क्रौचे का महत्त्वपूर्ण प्रश्न है ।

क्रौचे ने कला को साध्य माना है । उसके निरपेक्ष और स्वतंत्र अस्तित्व की घोषणा की है । उनका कहना है कि इस विश्व में पूर्णतया स्वतंत्र और आत्मनिर्भर अस्तित्व तो केवल ब्रह्म का है, शेष सभी वस्तुएँ एक ओर निरपेक्ष हैं तो दूसरी ओर सापेक्ष ।

क्रौचे ने भी मार्क्स की सामाजिक चेतना की सोपानमूलक व्याख्या के समान ही व्यक्तिगत चेतना की चक्रमूलक व्याख्या प्रस्तुत की है । कलाकार संवेदनाओं को एक निश्चित और स्पष्ट बिम्ब में प्रतिरूपित कर सहज-ज्ञान की स्थिति में पहुँचाता है और अतीन्द्रिय आनंद प्राप्त करता है । जिस उद्देश्य को लेकर वह चला था उसकी पूर्ति हो चुकी है । किंतु कलाकार व्यक्ति केवल कलाकार ही न होकर एक मनुष्य भी होता है । इस मनुष्य की संतुष्टि हेतु मानस क्रिया एक भिन्न रूप में आगे बढ़ती है जिसे क्रौचे ने धारणा कहा है । यह मूल सहज ज्ञान की क्रिया से ही उत्पन्न होती है । क्रौचे ने बिम्ब व धारणा में भेद किया है । उनके मतानुसार धारणा पूर्ण निर्णयात्मक ज्ञान है । धारणा से आगे की स्थिति इतिहास व दर्शन है । जो वास्तव में घटित हो चुका है उसके प्रति धारणात्मक चेतना इतिहास है और विश्व-घटनाओं के मूल में कार्य करने वाले नियमों की चेतना दर्शन है । इतिहास व दर्शन दोनों का जन्म धारणा से होता है । प्राकृत विज्ञान और गणित का प्रादुर्भाव भी धारणा से होता है जब उस पर मानव की बुद्धि कार्य करती है । इतिहास और दर्शन के क्षेत्र तक हमारा ज्ञान सैद्धान्तिक रहता है और फिर प्राकृत विज्ञान एवं गणित के क्षेत्र में पहुँचकर वह व्यावहारिक रूप लेने लगता है । इसके बाद अर्थशास्त्र तथा आचारशास्त्र की चेतना के उदित होने के साथ बुद्धिजीवी व्यक्ति को व्यवहारकुशल होना पड़ता है । जीवन की नित नवीन स्थितियाँ नये सहज ज्ञान की, नई कला की, नये संगीत की प्रेरणा देने लगती हैं । इस प्रकार अंतिम चेतना-स्थिति प्रारंभिक चेतना-स्थिति में संयुक्त हो जाती है और चक्र पूर्ण हो जाता है । चेतन आत्मा की ये विभिन्न स्थितियाँ बिम्ब, धारणा, इतिहास, दर्शन, अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र सापेक्षिक

रूप से तो सभी स्वतंत्र हैं, किंतु निरपेक्ष आत्मनिर्भरता की बात आये तो केवल आत्मा ही सत्य है।

इसलिए यदि किसी को कला में अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष दिखाई दें, तो यह ठीक है क्योंकि बीज में अंकुर, पादप, फूल और फल भी निहित हैं। किंतु यदि वह कला को अन्य चेतना स्तरों के साथ एकाकार समझे तो यह भूल है क्योंकि वह समय के प्रवाह को भुलाने की चेष्टा करता है। अन्य चेतन स्थितियाँ कला की पूर्व या उत्तर स्थितियाँ हो सकतीं हैं, स्वस्थिति नहीं। इस प्रकार कला का स्वतंत्र अस्तित्व है और उस पर इतर उद्देश्य थोपना नितांत अनुचित है।

उपयोगितामूलक क्रिया का कोई न कोई उद्देश्य होता है और यह इच्छा से संबंधित होता है। किसी तरह का सुख पाना या दुःख दूर करना उपयोगितामूलक क्रिया का प्रथम उद्देश्य है। कला को भी आनंदमूलक पक्ष के आधार पर उपयोगी बताना भ्रामक है। कला आनंद अवश्य देती है किंतु वह एक विशेष तरीके से ही आनंदित करती है जो उपयोगितामूलक क्रियाओं के तरीकों से भिन्न होता है। कला का आनंद अन्य आनंदों से भिन्न होता है। इस प्रकार कला को सहजानुभूति कहकर आनंदप्रद क्रिया से भिन्न बताया है।

कला, कला के लिए है, किंतु इसका आशय केवल इतना ही है कि कलाकार अपनी कला में पूर्ण दत्तचित्त होकर लगा रहे। कोई अंकुश उस पर न हो, अपनी आत्मा की साक्षी में ही वह कला-निर्माण करे, अपने भीतर के प्रकाश से ही वह प्रेरित हो।

कला नैतिक क्रिया नहीं है

नैतिकता-शिवत्व और नीतिशास्त्र से संबंध रखती है, इसलिए वह एक व्यापक व्यावहारिक क्रिया है। नैतिकता के अंतर्गत मनुष्य की केवल वे ही क्रियाएँ समाविष्ट हैं जो इच्छित हों। जिन क्रियाओं के पीछे इच्छा का वेग नहीं है जो सहज, स्वतः स्फूर्त और निःसर्ग हैं-उनके संबंध में आचारपरक निर्णय की व्यवस्था नहीं दी जा सकती। कला या सहज ज्ञान ऐसी ही एक क्रिया है। नैतिकता का संबंध इच्छा से है और कला का संबंध सहजानुभूति से। दोनों में अंतर स्पष्ट है। कला आचार जगत से बाहर की वस्तु है, वह न तो अच्छी है न बुरी, वह मात्र कला है। सहज ज्ञान की सामग्री नैतिक दृष्टि से भली-बुरी हो सकती है किंतु सहज ज्ञान स्वयं में न तो प्रशंसनीय है और न ही निंदनीय। अर्थात् कोई कलाकार एक नैतिक या अनैतिक चरित्र का सृजन कर सकता है, वह चरित्र नैतिक निर्णय की वस्तु हो सकता है किंतु उसकी रचना-प्रक्रिया नैतिक निर्णय की वस्तु नहीं हो सकती अर्थात् उसकी निरूपण-क्रिया को हम नैतिक या अनैतिक नहीं कह सकते। हम केवल उसकी अभिव्यक्ति और सहजानुभूति की ही अपूर्णता या पूर्णता की निंदा या प्रशंसा कर सकते हैं।

प्लेटो, रस्किन और टॉलस्टॉय जैसे विचारकों ने कला पर निर्णय देते समय स्वयं नैतिक सिद्धान्तों एवं पूर्वाग्रहों से मुक्त नहीं रह सके। इन लोगों ने कला के कुछ उद्देश्य गिनाये थे, जैसे कला बुराई के प्रति घृणा उत्पन्न करे, शुभ की ओर जनता का मन आकर्षित करे, व्यवहार व रहन-सहन के तरीकों में सुधार लाये। इस तरह से नीतिवादी लोगों ने कला को नैतिक आदर्शों के प्रचार हेतु एक साधन बना लिया। किंतु इनमें से कोई भी कार्य कला के द्वारा पूर्ण नहीं किया जा

सकता । नीतिशास्त्र और सौंदर्यशास्त्र की सीमा को एक में ही मिला देने के कारण यह सिद्धान्त भ्रामक हो गया है ।

कला धारणात्मक ज्ञान नहीं है

यदि कला सहजानुभूति है तो निश्चय ही वह तार्किक ज्ञान से भिन्न है । क्रोचे ने इस अंतर को अत्यधिक महत्त्व दिया है । धारणात्मक ज्ञान सदा तथ्यपरक होता है, उसका उद्देश्य सत्य और असत्य में भेद स्थापित करना होता है इसी कारण धारणात्मक ज्ञान का संबंध दर्शनशास्त्र से होता है कला से नहीं । सत्य-असत्य में भेद करना कला का कार्य नहीं है । सहजानुभूति केवल शुद्ध मानसिक बिम्बों की अभिव्यक्ति है । इन्द्रियानुभूतिमूलक या सहजानुभूतिमूलक चेतना, तार्किक या बौद्धिक चेतना से भिन्न है । यदि पहली स्वप्न देखती है तो दूसरी जागृति, इसलिए पहली कलाकार है तो दूसरी दार्शनिक, क्योंकि स्वप्न टूटने पर दर्शन का प्रारंभ होता है । कला की स्थिति भावात्मक है । उस स्थिति में जैसे ही चिंतन-मनन या धारणा का मिश्रण होने लगता है, कला विकृत होने लगती है और मर जाती है । कलाकार जब आलोचक बनने की चेष्टा करता है या सहज ज्ञान के इन्द्रियातीत आनंद का उपयोग छोड़कर जीवनदृष्टा बनने लगता है, तभी कला नष्ट हो जाती है । क्रोचे ने अपनी इस स्थापना में हीगेल का खुलकर विरोध किया है ।

यही कारण है कि कला का प्राकृत-विज्ञान तथा गणित-विज्ञान से भारी विरोध है । विरोध तो इतिहास व दर्शन से भी है किंतु कम ही, क्योंकि कला की भाँति ये दोनों भी सैद्धान्तिक ज्ञान की शाखायें हैं और इनमें किसी सीमा तक समानता भी है । वस्तुतः सहजानुभूति बिम्बों की रचना करती है, वह स्वच्छंद व मनमाना कार्य नहीं करती, शेर का मुँह आदमी के नहीं जोड़ती । यह मात्र स्वच्छंद कल्पना का कार्य है । रचनात्मक कल्पना भिन्न रूप में कार्य करती है । सहजानुभूति वस्तु की संपूर्णता, अनुपात व सामंजस्य को अभिव्यक्ति देती है । सहजानुभूति को समानरूपता और एकता प्रदान करने वाले तत्त्व को अनुभूति कहते हैं । सहजानुभूति केवल अनुभूतियों का निरूपण करती है, इसी कारण कला प्रभावोत्पादक हो उठती है । कला अनुभूति की सघनता के कारण ही सदैव प्रभावशाली होती है । कला की प्रशंसा में रूप पूर्णता का संकेत देते हैं-रूप की पूर्णता एकता, सामंजस्य व कृति की सुसंगति में निहित होती है । क्रोचे का कथन है कि "जो कलाकार रूप के प्रति सजग नहीं है वह किसी भी वस्तु के प्रति सजग नहीं है ।" रूप का वास्तविक बोध ही उसे कलाकार बनाता है क्योंकि रूप अभिव्यक्ति को उचित सीमा प्रदान करता है ।

इस प्रकार "कला को सहज ज्ञान के रूप में परिभाषित करना क्रोचे की दृष्टि में उसे सम्यक् रूप में व्यंजित कर देना है । क्रोचे ने सहज ज्ञान को ही कला माना है, सहज ज्ञान को ही अभिव्यक्ति माना है, सहज ज्ञान को ही सौंदर्य माना है और सहज ज्ञान को ही संगीत माना है । क्रोचे का यह सहज ज्ञान वेदांत का "सर्वखल्विंद ब्रह्म" हो गया है ।

सौंदर्य

क्रोचे के मतानुसार सहजानुभूति या सहज ज्ञान की सफल अभिव्यक्ति सुंदर और अपूर्ण अभिव्यक्ति कुरूप है । अभिव्यंजना आंतरिक वस्तु है और वही सौंदर्य है अर्थात् सौंदर्य सफल

अभिव्यजंना है क्योंकि अभिव्यंजना यदि सफल नहीं है तो वह अभिव्यंजना ही नहीं है। क्रोचे सौंदर्य का संबंध वीक्षावृत्ति से जोड़ते हैं। अन्य प्राकृतिक वस्तुओं में सौंदर्य ढूँढ़ना बालू से तेल निकालना है। बाह्य पदार्थ स्वतः सुंदर नहीं होते, अपितु सौंदर्य की अभिव्यक्ति के लिए सहायक मात्र होते हैं। सौंदर्य तो अर्थ की भाँति पूर्णतः मानसिक या आध्यात्मिक क्रिया है। सौंदर्य का वास आत्मा में होता है। आत्मा जिसे सहज रूप में स्वीकार करे वही सौंदर्य है। क्रोचे सौंदर्य को कला या अभिव्यजंना के स्वरूप में ही देखते हैं उससे पृथक् नहीं। उनके अनुसार सौंदर्य कलात्मक है और कला सौंदर्यात्मक अर्थात् कला, कला के लिए है।

क्रोचे का मत है कि समस्त रूप आदि का बोध केवल वीक्षावृत्ति के व्यापार द्वारा ही हो सकता है, अतः सौंदर्य की बाह्य सत्ता नहीं होती। उनके विचार से सौंदर्यबोध ही सौंदर्य या सुंदर होता है। जब हम अपनी वीक्षा या कल्पना के सहारे किसी स्थान, दृश्य-विशेष या वस्तु को उसके प्राकृतिक परिवेश से पृथक् करके अपने मन के समक्ष रखते हैं तब उस काल्पनिक सृष्टि से हमें एक प्रकार का आनंद मिलता है। यही सौंदर्यबोध का आनंद है। जब तक कलाकार अपनी कल्पना के द्वारा प्रकृति के रूप को नहीं सँवारता तब तक उस प्रकृति को सुंदर नहीं कहा जा सकता, वस्तुतः प्रकृति स्वतः सुंदर नहीं होती। इस प्रकार वीक्षा के द्वारा गृहीत, संशोधित, परिवर्तित या परिवर्द्धित प्रकृति का हमारी आत्मा पर अंकित सुसंस्कृत रूप ही सुंदर कहला सकता है। किसी कवि के काव्य को सुंदर कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि हमें उसकी लिखित भाषा में कोई सौंदर्य दिखाई देता है। उदाहरणार्थ, शेक्सपियर के नाटक या वाल्मीकि का काव्य पढ़ते समय हम उसकी भाषा से प्रभावित नहीं होते वरन् उस भाषा को सुनकर या पढ़कर हमारी अन्र्तवृत्ति उसके अर्थ के अनुरूप जागृत हो जाती है और उसी अर्थ का अनुसरण करते हुए हमारी वीक्षावृत्ति जागृत होने के साथ ही व्यापारवती भी हो जाती है। इस व्यापारवती कल्पना में भासित वस्तु को ही सुंदर कहते हैं। इस प्रकार सौंदर्य आंतरिक है।

सौंदर्य आंतरिक होने के कारण किसी बहिरंग नियम या अनुशासन की सीमा में नहीं बाँधा जा सकता। आंतरिक होने के कारण ही उसके संबंध में ऐसा कोई निश्चित नियम नहीं बनाया जा सकता कि ऐसा करने से सुंदर होगा और ऐसा करने से नहीं होगा। वस्तुतः सुंदर का स्वरूप बताने के लिए कोई बाहरी वस्तु उपयोगी नहीं ठहरती। सौंदर्य केवल कल्पनामूलक अन्तर्व्यापार होता है।

सुंदर के रूप में गृहीत वस्तु को वस्तु तथा रूप या विषयवस्तु व प्रकाशभंगिमा नामक दो भागों में बाँटते हैं। इन दोनों को ध्यान में रखकर विषय-वस्तु को तो कुछ लोग केवल रूप को ही सौंदर्य का आधार बताते हैं। क्रोचे ने कहा है कि प्रकाशभंगिमा या रूप ही सौंदर्य का प्राण है। यही बात कुंतक व जयन्त भी मानते हैं। विषय-वस्तु मात्र या उसके साथ भंगिमा का सम्मिलन सौंदर्य का जनक नहीं है। वीक्षावृत्ति द्वारा विषयवस्तु निरंतर परिष्कृत होकर सुंदर रूपों में दिखाई देती है। विषयवस्तु व रूप दोनों की स्वतंत्र सत्ता के संयोग से सौंदर्य की निष्पत्ति क्रोचे नहीं मानते हैं। वीक्षावृत्ति के द्वारा आत्मस्वरूप में प्रकाशमय रूप की अवस्थिति ही सौंदर्य निष्पत्ति का आधार होती है। इसी कारण प्रकृति के अंधानुकरण को सुंदर नहीं कहा जा सकता। एक

फोटोग्राफर द्वारा खींचे गये फोटो में केवल उन्हीं स्थलों पर सौंदर्य जान पड़ेगा, जहाँ-जहाँ उसमें उस चित्रित व्यक्ति की अंग-भंगिमाओं का सुचारू प्रदर्शन हुआ होगा । केवल यांत्रिक छाया में वैक्षिक सौंदर्य नहीं होता । इसी कारण सौंदर्य को मात्र समग्रता सापेक्ष माना गया है । किसी सामग्री की समग्रता एवं अखण्डता की धारणा ही सौंदर्य का प्राण है । यही आंतरिक अनुभूति अखण्ड एवं सार्थक होती है । सहजानुभूति के विपरीत इन्द्रिय दर्शन किसी वस्तु को आँख से देखकर उसके किसी एक रूप का दर्शन है । जब उसी दर्शन को आध्यात्म भाव में मनन या ध्यान द्वारा एक विशेष अनुभूति के रूप में ग्रहण करते हैं तो वह सहज ज्ञान कहलाता है । इस प्रकार क्रोचे भी हीगेल, शोपेनहावर तथा कुछ कांट के समान सौंदर्य को एक प्रकार का आध्यात्मबोध स्वीकारते हैं ।

इस प्रकार क्रोचे के अनुसार सौंदर्यानुभूति हमारे अंदर होती है एवं इसका ज्ञान हमें मन पर बने हुए चित्र के आधार पर होता है । यह मानस चित्र या बिम्ब जितना अधिक स्पष्ट होगा उतनी ही वह वस्तु सुंदर होगी ।

चित्रकला के क्षेत्र में भी क्रोचे के स्वतंत्र सौंदर्यशास्त्र का प्रभाव परिलक्षित होता है । चित्रकला के क्षेत्र में नये प्रयोग हुए, कलावाद का उद्भव हुआ तथा निरंतर नये वाद बनते गये । स्पेन के तत्कालीन घनवादी चित्रकार पिकासो भी अभिव्यंजनावाद से प्रभावित हुए तथापि उन्होंने "कला, कला के लिए" को अर्द्धसत्य माना तथा कला को मानवीय जीवन के संपूर्ण सत्य से पृथक् नहीं किया । अतियथार्थवादी एवं घनवादी शैलियों का भावनापूर्ण उत्कर्ष इनके विश्वविख्यात चित्र "ग्वेर्निका" में मिलता है जो प्रतीकात्मक है तथा इनकी कला का परमोत्कर्ष बिंदु है जिसमें उनके सभी कलात्मक प्रयोगों का सार है । इसी प्रकार दादावाद, अतियथार्थवाद, वस्तुनिरपेक्ष कला आदि आंदोलनों को भी अभिव्यंजनावाद से विकास की पृष्ठभूमि मिली । यह आंदोलन फ्रांस तथा जर्मनी से अन्य स्थानों पर विस्तार ग्रहण करता गया । फ्रांस की कला का जर्मन कला पर 18वीं तथा 19वीं शताब्दियों में बहुत प्रभाव था । फ्रांस की कला के नये परिवर्तनों का जर्मन कला पर तुरंत प्रभाव पड़ता था । 18वीं शताब्दी में विन्किलमान के विचारों से प्रभावित होकर जर्मनी में शास्त्रीयतावादी शैली का पुनरुत्थान हुआ तथा 19वीं शताब्दी में फ्रांस प्रभाववाद से मुक्त होकर रिश्टर, श्विंड, बॉकलिन, फायरबाख, मारीस आदि चित्रकारों ने अपनी सृजनात्मक अनुभूतियों की कल्पना से चित्रण प्रारंभ किया । इन चित्रकारों के रोमांसवादी दृष्टिकोण ने जर्मन अभिव्यंजनावाद के विकास में सहायता की ।

फ्रांस कला में इस समय फाववाद और नाबिवाद प्रचलित था जिसमें आलंकारिकता तथा रंग प्रधान थे । इन चित्रकारों में ब्राक, फर्डिनांड होडलर, मुंख, जेम्स एन्सोर, मातिस, मौरिस, ब्लामिंक, शैल, धुफि आदि थे । जर्मन अभिव्यंजनावाद को पौला मोडर सोन बेकर, एमिल नोल्ड, किर्शनर, कान्डिंस्की, पॉल क्ली, यालेन्स्की, ओस्कर कोकोश्का आदि चित्रकारों ने चरमोत्कर्ष पर पहुँचाया । मुंख का चित्र "आवाज," मातिस का चित्र, "हरी-पट्टी," पिकासो का "ग्वेर्निका," ब्राक का चित्र "अहंकार," होडलर का चित्र "जीवन से संत्रस्त," क्ली के चित्र "कुल्हाड़ी से कटा हुआ शीर्ष" तथा "पीले पक्षियों वाला प्रकृति-चित्र," कोकोश्का का चित्र "संगीत का सामर्थ्य," कान्डिंस्की का चित्र "संयोजन" आदि रचनाएँ इस आंदोलन की प्रभावपूर्ण उदाहरण है तथा कलावादी विचारधारा की पोषक हैं ।

□□□

अध्याय 7

कलावादी सिद्धांत

बीसवीं शताब्दी के पूर्व सौंदर्यशास्त्र के क्षेत्र में मुख्यतः दो धाराएँ प्रचलित थीं-प्रत्ययवादी या बौद्धिक तथा अनुभववादी या भावात्मक। किंतु इन धाराओं से भिन्न क्रौचे के अभिव्यंजनावाद द्वारा बीसवीं शताब्दी में एक नयी धारा का प्रादुर्भाव हुआ जिसे कलावादी नाम से अभिहित किया गया। क्रौचे से पूर्व काव्य या कला के सृजन तथा ग्रहण में बुद्धि एवं अनुभव को प्राथमिकता दी जाती थी, किंतु एडीसन तक आते-आते कल्पना को अत्यधिक महत्ता दी जाने लगी। क्रौचे ने अपने सिद्धान्त में कलानुभूति में कल्पना तत्त्व को सर्वोपरि प्रतिष्ठित कर दिया। क्रौचे ने अनुभूति को ज्ञान-रूप मानते हुए भी यह सिद्ध किया कि यह ज्ञान बौद्धिक न होकर प्रातिभ या स्वयं प्रकाश्य होता है। इसी प्रातिभ ज्ञान से होने वाली आंतरिक अभिव्यक्ति ही कल्पना है तथा यही मूल अभिव्यंजना है जो शब्द, रंग आदि के माध्यम से बाहर प्रकाशित होती है। क्रौचे ने केवल अभिव्यंजना के सौंदर्य को ही स्वीकार किया है, वस्तु या विषय में सौंदर्य की स्थिति स्वीकार नहीं की है। अभिव्यंजना को भी क्रौचे ने कल्पना का पर्याय माना। क्रौचे की उक्त मान्यताओं, जिनका विस्तृत विवेचन पूर्व अध्याय में हो चुका है; से ही कलावाद का जन्म हुआ जिसका अनुसरण रोजर फ्राय, क्लाइव बेल, ए॰सी॰ ब्रेडले, वाल्टर पेटर तथा आर॰ जी॰ कलिंगवुड ने किया। इन कलावादी विचारकों ने सौंदर्यानुभूति को सर्वथा विलक्षण, स्वायत्त एवं जीवन-निरपेक्ष माना तथा सौंदर्यानुभूति के लिए लौकिक जीवन की प्रासंगिकता का पूर्णतः निषेध कर दिया। ये कलावादी कला के लिए अनुभूति-मात्र का प्रत्याख्यान न करके उसे लौकिक अनुभवों से सर्वथा विलक्षण, नितान्त व्यक्तिगत तथा विशिष्ट घोषित करना चाहते थे।

कलावादी आंदोलन 19वीं शताब्दी के दूसरे दशक में प्रारंभ हुआ। गोतेयर इस आंदोलन के प्रतिनिधि थे तथा बाद में फ्लाबेयर, बॉदलेयर, गोन्कोर आदि भी इस आंदोलन में सम्मिलित हो गये। इंग्लैण्ड में सर्वप्रथम वाल्टर पेटर ने कलावादी मान्यताओं को सिद्धान्त रूप दिया।

कलावाद का आंदोलन उपयोगितावादी दृष्टिकोण के विरुद्ध एक सशक्त प्रतिक्रिया है। उपयोगितावादी विचारकों के अनुसार कला का स्वयं में कोई उद्देश्य नहीं होता, क्योंकि उत्पादन की वस्तुएँ स्वयं में एक उद्देश्य नहीं बन सकतीं, वे सदैव साधन होती हैं। उन्हें तभी सार्थक तथा सुन्दर समझा जा सकता है जब उनका कोई उपयोग होता है तथा सभी स्वीकृत होती हैं जबकि किसी अच्छे उद्देश्य की पूर्ति करें। अर्थात् उपयोगितावादी दृष्टिकोण था कि जीवन ही सर्वस्व है तथा प्रत्येक वस्तु जीवन के लिए है। कला भी इसमें सम्मिलित है। कला यदि सौंदर्य उत्पन्न करती है

तो सौंदर्य जीवन के लिए है तथा कला आदर्शों को प्राप्त करने हेतु साधन मात्र है, जबकि कलावादी आंदोलन में इस तथ्य पर बल दिया गया कि "कला कला के लिए ही है ।" इसी कारण वस्तु पक्ष को महत्त्व न देकर कला पक्ष को महत्त्व दिया गया, विषय के स्थान पर रूप को प्रधानता दी गयी तथा अन्य आदर्शों की उपेक्षा करके सौंदर्य को कला का एकमात्र तत्त्व स्वीकार किया गया । कलावाद के कुछ मूलभूत सिद्धान्तों का उल्लेख नीचे किया जा रहा है :

सौंदर्य की आराधना

कलावादी विचारकों तथा कलाकारों ने सौंदर्य-तत्त्व को सर्वोच्च तत्त्व स्वीकार किया । सौंदर्य को ही जीवन का परम आदर्श माना, किंतु प्लेटो के समान वे सौंदर्य को पारमार्थिक सत्ता नहीं, बल्कि ऐहिक सत्ता मानते थे । उनके अनुसार सौंदर्य का एकमात्र गुण रुचिकर संवेग उत्पन्न करना था । वस्तुतः सौंदर्य अतीन्द्रिय है तथा इसको महत्त्व देते हुए कलावादी कलाकारों में रहस्यवादी दृष्टि उत्पन्न हो गयी । ये ऐसी वस्तु के संबंध में उत्सुक रहने लगे जिसके बारे में इन्हें कुछ भी ज्ञात न हो, जो विलक्षण हो । कलावादियों के अनुसार यदि कोई कलाकार किसी वस्तु को सौंदर्य की दृष्टि से नहीं देखता तो वह कलाकार नहीं है । सौंदर्य की आराधना उसके आकर्षण पक्ष के साथ ही विध्वंसक पक्ष में भी की गयी । कलावादियों ने सौंदर्य में ईश्वरीय और पैशाचिक दोनों शक्तियों को समाहित किया । कलावादियों के अनुसार, "कलाकार सुन्दर वस्तुओं का सृष्टा है ।"

कला-पक्ष : रूप

कलावाद की मूल स्वीकृति थी कि किसी कृति की सफलता उसके रूप की पूर्णता पर आधारित होती है । रूप जितना स्पष्ट होगा, जितना वस्तुगत होगा और जितना ही इन्द्रिय-ग्राह्य होगा, सौंदर्य उतनी ही अधिक मात्रा में उत्पन्न होगा । रूप की पूर्णता प्राप्त करने हेतु कलात्मक अभिरुचि तथा कठोर श्रम करने की क्षमता आवश्यक है । रूप श्रम-साध्य है क्योंकि अन्वेषण करने पर ही उसकी उपलब्धि होती है तथा गहन निरीक्षण से उसकी विशिष्टताओं का बोध होता है । कलावादियों की मान्यता थी कि रूप को विशिष्टता प्रदान करने हेतु उसे अधिकाधिक ऐन्द्रिय रूप देना चाहिये । रूप ही कला का प्राण है तथा रूप और शिल्प की बारीकियों से दर्शक अनभिज्ञ रहे तो हमें क्या । कला में विषयवस्तु नगण्य व तुच्छ है, उसका मूल तत्त्व रूप ही है । फ्लाबेयर जिन्हें रूप का जादूगर कहा जाता था, विषयवस्तु को निरर्थक सिद्ध करने हेतु एक ऐसी पुस्तक की रचना करना चाहते थे जिसमें विषयवस्तु नहीं होती, केवल शैली व शिल्प का ही चमत्कार होता है । रूप को इतना महत्त्वपूर्ण सिद्ध करते हुए भी कलावादी वैयक्तिकता, अस्पष्टता तथा अपूर्णता को तिरस्कृत करते थे । वे अवैयक्तिकता, स्पष्टता, वस्तुपरकता तथा यथार्थ चित्रण को महत्त्व देते थे । इन्होंने शिल्पगत और आध्यात्मगत सौंदर्य में तादात्म्य स्थापित किया । वाल्टर पेटर ने रूप और वस्तु के पूर्ण तादात्म्य को "अविभाज्य इकाई" कहा । रूप व वस्तु यदि पृथक् दिखाई दे तो कला अधूरी रहती है । रूप व वस्तु का तादात्म्य ही सौंदर्य की उत्पत्ति का कारण है । कला विषयवस्तु के कारण महान् नहीं होती वरन् सौंदर्य की अभिव्यक्ति ही महान् कला है ।

रचना-प्रक्रिया

कलावादियों ने रचना-प्रक्रिया को श्रम-साध्य बताया है। ये सहजता एवं उन्मुक्त प्रवाह को महत्त्व नहीं देते थे। ये कला को एक सचेत प्रक्रिया मानते थे क्योंकि उत्प्रेरणा के बल पर कलात्मक रचना नहीं हो सकती। गहन चिन्तन-मनन के पश्चात् ही कलात्मक रचना की प्रक्रिया प्रारंभ होती है। इस प्रकार रचना-प्रक्रिया आनंदप्रद होने के साथ कष्टप्रद भी हो गयी। फ्लाबेयर के लिए कहा जाता है कि वे एक-एक शब्द और मुहावरे कई दिनों तक खोजते रहते थे। सेजां, वानगो, गोगिन, पिकासो आदि के चित्रों की रचना-प्रक्रिया भी श्रमसाध्य थी। शैली के संबंध में भी इन कलाकारों में मतभेद था। कुछ ज्यामितीयता को अभिव्यक्ति देने के पक्षधर थे; तो कुछ लचीलेपन को महत्त्वपूर्ण मानते थे। काव्य में भी यह मतभेद दृष्टिगत होता है।

फ्लाबेयर गद्य में लय, ध्वनि एवं प्रभावोत्पादक सौंदर्य का समर्थन करते थे; तो गोन्कोर संवादों के माध्यम से सौंदर्य उत्पन्न करने में विश्वास करते थे। कलावादी विचार की स्पष्टता तथा रूप के पूर्णोदय तक कलात्मक रचना की प्रक्रिया हेतु प्रतीक्षा करने के पक्षधर थे अर्थात् जब तक कलाकार की आत्मा वस्तु की प्रतिमा तथा रंग को अपने अंतर में पूर्णरूपेण प्राप्त न कर ले तब तक कला रचना व्यर्थ है।

इन मान्यताओं को दृष्टि में रखते हुए हम सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कलावादी कला को व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति मानते थे। ये वैयक्तिकता को महत्त्व देते थे। इन विचारकों व कलाकारों के अनुसार कला रचनाकार के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है। व्यक्ति के मानसिक प्रभावों और विचारों का उसकी कलाकृति पर पड़ा हुआ प्रभाव ही कला का मूल तत्व है। रोमांटिक कलाकार भी "विशिष्टता" के प्रति ऐसा ही आग्रह रखते थे। कलावादी कलाकारों के अनुसार कला सदैव विचार एवं अनुभूति का ऐन्द्रिय निरूपण रही है।

कला एवं जीवन

कलावादी जीवन को एक कला मानते थे। उनके अनुसार यदि कलात्मक मूल्यों के आधार पर जीवन व्यतीत किया जाये तो अधिक सरस एवं आनंदप्रद होगा। रस्किन ने सौंदर्य को जीवन के लिए आवश्यक बताया था। सुन्दर वस्तुएँ, मूर्तियाँ, कविताएँ, प्राकृतिक दृश्य आदि को जीवन के आस-पास एकत्रित करके सुन्दर जीवन बनाया जा सकता है। हमें ऐसे समाज का निर्माण करना चाहिये जहाँ कला को उचित स्थान मिल सके। वाल्टर पेटर ने मानव जीवन के सत्वर बोध की प्राप्ति कला से मानी थी। इनके अनुसार सौंदर्य स्वयं में एक उद्देश्य है किंतु इसका कारण मात्र ऐन्द्रियप्रियता न होकर आध्यात्मिक तत्त्वों का समावेश भी है। कलावादी जीवन को एक कला मानते थे तथा सौंदर्य को जीवन का सर्वोत्तम मूल्य स्वीकार करते थे, फिर भी उनका सौंदर्य-दर्शन महान् नहीं था। इनकी विचारधारा संकीर्ण थी क्योंकि ये कला व सौंदर्य को समाज से अलग मानते थे। इस आंदोलन का स्वरूप प्रतिक्रियात्मक था। "उपयोगितावादी" एवं "कला, कला के लिए" दोनों दृष्टिकोणों में द्वन्द्व उत्पन्न होने के कारण ही कलावाद का उद्भव हुआ था।

आगे चलकर कट्टर कलावादियों ने कला और जीवन के मध्य एक गहरी विभाजक रेखा खींच दी थी। आगे चलकर 1848 ई॰ में एक बार फिर क्रांति हुई तो अनेक कलावादियों ने

कलावाद को छोड़ दिया था क्योंकि जब कलावाद चरम सीमा पर पहुँचा तो नैतिक उद्देश्य की माँग करना उसकी कृति को विध्वंस करना है। स्विनबर्न ने कहा था कि कला न तो आग है, न पानी, न ही आज्ञाकारी नौकरानी, वह हमें किसी भी प्रकार सहायता नहीं दे सकती और यदि वह कल्याण करने का प्रयत्न करती है तो विनाश के निकट हो जाती है। कलावादी विचारधारा प्रतीकवाद, फाववाद, घनवाद, अभिव्यंजनावाद से प्रारंभ होती हुई अनेक अप्रमुख वादों (भविष्यवाद, भँवरवाद, किरणवाद, सुरीलवाद, सर्वोच्चवाद, नव-लचीलवाद, डि स्टाइल आत्म-तत्त्वीय चित्रण, रचनावाद आदि) में अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँची। वैचारिक क्रांति पहले आती है, तत्पश्चात् कलात्मक क्षेत्र भी उससे प्रभावित होता है। इसी कारण यह कलावाद 1811 से 1820 के मध्य प्रारंभ होता हुआ लगभग 20वीं शताब्दी के प्रारंभ तक अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँचा जिसमें ग्रोत्स, कार्लो कारा, सेक्सिओदोर, मेलावीच, मोद्रियां, केन्डिन्सकी, शिरिको आदि ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। अब हम कलावाद के प्रमुख सौंदर्यशास्त्रियों की मान्यताओं का संक्षिप्त विवेचन करेंगे।

रोजर फ्राय [Roger Fry]

सौंदर्यशास्त्र के क्षेत्र में रोजर फ्राय ने चित्रकला को ध्यान में रखकर सौंदर्यशास्त्र पर अपने विचार प्रस्तुत किये। इनके अनुसार कला मनुष्य के काल्पनिक जीवन की अभिव्यक्ति है। ये कला में नैतिक दायित्व को आवश्यक नहीं मानते थे। इनका विचार था कि कला हमारे जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं से मुक्त होती है। कला में संवेगों की अनुभूति होती है जो यथार्थ जीवन के संवेगों की अभिव्यक्ति से साम्य रखती है किंतु समरूप नहीं होती। कलाकार कला में जो संवेग व्यक्त करता है वे कल्पना पर आधारित होते हैं तथा यथार्थ जीवन के संवेगों से दुर्बल होते हैं। उन संवेगों को हम अनुभूत कर सकते हैं तथा देख भी सकते हैं। इन कला-जनित संवेगों से दर्शक के मन में किसी प्रकार के प्रतिक्रियात्मक भाव उत्पन्न नहीं होते वरन् वह कलाकृति तथा दर्शक एक हो जाते हैं और दर्शक तीव्र मनन अवस्था में रहता है। यही अवस्था उसे यथार्थ जीवन के राग-द्वेष से मुक्त रखकर आनन्द देती है। यह आनन्द तथा सौंदर्य ऐन्द्रियता से मुक्त तथा विलक्षण होता है। इस प्रकार रोजर फ्राय ने कलात्मक संवेगों को जीवन के संवेगों से भिन्न माना है। दर्शक की अनुभूत संवेदनाओं को कलाकार ही जागृत करता है तथा दर्शक जब कलाकृति का परिशीलन करता है तो उसके संवेग उद्वेलित हो जाते हैं तथा वह कलाकार से विशिष्ट संबंध स्थापित कर लेता है। इस समय दर्शक यह अनुभव करने लगता है कि कलाकार द्वारा की गई संवेगों की अभिव्यक्ति प्रच्छन्न रूप में उसमें विद्यमान रही है किंतु वह उसे अनुभूत नहीं कर सका। इस प्रकार दर्शक कलाकृति के माध्यम से अपने ही भाव प्रातिभ ज्ञान करता है। भावों का यह प्रातिभज्ञान ही समानुभूति है। उन संवेगों को हम अनुभूत कर सकते हैं। इन कलाजनित संवेगों से दर्शक के मन में किसी प्रकार के प्रतिक्रियात्मक भाव उत्पन्न नहीं होते वरन् कलाकृति तथा दर्शक एक हो जाते हैं और दर्शक तीव्र मनन अवस्था में रहता है। यही अवस्था उसे यथार्थ जीवन के राग-द्वेष से मुक्त रखकर आनन्द देती है। रोजर फ्राय भी सार्थक रूप को महत्त्वपूर्ण मानते हैं। किसी भी कलाकृति में सार्थक रूप के अतिरिक्त अन्य अर्थ खोजना व्यर्थ है। इनके अनुसार किसी भी कलाकृति में निहित संवेगों के प्रस्तुतिकरण में सोद्देश्य क्रम तथा वैभिन्य से दर्शक के मन में सौंदर्य का भाव

उत्पन्न होता है तो ऐन्द्रिय सौंदर्य से विलक्षण है। कला से प्राप्त आनन्द अधिक मौलिक तथा पूर्णतः भिन्न प्रकार का होता है तथा भौतिक व क्षणिक नहीं होता।

क्लाइव बेल [Clive Bell]

क्लाइव बेल भी सौंदर्यशास्त्र का मूल उद्भव विलक्षण संवेगों की निजी अनुभूति को मानते थे। हम उसी कृति को कलाकृति कहते हैं जिसके प्रति हमारे भाव उद्रेक हो जाता है। इनका मत था कि कलाकृति की समस्त प्रणालियाँ वैयक्तिक अनुभूति पर आधारित होनी चाहिये। कलाकृति का परिशीलन करने के लिए हमें जीवन के किसी तत्त्व-ज्ञान और संवेगों के परिचय की आवश्यकता नहीं होती। कला हमें मनुष्य के क्रियाकलाप से ऊपर उठाकर सौंदर्यात्मक आनंद के संसार में मग्न कर देती है। कुछ समय के लिए हम मानवीय, रुचि-अरुचि, राग-द्वेष, प्रेम-घृणा, सुख-दुःख आदि भावों से दूर हो जाते हैं। क्लाइव बेल के अनुसार कलाकृति से जागृत भावना देशकाल से परे होती है तथा दर्शक जब उसका परिशीलन करता है तो वह भी देश-काल के बंधन से मुक्त हो जाता है। इसी कारण प्रत्येक युग की कलाकृति का शाश्वत और स्थायी मूल्य बना रहता है।

क्लाइव बेल ने सभी कलाकृतियों की सामान्य विशेषता सार्थक रूप (सिग्नीफिकेण्ट फार्म) को माना है। इनका मत था कि सौंदर्यशास्त्र की सभी पद्धतियों में चिंतन का आरंभिक बिंदु अनिवार्यतः किसी विशिष्ट संवेदन का व्यक्तिगत अनुभव होता है जिसका उद्बोधन कलाकृति के रूप से ही संभव होता है। क्लाइव बेल के अनुसार सार्थक रूप वह है जो सर्वथा अनन्य अनुभूति को उद्बुद्ध करे तथा अनन्य अनुभूति वह है जो सार्थक रूप को उद्बुद्ध करे। रेखाओं और रंगों के इन संयोगों और संबंधों को सौंदर्यपरक रीति के गत्वर इस रूप को बेल सार्थक रूप कहते हैं तथा सार्थक रूप समस्त चाक्षुण कलाओं की सामान्य विशेषता है। कलाकृति का संपूर्ण सौंदर्य रूपाकार का सौंदर्य है तथा उसमें किसी भी प्रकार के तथ्य या कथ्य को खोजना व्यर्थ है। कलात्मक सौंदर्य से प्राप्त आनन्द निरपेक्ष होता है इसलिए वहाँ प्रयोजन, वस्तु या तथ्य को खोजना उचित नहीं है। कुछ वस्तुएँ ऐसी होती हैं जिनसे मात्र नन्दतिक तृप्ति मिलती है। ऐसी रूपाकृतियाँ ही मूलतः कला सृजन की देन होती हैं। सार्थक रूप वही है जिससे हमारी सौंदर्यशास्त्रीय भावनाएँ संतुष्ट हों। इस प्रकार क्लाइव बेल सुंदर आकार को नहीं वरन् सौंदर्यशास्त्रीय आकार को ही सार्थक रूप मानते थे जिसे हिन्दी में "रसनीय रूप" भी कहा जा सकता है। क्लाइव बेल का यह सिद्धान्त केवल आधुनिक अमूर्त कला पर ही सटीक उतरता है शास्त्रीय कलाओं पर नहीं, क्योंकि इनके अनुसार चाक्षुण कलाओं में अर्थ खोजना व्यर्थ है तथा कलाकृति में विषय महत्त्वपूर्ण न होकर केवल रंग-रेखाओं की संयोजना ही महत्त्वपूर्ण होती है।

क्लाइव बेल तथा रोजर फ्राय ने अपने सिद्धान्त ऐसे समय में प्रस्तुत किये थे जबकि चित्रकला के क्षेत्र में प्रतिरूपण वाले तत्त्वों का निषेध होकर अमूर्तता की प्रवृत्ति का उदय होने लगा था। किन्तु यह कलावादी सिद्धान्त कलागत अनुभवों के जीवंत संदर्भ की प्रासंगिकता का बहिष्कार करके कला को निर्जीव कर देता है।

□□□

अध्याय 8

मनोवैज्ञानिक सौंदर्यशास्त्र

19वीं शताब्दी के अंतिम दशकों में सौंदर्यशास्त्र को अधिकाधिक वैज्ञानिक मोड़ देने का प्रयास किया गया तथा तत्त्व-मीमांसा व दर्शन के क्षेत्र से निकालकर अनुभव के क्षेत्र में लाने का प्रयास किया गया। इस समय मानव मृत्यु की आशंका से ग्रस्त था, इसी कारण कला के क्षेत्र में गूढ़ रहस्यों तथा पारलौकिक अनुभवों को महत्त्व मिल रहा था। 1914 में विश्वयुद्ध होने के पश्चात् कलाकारों ने भी प्रचलित सौंदर्य कल्पना के अंत को देखा। इस युद्ध के कारण मानव जीवन छिन्न-भिन्न हो गया तथा सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् की कल्पना नष्ट हो गयी। साहित्यकारों, कलाकारों तथा सौंदर्यशास्त्रियों को संपूर्ण विश्व अर्थहीन लगने लगा, इसी कारण मनोवैज्ञानिकों ने सौंदर्यशास्त्र को अध्ययन विषय बनाया। सर्वप्रथम जर्मनी में ही इसका प्रारंभ हुआ। थियोडोर लिप्स का सहसंवेदन का सिद्धान्त इसी परंपरा की शुरुआत थी। मनोवैज्ञानिक या प्रयोगात्मक सौंदर्यशास्त्र की स्थापना गुस्ताव थियोडोर फेचनर ने की थी।

थियोडोर लिप्स [Theodor Lipps] (1851-1914 ई०)

थियोडोर लिप्स ने दार्शनिक दृष्टिकोण से अलग हटकर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सौंदर्यशास्त्र की व्याख्या करके एक नवीन विचार का समावेश किया।

लिप्स के अनुसार सहसंवेदन हमारी मूल प्रवृत्ति है जिसका अस्तित्व प्रत्येक प्राणी में मिलता है। यह एक सौंदर्यमूलक क्रिया है जिसका प्रभाव बाह्य तथा आंतरिक है। वस्तु हमें सुन्दर लगती है तथा यही सुंदरता की भावना हमें तृप्त करती है। इस प्रकार वास्तविक तृप्ति का कारण वस्तु नहीं वरन् हमारे मन का सौंदर्यमूलक भाव है। इसी कारण लिप्स ने सौंदर्य का उद्भव आंतरिक माना है अर्थात् आदर्श आत्मा में ही सौंदर्य की उत्पत्ति होती है। यह सहसंवेदन भी दो प्रकार का होता है :

1. **ऐच्छिक**-जब हम प्रयत्नपूर्वक किसी वस्तु में अपनी भावनाओं का आरोप करते हैं तो यह ऐच्छिक सहसंवेदन कहा जाता है। यह सौंदर्यानुभूति से भिन्न होता है।
2. **अनैच्छिक**-जब हम वस्तु की क्रिया के साथ स्वयं को इतना तन्मय कर लेते हैं कि हमें स्व का बोध नहीं रहता तो यह अनैच्छिक सहसंवेदन कहा जाता है। इस स्थिति में वस्तु तथा आत्मा में कोई भेद नहीं रहता, यही सौंदर्यानुभूति का क्षण है। इन क्षणों में हम स्वयं

को विश्रान्त स्थिति में पाते हैं तथा उच्चता का अनुभव करते हैं। यही आदर्श आत्मा की वास्तविक क्रिया है जिससे सौंदर्य उत्पन्न होता है।

सौंदर्यानुभूति की प्रक्रिया का संबंध भी लिप्स सह-संवेदन से बताते हैं। भाव हमारे मन में रहते हैं पर हम उन भावों का आरोप वस्तुओं पर करते हैं। फलस्वरूप हमारे मनोभावों के अनुरूप ही बाह्य वस्तुएँ भी प्रतीत होने लगती हैं क्योंकि इस अवस्था में हम वस्तुओं को जड़ न मानकर सजीव मानने लगते हैं। हमें अनुभव होता है कि वस्तुएँ भी हमारे मनोभावों के अनुरूप ही प्रसन्न या उदास हैं। इस प्रकार लिप्स ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि प्रत्येक सौंदर्यमूलक वस्तु जीवित सत्ता का प्रतिनिधित्व करती है। सौंदर्यानुभूति का आनंद वस्तु में आरोपित अपनी ही क्रियाओं के फलस्वरूप उत्पन्न होता है। जब हम प्रसन्न होते हैं तो चन्द्रमा भी मुस्कराता हुआ दिखाई देता है। जब हम उदास होते हैं तो सम्पूर्ण प्रकृति ही उदास दृष्टिगत होती है। इन अनुभूतियों के समय हमारी माँसपेशियाँ कोई क्रिया नहीं करतीं, मन जो अनुभव करता है वही महत्त्वपूर्ण है। किन्तु हम स्वयं को प्रयत्नशील तथा सक्रिय महसूस करते हैं। कलाकृतियों में भी इसी अनुभव का महत्त्व होता है। थियोडोर लिप्स ने अपने ग्रंथ 'Haunesthetik' में अपने महत्त्वपूर्ण समानुभूति के सिद्धान्त की प्रथम विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की। इनके अनुसार समानुभूति का तात्पर्य सौंदर्यानुभूति के क्षणों में विषय एवं विषयी के मध्य पार्थक्य-द्योतक द्वैत-चेतना का लोप है। अर्थात् दर्शक, कलाकार व कलाकृति के मध्य स्व का भाव समाप्त हो जाता है तथा एक तादात्म्य स्थापित हो जाता है। इस द्वैत चेतना का लोप विषयी अर्थात् दर्शक के द्वारा विषय अर्थात् कलाकृति पर अहं के प्रक्षेपण से होता है। इन्होंने अहं के भी दो रूप निर्धारित किये हैं-व्यवहारिक अहं तथा आस्वादशील अहं। जब विषयी के अंह का विषय पर प्रक्षेपण होता है तो वह आस्वादशील अहं होता है व्यवहारिक नहीं। इस प्रक्रिया में विषयी का चेतनधर्मी चित्त स्वयं सक्रिय होता है तथा अचेतन रूप से जड़ कलावस्तु को संजीवित करता है। अर्थात् इस पारस्परिक अंतःप्रवेश के परिणामस्वरूप चित्र की क्रियाएँ-प्रयत्नशीलता, इच्छाशक्ति, मुक्ति का बोध, शक्ति का बोध आदि कलाकृति में प्रवेश कर जाती हैं एवं कलाकृति चित्र की इन क्रियाओं से तादात्म्य स्थापित कर लेती है। लिप्स के मतानुसार सौंदर्यानुभूति में विषय एवं विषयी के भेद समाप्त हो जाते हैं। इस प्रकार लिप्स ने विषय और विषयी के अभेदत्व की स्थापना कर अभिनव गुप्त की मान्यता के अनुरूप सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। जो साधारणीकरण सिद्धान्त के अधिक निकट है तथा जिसने सर्वथा मनोवैज्ञानिक स्वरूप ग्रहण किये हैं। लिप्स के अनुसार समानुभूति सामान्यतः मानस प्रतीत्यात्मक क्रिया है और प्रत्येक इन्द्रिय-ग्राह्य पदार्थ विषयी हेतु दो उपादानों की निर्मिति करता है। प्रथम उपादान ऐन्द्रिय रूप में प्रस्तुत किया जाता है एवं द्वितीय मानसिक प्रतीत्यात्मक क्रिया का उपादान है। अनुभूति में भी दो प्रकार से समानुभूति सम्पन्न होती है। प्रथम अनुभूति विधेयात्मक क्रिया होती है तथा द्वितीय निषेधात्मक। कला-कृतियों के आस्वादन में निषेधात्मक समानुभूति का कोई स्थान नहीं है। यह विधेयात्मक समानुभूति ही होती है जिसमें स्वतंत्रता या मुक्ति का भाव निहित रहता है तथा आनन्द की भावना का उद्भव होता है और यही समानुभूति का सिद्धान्त है। लिप्स के मतानुसार, जिस कलाकृति में विधेयात्मक समानुभूति सम्पन्न होती है उसका स्वरूप ही सुन्दर कहा जा सकता है तथा जहाँ इसका अभाव होता है उसे असुन्दर कहते हैं।

सिगमन्ड फ्रायड [Sigamund Fried] (1856-1939 ई॰)

फ्रायड आधुनिक युग के महानतम मनोचिकित्सक थे। ये पहले वैज्ञानिक थे जिन्होंने मन की अन्तरतम ग्रंथियों को सुलझाने के प्रयत्न किये। मनुष्य के प्रत्येक व्यवहार का कारण उसका मन ही है। हमारे मानसिक विचार ही बाह्य क्रिया के रूप में प्रकाशित होते हैं। फ्रायड़ ने देखा कि रोगी की भावनाएँ जो उसके रोग का कारण हैं समूल नष्ट नहीं होतीं, वे निर्देशक के प्रबल विचारों के कारण दब जाती हैं और जब अवसर मिलता है तो उभर आती हैं। फ्रायड के मन में यह कल्पना आयी कि दबी हुई भावनाओं को प्रबल निर्देश के द्वारा दबाना नहीं चाहिये वरन् उनको किसी प्रकार खोजकर बाहर लाना आवश्यक है। इन्होंने अचेतन मन की भूमि पर ही कलाकृति तथा उसकी रचना-प्रक्रिया का विश्लेषण किया है। इन्होंने "लिबिडो थ्योरी" से लेकर "सैक्सुअल थ्राल्डम" तक की पृष्ठभूमि में कलाकृतियों की विवेचना की। इनके प्रश्न थे कि कोई भी सिद्धान्त सौंदर्यशास्त्र में क्यों आवश्यक है ? सौंदर्य क्या है ? सौंदर्यानुभूति क्यों होती है ?

सौंदर्य ग्रहण करने की दृष्टियाँ भी अलग-अलग होती हैं। जैसे नीरो को सारा नगर जलता हुआ देखकर प्रसन्नता हुई थी। हिटलर लोगों पर अत्याचार करने आनंदानुभूति करता था। इसी प्रकार औरंगजेब को अपने पिता तथा भाइयों को मारकर राज्य हड़पने में प्रसन्नता हुई थी। इन सबका कारण क्या है ? दूसरों को कष्ट देने में भी प्रसन्नता क्यों होती है ? मन के अध्ययन के आधार पर ही देखा कि एक ही घटना पर अलग-अलग व्यक्तियों की अलग-अलग प्रतिक्रियाएँ होती हैं। यहाँ तक कि एक ही घटना दो बार घटित होने पर एक ही व्यक्ति को अलग-अलग अनुभूति होगी।

कुण्ठा के संदर्भ में फ्रायड ने रागात्मक आवश्यकता का भी उल्लेख किया। जब व्यक्ति की रागात्मक आवश्यकता पूरी होती रहती है तब तक वह स्वस्थ रहता है किंतु जैसे ही उसकी प्रेम संबंधी क्षुधा पूरी नहीं होती तो उसमें मनस्तापी प्रवृत्ति उत्पन्न होने लगती है। फ्रायड ने लिखा है कि "सुख स्वास्थ्य का पर्यायवाची है और दुःख मनस्ताप का।" तात्पर्य यह है कि व्यक्ति को कुण्ठा से बचाना चाहिये।

इन्हीं भावनाओं से प्रेरित होकर फ्रायड ने मन के गुप्त स्तरों को खोजने का दृढ़ संकल्प किया। फैचनर ने कहा था कि "रुग्ण आत्माओं का उपचार मनोविज्ञान के लिए अनुपयुक्त अनुगमन है।" किंतु विशेषतः इन्हीं रुग्ण-आत्माओं के उपचार के मध्य, निदान के अभ्यास में फ्रायड का मनोविश्लेषणवाद एक अत्यंत प्रभावशाली मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के रूप में उद्‌भूत हुआ तथा व्यवहारिक अनुभव के आधार पर इन्होंने मानव-व्यवहार की व्याख्याओं को एक अभूतपूर्व मोड़ दिया। वस्तुतः फ्रायड के सिद्धान्तों का जन्म ही "विकृत आत्माओं के उपचार" में हुआ था। "चेतन व्यवहार की नियंत्रक डोरियाँ अचेतन द्वारा खींची जाती हैं" यह नवीन सिद्धान्त का स्थापन करते हुए फ्रायड ने मानव प्रकृति तथा व्यवहार के गहन स्तरों की कुँजी अचेतन के रूप में प्रस्तुत की। अपनी अनूठी मुक्त साहचर्य प्रविधि के द्वारा फ्रायड अचेतन के गहन स्तरों में प्रविष्ट होते हुए यह विचार प्राप्त करने लगे कि मानवीय असामान्य व्यवहार के मूल उसके अचेतन संसार में खोजे जा सकते हैं। यह विचार फ्रायड के जीवन का एक महत्त्वपूर्ण मोड़ था।

इस समय मन के दो भाग ही माने जाते थे :

(1) प्रथम वह जो हमें साधारणतः ज्ञात हैं जिसे चेतन मन कहते हैं,

(2) दूसरा वह जिसका ज्ञान हमें नहीं रहता और जिसकी क्रियाओं का ज्ञान कराना भी बड़ा कठिन होता है। यह अचेतन मन है। फ्रायड ने अपना जीवन अचेतन मन की क्रियाओं के अध्ययन में लगाया।

नवीन मनोविज्ञान की खोजों के परिणामस्वरूप मन के तीन भाग निश्चित किये :

(1) चेतन मन,

(2) अर्द्धचेतन या चेतनोन्मुख मन, एवं

(3) अचेतन मन।

(1) **चेतन मन**–चेतन मन, मन का वह भाग है जिसमें मन की समस्त ज्ञान क्रियाएँ विचरण करती हैं। इन सभी क्रियाओं का नियन्त्रण चेतन मन ही करता है। चेतन मन की क्रियाओं का हमें अहंकार होता है। यदि इन क्रियाओं में कोई भूल होती है तो हम स्वयं को जिम्मेदार समझते हैं। हमारा कोई भी विचार चेतन मन में ही आकर प्रकाशित होता है। यह इन्द्रियों से जुड़ा होता है।

(2) **अर्द्धचेतन मन**–चेतन मन के परे अर्द्धचेतन या चेतनोन्मुख मन होता है। मन के इस स्तर पर भावनाएँ, स्मृतियाँ, इच्छाएँ तथा संवेदनाएँ रहती हैं जो प्रकाश्य नहीं हैं किंतु जो चेतन मन पर आने हेतु तत्पर हैं। कोई भी विचार चेतन मन में प्रकाशित होने के पूर्व चेतनोन्मुख मन में रहता है।

(3) **अचेतन मन**–चेतनोन्मुख मन के परे अचेतन होता है। अचेतन मन के विचार एवं भावनाएँ न हमें ज्ञात रहती हैं तथा न प्रयत्न करने से ही वे चेतना के स्तर पर आती हैं। उन्हें चेतना के ऊपर लाने हेतु या उनकी अचेतन मन में उपस्थिति जानने हेतु एक विशेष विज्ञान की आवश्यकता है। मानव स्वयं कई बार अपनी क्रियाओं के कारणों को नहीं जानता। किंतु फ्रायड ने सिद्ध किया कि अनायास हो जाने का आभास देने वाली घटनाएँ किसी विशिष्ट कारण से प्रेरित होती हैं तथा यह कारण व्यक्ति चेतनता से परे उसके मानस की अचेतन गहराइयों में अवगुण्ठित रहता है।

फ्रायड ने जो प्रयोग किये उससे उन्हें यह विश्वास हो गया कि जीवन में अचेतन का महत्त्व चेतन की अपेक्षा कहीं अधिक है। वे सिद्धान्त और निश्चय जो चेतन की कृति समझे जाते हैं वस्तुतः अचेतन की किसी वृत्ति पर स्थित पाये जाते हैं। यदि व्यक्ति अपनी किसी इच्छा को कुछ मजबूरियों के कारण पूरा नहीं कर सकता तो उसके सामने दो ही मार्ग हैं–एक तो वह सजग रूप से उन कारणों के महत्त्व व शक्ति को समझकर उस इच्छा को मन से निकाल दे या फिर वह उस यथार्थ की चुनौती को स्वीकार किये बिना ही इच्छा को दबाने का प्रयत्न करे। ऐसी स्थिति में वह इच्छा बार-बार उठती है और बार-बार दबायी जाती है। नतीजा यह होता है कि वह इच्छा अचेतन में वास करने लगती है और अधिक शक्ति के साथ प्रच्छन्न रूप से जीवन को शासित करने लगती है। इस दमित इच्छा को ही कुण्ठा कहते हैं।

फ्रायड ने समस्त मन की तुलना एक नाट्यशाला से की है :

(1) चेतन मन नाट्यशाला की रंगभूमि के उस भाग के समान है जहाँ रंगभूमि के अनेक पात्र अभिनय दिखाने हेतु आते हैं । वे अपने खेलों को दिखाकर अदृश्य स्थान में विलीन हो जाते हैं ।

(2) अचेतन मन नाट्यशाला के सजावट के कमरे के समान है जहाँ पात्र अभिनय के लिए तैयारियाँ करते हैं । चेतनोन्मुख मन रंगशाला घूमने वाले दरवाजे के समान है ।

हम जिन विचारों का दमन करते हैं वे नष्ट नहीं होते । वें हमारे मन के किसी न किसी कोने में पड़े रहते हैं । यहाँ रहकर वे निष्क्रिय नहीं रहते, वे हमारे व्यक्तित्व के प्रतिकूल षड्यन्त्र रचा करते हैं । जब दमन की गयी भावनाओं का समूह अधिक हो जाता है तो मनुष्य के व्यक्तित्व में अनेक प्रकार के दोष उत्पन्न हो जाते हैं । मनुष्य की अनेक प्रकार की कुचेष्टाओं व मानसिक बीमारियों का प्रधान कारण दबी हुई भावनाएँ ही होती हैं । स्वप्न की उत्पत्ति भी इन्हीं के कारण होती है ।

लिबिडो अथवा कामशक्ति

उन्मुक्त विचार-साहचर्य एवं स्वप्न के विश्लषण द्वारा फ्रायड़ जिन निष्कर्षों पर पहुँचे, उसने सारे सामाजिक चिंतन में क्रांति उत्पन्न कर दी । फ्रायड़ ने कहा कि मनुष्य की सभी साधनाओं का मूल कामवृत्ति है और यह वृत्ति शिशु में भी होती है । फ्रायड ने जीवन की दो विरोधी प्रवृत्तियाँ मानी हैं जिनमें निरंतर संघर्ष चला करता है । एक वह प्रवृत्ति जिसका संबंध आत्मरक्षा से है, अहम् कहलाती है और दूसरी वह जिसका संबंध काम-वासना से है लिबिडो कहलाती है । अहम् यथार्थ सिद्धान्त से शासित होता है तथा सामाजिक रीति-रिवाज के बंधन के भीतर कार्यशील रहता है, किंतु लिबिडो का संबंध आनंद सिद्धान्त से है जो यथार्थ का तिरस्कार कर आनंद प्राप्ति का कामी है । सामाजिक व्यवहार में व्यक्ति का अहम् प्रबुद्ध रहता है किंतु दिवा स्वप्न या स्वप्न में लिबिडो का शासन रहता है । इन दोनों में निरंतर संघर्ष चला करता है । लिबिडो की प्रवृत्ति को अहम् निरंतर दमित करने का प्रयास करता रहता है क्योंकि लिबिडो कोई नैतिक बंधन स्वीकार नहीं करता, किंतु अहम् सामाजिक नैतिकता के नियन्त्रण में रहता है । इसलिए लिबिडोजनित इच्छाएँ जो सामाजिक नैतिकता के विपरीत हैं, उन्हें अहम् दबाने की चेष्टा करता है । इस प्रकार मानव-चेतना में विरोध व दमन का यह व्यापार निरंतर चलता रहता है । लिबिडोजनित कई इच्छाएँ इस दमन व्यापार की शक्ति से अचेतन में कुण्ठा का रूप धारण कर लेती हैं ।

अपने परवर्ती सिद्धान्त में फ्रायड ने व्यक्ति चैतन्य के तीन अंग माने हैं - इड़, इगो, सुपर इगो । इड़ अचेतन अंश है जिसमें प्राकृतिक वृत्तियाँ व इच्छाएँ निवास करती हैं । इसमें वृत्तियों का रूप निश्चित व निर्दिष्ट नहीं होता । इसका प्रमुख कार्यकलाप उत्तेजना समूहों का निष्कासन होना है । सहज-प्रवृत्ति की मूल माँगों के परिणामस्वरूप जिस तनाव का सृजन होता है उससे व्यक्ति पीड़ा का अनुभव करता है । तनाव के मोचन से सुख प्राप्ति होती है । फ्रायड ने इसे सुख-सिद्धान्त नाम से पुकारा है ।

अहम् के द्वारा इन सहज प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति होती है, किंतु अहम् व्यक्ति का चेतन अंश है जो यथार्थ से परिचित है। इसलिए अहम् इड़जनित इच्छाओं व वृत्तियों को यथार्थ के अनुरूप ही अभिव्यक्त होने देता है। अनुचित इच्छाओं को दबाने का काम भी उसी का है। किंतु जब कुण्ठाएँ भी इड़ में शामिल हो जाती हैं तो व्यक्ति में असंतुलन आने की संभावना हो जाती है। इसलिए अहम् की शक्ति व विवेक ही मन के संतुलन को बनाये रख सकती है।

सुपर इगो वस्तुतः इगो का वह रूप है जिसे अन्तरात्मा कहा जाता है। बचपन से ही माता-पिता बच्चे को नैतिक सिद्धान्तों तथा अच्छे-बुरे की शिक्षा देते हैं। इस प्रकार इगो व सुपर इगो दोनों ही चेतन हैं।

इडिपस ग्रंथि

इडिपस प्राचीन यूनानी कथा का एक ऐसा नायक था जिसका एक राजघराने में जन्म होने पर ज्योतिषियों ने भविष्यवाणी की कि वह अपने पिता की हत्या करके अपनी माता से विवाह करेगा। फलतः उसके पिता ने उसे मारने का प्रयास किया किंतु वह बचकर भाग निकला तथा पड़ोसी राज्य के राजा ने उसे अपना पुत्र बना लिया। एक बार फिर ज्योतिषी ने उसे बताया कि वह अपने पिता को मारकर माता से विवाह करेगा। इसलिए वह अपना अधिक समय घर के बाहर व्यतीत करने लगा। किंतु एक दिन अपने पिता को मारकर वह अपनी माता से विवाह कर लेता है। रहस्योद्घाटन पर वह अपनी आँखें फोड़ लेता है।

इस पुराण कथा के आधार पर ही फ्रायड ने इडिपस ग्रंथि का नामकरण किया। इसमें लड़का अपनी माता से प्रेम करता है तथा पिता को अपना रकीब समझता है। किंतु साथ ही वह अपने पिता से भी प्रेम करता है तथा उसे अपना आदर्श बनाता है। उसके मन में एक तीव्र संघर्ष चलता रहता है। इसी कारण व्यक्ति उस संघर्ष को भूलने के लिए बचपन की सब बातें भूल जाता है। यही स्थिति लड़की की भी होती है जिसे इलिपस ग्रंथि कहा गया है।

नार्सिसिज्म (आत्मरति)

नार्सिसस एक प्राचीन यूनानी कथा का सुंदर नायक था जो एक सुंदरी के आकर्षण से निर्लिप्त रहा। एक बार जब उसने एक तालाब में अपनी परछाई देखी तो स्वयं अपनी परछाई से ही अनुरक्त हो गया, तब उसने पानी की ओर झुके हुए एक फूल का रूप धारण कर लिया। इसी कथा के आधार पर फ्रायड ने उस व्यक्ति को नार्सिसिज्म कहा जो स्वयं से प्रेम करता है और अपने रूप की प्रशंसा से ही कामुक आनंद प्राप्त करता है। फ्रायड ने यह निष्कर्ष निकाला की आरंभ में शिशु में केवल आत्मरति ही होती है क्योंकि उसे बाह्य संसार का कोई स्पष्ट ज्ञान नहीं होता। जैसे-जैसे उसे बाहरी दुनिया का ज्ञान होने लगता है, उसकी रति-भावना वस्तुओं तथा व्यक्तियों में अनुरक्त होने लगती है। आत्मरति की अधिकता से मानसिक संतुलन व विक्षेप का उदय होता है।

इस कामवृत्ति का ऊर्ध्वीकरण भी हो सकता है। जिस प्रकार ऊर्जा को रोक दिया जाये तो वह विकृत रूप धारण कर लेती है और यदि उसे रोककर भी उचित मार्ग पर मोड़ दिया जाये तो ठीक वैसी ही रहती है, उसी प्रकार यह काम वृत्ति है।

कला–फ्रायड के अनुसार किसी कलाकृति से दर्शकों को कुछ ऐसी तृप्ति मिलती है जो बौद्धिकता तथा ऐन्द्रियता से परे है। इड़ अथवा इगो के जो अंश अर्द्धचेतन मन में चले जाते हैं उन्हीं में से कलात्मक कल्पना का उदय होता है। इस प्रकार कला की कल्पना का संपूर्ण क्षेत्र "अर्द्धचेतन मस्तिष्क" है। हमारी दमित इच्छाएँ तथा वासनाएँ किसी विशेष अवसर पर तत्कालिक वस्तुओं से बिम्ब लेकर कला के माध्यम से प्रकट होती हैं। कला में अचेतन की अभिव्यक्ति रंगों तथा रूपों में होती है किंतु रंग अधिक विश्वसनीय हैं। रंग मन के सभी स्तरों में प्रवेश करके उत्तेजित कर देते हैं जबकि रूप अपने स्तरों के अनुसार बदल जाते हैं। हमारा अचेतन मन दमित इच्छाओं एवं वासनाओं को निर्द्वन्द्व रूप से प्रकट करना चाहता है किंतु सामाजिक दबाव के कारण अहं उन्हें संयत करके समाज द्वारा स्वीकार्य रूपों में ही प्रकट करता है।

फ्रायड ने कहा है कि कला इन सब मानसिक विकृतियों को, जो नैतिक मन से उत्पन्न होती हैं; दूर करने में सहायक होती है। जिन बातों को हम साधारणतः समाज में नहीं कर सकते तथा जो काम हम समाज में नहीं कर सकते, उन्हें कला के माध्यम से अभिव्यक्त करते हैं। जिस प्रकार माइकल एंजलो, गोया आदि की कला में उनके आंतरिक आक्रोश की अभिव्यक्ति है। कला हमारे मानसिक विकास में सहायक होती है।

सौंदर्य तथा सौंदर्यानुभूति

फ्रायड सौंदर्यानुभूति के समय मस्तिष्क में होने वाली किसी विशिष्ट क्रिया को नहीं मानते। कलाकृति के आनंद को ये इन्द्रियजनित आनंदानुभूति के समान ही मानते हैं। ये कला को जीवन से संबद्ध करके ही देखते हैं और इसी कारण सौंदर्यानुभूति को विशिष्ट नहीं मानते। फ्रायड ने मानसिक जीवन के चेतन एवं अचेतन के भेद द्वारा यह प्रदर्शित किया कि केवल चेतन ही मानसिक जीवन का मूल तत्त्व नहीं है, चेतन तो अनेक मानसिक क्रियाओं में एक है। मानव मस्तिष्क कुण्ठाओं का रणस्थल है और यौन चेतना मानव के मानसिक विकास में शैशव से ही विद्यमान रहती है। सौंदर्य की उत्पत्ति का आधार भी यह यौन-व्यापार ही है। हमारे अन्दर एक स्थिति धारणा की प्रबल आकांक्षा होती है। और यौन व्यापार इसका सहयोगी बनकर सृजन-व्यापार को उत्तेजित करता है। स्थिति-धारणा की दृष्टि से ही हम उपयोगी वस्तु को अपने अनुसार बना लेने की इच्छा का विकास करते हैं और इस विकासक्रम में, अनुमान तथा उपयोगिता में ही हम सौंदर्य देखने लगते हैं। फ्रायड का दृष्टिकोण यौन-व्यापार से चलकर उपयोगितावाद में परिणत हो जाता है, किंतु एक दृष्टिकोण का संपूर्ण संचालन एवं नियंत्रण यौनवृत्ति से ही होता है। फ्रायड का यह मनोविश्लेषणवादी दृष्टिकोण एक ओर यौन व्यापार के आग्रह के कारण कला को जीवन से संबद्ध करता है तो दूसरी ओर जीवन-दृष्टि के स्वाभाविक परिणाम उपयोगिता में ही सौंदर्य दर्शन करता है। जीवन से चलकर यह सिद्धान्त मानसिक परितोष का रूप भी लेता है। अनुकूलता से तात्पर्य मानसिक अनुकूलता है। जब हम किसी वस्तु को अपने अनुसार बनाने की इच्छा करते हैं तो वह हमारे मानसिक बिम्ब के ही अनुकूल बनती है तथा मानसिक बिम्ब एवं वस्तु में साम्यता होने के कारण ही वह हमें सुंदर लगती है। इस प्रकार सौंदर्यानुभूति को भी मानसिक परितोष के

रूप में देखा जा सकता है। बाह्य जगत की उपयोगिता, मानसिक उपयोगिता का सामंजस्य तथा कल्पना-विधान के सहयोग से नये रूप-व्यापारों का ग्रहण एक नये सौंदर्य को उत्पन्न करता रहता है। इसी कारण चित्र में विविधता और नवीनता पाई जाती है। प्रकृति में हम उपयोगिता के आधार पर सौंदर्य ढूँढ़ते हैं। हम सुख में अपने मानस से प्राकृतिक रूपों का अनुकूलन करके आनंद अनुभव करते हैं, किंतु ये ही वस्तुएँ दुःख की स्थिति में संतापकारी हो जाती हैं। इसका कारण हमारी यौनवृत्ति है क्योंकि हम यौन व्यापार को अत्यधिक महत्त्व देकर मानवीय गुणों-सत्प्रवृत्ति, स्वार्थ निरपेक्षता, उदात्त मानसिकता आदि भूल जाते हैं। उपयोगिता में ही सौंदर्य ढूँढ़कर हमारा दृष्टिकोण स्वार्थपूर्ण होता जाता है जिससे हम सौंदर्य को समष्टिरूप नहीं दे पाते जिससे सौंदर्य व्यष्टिगत हो जाता है।

फ्रायड के इस मनोविश्लेषणवादी दृष्टिकोण की सबसे बड़ी कमी है कि इसमें यौन व्यापार को अत्यधिक महत्त्व दे दिया है। यह आवश्यक नहीं है कि जो वस्तु हमें सुंदर लगे वह दूसरों को भी लगे। इसी प्रकार कई बार साहचर्य के कारण भी कोई कुरूप वस्तु हमें सुंदर लगने लगती है। दूसरी ओर कुछ वस्तुएँ सार्वभौमिक रूप से ही सुन्दर होती हैं जैसे गुलाब का फूल। इसी प्रकार केवल यौन-व्यापार में ही सौंदर्य देखने पर तो मादक अनुभूतियों से युक्त कला-सृजन करना चाहिये। इसके विपरीत ललितकला में भी हमें एक उच्च मानसिक भूमि मिलती है तथा उदात्त मानसिक आनंद उपलब्ध होता है। इस प्रकार यह सिद्धान्त अवचेतन-अन्वीक्षण को आधार मानकर किसी कलाकृति के साथ पूर्ण न्याय नहीं कर पाता। मनोविश्लेषण के आधार पर कलाकृतियों के विषय या भाव-पक्ष का ही विवेचन किया जा सकता है। उसके कलापक्ष की सुंदर बारीकियाँ उपेक्षित रह जाती हैं। इस प्रकार भाव-पक्ष के सम्यक् विवेचन की दृष्टि से मनोविश्लेषणात्मक सौंदर्यशास्त्र एकांगी है।

फेचनर द्वारा स्थापित मनोवैज्ञानिक सौंदर्यशास्त्र को फ्रायड के अतिरिक्त कार्ल युंग, डॉ॰ फेयरबेर्न, कॉडवेल, एडवर्ड बुलो आदि ने भी अपने विचारों के माध्यम से चरमोत्कर्ष पर पहुँचाया। किंतु फ्रायड का सिद्धान्त 1920 ई॰ के लगभग सभी विचारकों एवं कलाकारों के आकर्षण का केन्द्र था। तर्कशास्त्र का सूत्रबद्ध क्रम कला के क्षेत्र में मिथ्या प्रतीत होने लगा था। कला को अन्तर्मन की खोज का परिणामकारक साधक माना जाने लगा था।

कला के क्षेत्र में भी दादावाद, अतियथार्थवाद तथा अमूर्त कला का उद्‌भव हुआ। पिकाबिया, धुंशा, साल्वाडोर डाली, मार्क्स एर्न्स्ट, इवे तांग्वी, जॉक्सन पोलॉक, डि कुनिंग आदि कलाकरों ने कला में नित-नवीन संभावनाओं को जीवित रखा। कला प्रदर्शनियों में पुराने बस टिकिट, रस्सी के टुकड़े, खराब घड़ियाँ, टूटे बटन तथा सभी प्रकार का रद्दी का सामान संयोजित करके रखा जाता था तथा उन पर अनोखे शीर्षक लिखे जाते थे। वे काव्य या कला को अभिव्यक्ति या विचार प्रदर्शन का साधन नहीं मानते थे, बल्कि उनके लिए काव्य या कला मनोवैज्ञानिक अवस्था की अनियंत्रित, आंतरिक प्रतिक्रिया थी तथा तर्क से उसका कोई संबंध नहीं था। कवि कागज के टुकड़ों पर शब्दों को लिखकर टोप में डाल देते तथा जो हाथ में आता उसे निकालकर क्रमशः लिखते जाते थे इससे जो शब्द श्रृंखला बनती थी उसी को काव्य कहते थे। आर्प भी वस्तु निरपेक्ष आकारों को टुकड़ों में काटकर बिखेर देते थे और उसी क्रम में चिपका देते थे।

धुंशा का चित्र "कॉफी की चक्की", पिकाबिया की कृति "कामुकता का प्रदर्शन", साल्वाडोर डाली की कृति "जलता हुआ जिराफ", "गृहयुद्ध की पूर्व सूचना" आदि सुप्रसिद्ध मनोविश्लेषणात्मक कलाकृतियाँ हैं । इस समय "निर्जीव पर जीवित का आरोप" कला की महत्त्वपूर्ण विशेषता थी जिससे निर्जीव वस्तुओं को नया व्यक्तित्व प्राप्त होता था तथा वे मूक भाषा में विचित्र भावनाओं को व्यक्त करती थी । प्रभाववादियों ने अपनी मुक्त अंकन शैली तथा सतह की बनावट द्वारा वस्तु के वैयक्तिक महत्त्व को घटा दिया था । फाव तथा अभिव्यंजनावादी चित्रकारों ने चित्र में नैसर्गिक वर्ण की उपेक्षा तथा केवल रस-संगति एवं प्रतीकात्मकता का विचार करके चित्रों में रंगों के स्वाभाविक सौंदर्य का विकास किया तथा सरलीकृत व ऐंठनदार आकारों द्वारा रेखा की अभिव्यक्ति को स्वाभाविक सामर्थ्य से युक्त किया । घनवादी तथा भविष्यवादी कलाकार ज्यामितीय आकारों से वस्तुनिरपेक्षता की ओर अग्रसर हुए । इस प्रकार विभिन्न अवस्थाओं से निकलते हुए रंग, रेखा तथा आकारों ने मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के साथ तादात्म्य करके अपने सौंदर्य की स्वाभाविक अभिव्यक्ति को प्राप्त किया । द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् अमूर्त कला विभिन्न शाखाओं व उपशाखाओं में विकसित होती गयी । 19वीं शताब्दी में कला का विकास तथा परिवर्तन इतनी तीव्रता से हुआ कि उसे क्रमबद्ध रूप में प्रस्तुत करना कठिन हो गया । हम अधिक विस्तृत चर्चा नहीं करेंगे क्योंकि इस पुस्तक का मुख्य उद्देश्य सौंदर्यशास्त्र के सिद्धान्तों का विवेचन तथा उनका कला-क्षेत्र पर प्रभाव का परिशीलन करना है जिससे कला के विद्यार्थी सौंदर्यशास्त्र को अपने विषय से संबंद्ध कर सकें तथा सरलता से समझ सकें ।

□□□

अध्याय 9

रूसी भौतिकवादी एवं मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र

महान् दार्शनिक हीगेल की विचारधारा के प्रभाव से 19वीं शताब्दी में रूस भी अछूता नहीं रह सका । शीघ्र ही हीगेल के दार्शनिक सिद्धान्त की कटु आलोचना होने लगी, इस कारण बेलिन्सिकी ने इस कमी को पूर्ण करके भौतिकवादी सिद्धान्त की स्थापना की । रूस में जिस भौतिकवाद का विकास हुआ, उसमें सौंदर्य-शास्त्र को सामाजिक परिवेश में रखकर अध्ययन किया गया । यह सिद्धान्त हीगेल, कान्ट, क्रौचे आदि के कलावादी सिद्धान्तों की अपेक्षा सामाजिक तथा मूर्त था । रूसी विचारकों में बेलिन्सिकी, हर्जेन, चर्निशेवस्की, कार्ल मार्क्स, प्लैखनोव, क्रिस्टोफर कॉडवेल, टॉल्सटॉय आदि प्रमुख रहे हैं । बेलिन्सिकी, हर्जेन तथा चर्निशेवस्की पूर्व मार्क्सवादी विचारक माने जाते हैं ।

बी॰ जी॰ बेलिन्सिकी [B. G. Velasques]

बी॰ जी॰ बेलिन्सिकी ने कला को जन-कल्याण का साधन मानकर तथा कला की बौद्धिक गरिमा और उसकी सामाजिक सार्थकता को विशेष महत्त्व देते हुए भौतिकवादी विचारधारा का सूत्रपात किया । रूसी सौंदर्यशास्त्र की नींव डालने का श्रेय बेलिन्सिकी को ही दिया जाता है ।

बेलिन्सिकी के अनुसार सत्य का अपरोक्ष मनन करने की क्रिया ही कला है अर्थात् बिम्बों के माध्यम से चिन्तन करने की क्रिया को कला कहते हैं । ये बिम्ब अतीन्द्रिय एवं पारलौकिक तत्त्व न होकर हमारे जीवन से संबंधित होते हैं । कला के बिम्ब मूर्त वास्तविकताओं के प्रतिबिम्ब हैं जिन्हें कलात्मक बिम्ब कहा जाता है । किंतु कला फोटोग्राफी से पृथक् है क्योंकि कला द्वारा कलाकार वास्तविकता की पुनर्रचना करता है, एक नयी सृष्टि रचना है जिसका अपना अस्तित्व होता है । कला वास्तविकताओं के प्रतिकूल नहीं होती, यह जीवन का नया निर्माण नहीं वरन् पुनर्रचना करती है, पुनर्निर्माण करती है और दर्पण के समान एक ही दृष्टिकोण से विविध दृश्यों को प्रतिबिम्बित करती है । इस प्रकार कला मात्र अनुकृति तक ही सीमित नहीं है । बेलिन्सिकी का मत था कि कला में दर्पण के समान निष्क्रिय तथा निर्जीव होकर जीवन व प्रकृति को प्रतिबिम्बित नहीं करना चाहिये बल्कि उसमें कलाकार का व्यक्तित्व, संवेग, अनुभूतिन्तथा आवेग के साथ विचार की भी आवश्यकता होती है ।

बेलिन्सिकी ने कला का संबंध जीवन, सामाजिक हितों तथा वास्तविकताओं से दिखाकर कलावादी सौंदर्यशास्त्र की गहन आलोचना की । कला किसी वर्ग-विशेष की रुचियों का प्रतिबिम्बन

नहीं करती बल्कि उसमें संपूर्ण समाज की रुचियों का समावेश होता है। कला संपूर्ण मानव-जाति की रुचियों की व्याख्या करती है। इस प्रकार कला सामान्य तथा सार्वभौमिक है। फलस्वरूप कलाकार भी वैज्ञानिक के समान घटनाओं का तटस्थ दृष्टा नहीं बल्कि आवेशयुक्त और सहानुभूतिमूलक भोक्ता होता है। वह अपना एक दृष्टिकोण रखता है और चित्रित घटनाओं की व्याख्या करता है। इस प्रकार कलाकार जनता की प्रेरणाओं, भावनाओं तथा विचारों को अभिव्यक्ति देता है।

बेलिन्सिकी कला को ज़न-जीवन की धड़कन मानते थे। कला जनमत तथा युग-चेतना को अभिव्यक्त करती है। ये प्रतिक्रियावादी कला सिद्धान्तों के विरुद्ध लगातार संघर्ष करते रहे। कलावादी सिद्धान्त भी प्रतिक्रियावादी था। इनके अनुसार इस सिद्धान्त में सामाजिक हितों के साथ ही स्वस्थ सौंदर्य तथा व्यापक प्रेम-भावना को भी तिरस्कृत कर दिया गया था, इस कारण बेलिन्सिकी कलावाद को प्रगतिशीलता का बाधक मानते थे। उनके अनुसार कला तब तक कला है, जब तक उसके द्वारा प्रगतिशील विचारों की अभिव्यक्ति होती हो। कला समाज एवं जीवन से संबंध रखती है तभी वह विकासशील होती है। उक्त विचारों से बेलिन्सिकी ने रूस में प्रगतिशील परंपरा की स्थापना की।

एन॰ जी॰ चर्निशेवस्की [N. G. Chernyshevsky]

चर्निशेवस्की ने बेलिन्सिकी के सिद्धान्त को अधिक पुष्ट किया। कांट, शेलिंग, फिक्टे तथा हीगेल के दार्शनिक सिद्धान्तों का विरोध करते हुए उन्होंने कहा कि ये दार्शनिक सिद्धान्त प्रतिक्रियावादी हैं जिनमें व्यवहार और सिद्धान्त, व्यक्ति एवं समाज के मूर्त तथा अमूर्त के मध्य गहन विरोधाभास दृष्टिगत होता है।

चर्निशेवस्की ने प्रत्ययवादियों के समान कला की वस्तु केवल सौंदर्य को नहीं माना। इनके अनुसार जीवन, सामाजिक वास्तविकताएँ, प्रकृति आदि सभी कला की वस्तुएँ हैं। वास्तविक जीवन से संबंध रखना मात्र नहीं है वरन् वह सभी कुछ वास्तविक जीवन के अन्तर्गत आता है जो जीवन में घटने की संभावना रखता है। इस प्रकार स्वप्न, संवेग, अनुभूतियाँ आदि जो मानव के आन्तरिक जीवन की घटनाएँ हैं वे भी कला की वस्तु हैं। कला और विज्ञान दोनों ही मानव जीवन से संबंधित सभी पहलुओं का अध्ययन करते हैं। विज्ञान तर्क एवं प्रयोग पद्धति पर आधारित होता है तथा कला कलात्मक बिम्बों द्वारा वास्तविकताओं का चित्रण करती है। चर्निशेवस्की कला को प्रकृति की अनुकृति कहते हैं। तथापि उनके अनुसार कलात्मक बिम्बों को मात्र अनुकरण के माध्यम से ही उत्पन्न नहीं किया जा सकता। कलात्मक सृजन हेतु व्यापक कल्पना तथा गहन अन्तर्दृष्टि भी आवश्यक है। इन्होंने कलात्मक सौंदर्य को अपेक्षाकृत अधिक प्राकृतिक सौंदर्य की अपेक्षा निम्न माना है। प्राकृतिक सौंदर्य जीवन्त, चटक, बहुरंगी तथा ओजस्वी होता है। "सौंदर्य जीवन है।" वह सब कुछ सुन्दर है जो जीवन से संबंध रखता है, जीवन की स्मृति दिलाता है तथा जीवन को अभिव्यक्त करता है।

चर्निशेवस्की ने उदात्त की परिभाषा में भी प्रत्ययवादियों का विरोध किया है। इनके अनुसार उदात्त वे सभी वस्तुएँ हैं जिनकी तुलना में समस्त उपमाएँ लघु प्रतीत होती हैं। उदात्त सौंदर्य का

भव्य रूप भी नहीं है बल्कि सौंदर्य तथा उदात्त दो पृथक् तत्व हैं। उदात्त वही है जो, वृहत्तर तथा अतुलनीय होता है। वह अपनी उग्रता, प्रचण्डता और ध्वंसात्मक प्रवृत्तियों के कारण भय की भावना उत्पन्न कर सकता है किंतु किसी पारलौकिक तत्त्व की ओर संकेत नहीं करता। मार्क्स ने भी चर्निशेवस्की की कृतियों का अध्ययन करके उन्हें "रूस का महान् आलोचक और पंडित" कहा था।

मार्क्सवादी विचारधारा : द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद

मार्क्सवाद के प्रवर्त्तक रूसी दार्शनिक कार्ल मार्क्स थे जिनके विचारों का समकालीन कला पर व्यापक प्रभाव पड़ा। मार्क्स के अनुसार चिन्तन--प्रक्रिया की पद्धति वैज्ञानिक होनी चाहिये जिसका प्रादुर्भाव हीगेल की द्वन्द्वात्मक पद्धति में हुआ था तथा मार्क्स ने इस पद्धति को अपने भौतिकवादी दृष्टिकोण के माध्यम से अति महत्त्व दिया। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद कला का मानवतावादी दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। कला को जीवन के लिए आवश्यक मानकर उच्च स्थान पर प्रतिष्ठित किया गया।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार पदार्थ का स्वतंत्र अस्तित्व है। वह हमारी चेतना से स्वतंत्र बाह्य जगत की वस्तु है। निरन्तर परिवर्तनशीलता एवं अविराम गति ही उसकी विशिष्टता है। पदार्थ के परिवर्तन का एक इतिहास होता है। कुछ भी स्थिर नहीं है। हमारे जीवन में जो कुछ है वह सब हमारे आस पास ही है, इसलिए सौंदर्य की कोई अतीन्द्रिय सत्ता नहीं है। सौंदर्य भी इसी जगत की वस्तु है। हमें अपने सामाजिक वातावरण को समझना चाहिये क्योंकि पारलौकिक सत्ता मात्र भ्रम व कल्पना हैं जिन्हें कभी वास्तविक रूप नहीं दिया जा सकता। वे सभी वस्तुएँ सुन्दर हैं जिन्हें देखकर जीवन की स्मृति होती है। फलस्वरूप सौंदर्य का मानव-मन से स्वतंत्र अस्तित्व है। चेतना द्वारा सुख-दुःख, प्रसन्नता-अवसाद आदि की अनुभूति होती है इसलिए वह सौंदर्य से पृथक् है। सौंदर्य वस्तु की संपत्ति है। हमारी दृष्टि द्वारा-वस्तु को सौंदर्य प्राप्त नहीं होता वरन् सुंदर वस्तु का अपना स्वतंत्र अस्तित्व होता है। जब तक हमारे वातावरण में सुन्दर वस्तुएँ रहेंगी, तब तक हमें सौंदर्य का अनुभव होता रहेगा। सौंदर्य प्रत्येक युग में भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से देखा गया जिसका कारण सामाजिक परिवर्तन ही है।

कलात्मक सौंदर्य एक सचेतन-सृजन है। कलाकार अपने सामाजिक जीवन के वास्तविक अनुभवों को प्रभावात्मक तरीके से व्यक्त करता है। ये वास्तविक अनुभव सामाजिक होते हैं जिनसे विभन्न प्रकार के विचार संबद्ध रहते हैं। इस प्रकार कला का सौंदर्य सामाजिक श्रम का परिणाम होता है। मानव-समाज के प्रारंभिक काल में श्रम की प्रक्रिया द्वारा ही कला का जन्म हुआ। कला का प्राथमिक कर्त्तव्य जीवन में सौंदर्य की खोज रहा और कला के माध्यम से मानव की सौंदर्य-बोधात्मक आवश्यकताओं की तुष्टि हुई। क्रिस्टॉफर कॉडवेल ने भी मार्क्स के इसी सिद्धान्त को आधार बनाकर सौंदर्य को अनिवार्य रूप से सामाजिक तत्त्व माना। सौंदर्य कला का हो या प्रकृति का वह श्रम का ही परिणाम है। कलाकार अपनी क्रियाओं से सौंदर्य उत्पन्न करता है और चेतना, समाज, सामाजिक अनुभव आदि क्रिया के ही परिणाम हैं। वस्तु और व्यक्ति का गत्यात्मक संबंध क्रिया है जो संपूर्ण सामाजिक उपलब्धियों का कारण है।

कलावादियों ने विषय-वस्तु की अपेक्षा रूप को अधिक महत्त्व दिया था। मार्क्सवादी विचारकों के अनुसार रूप को शून्य में आरोपित नहीं किया जा सकता। रूप को अस्तित्व देने के लिए सर्वप्रथम विषय-वस्तु की ही अपेक्षा की जातीं है। इस प्रकार विषय-वस्तु प्रधान है। कला किसी विचार को ही अभिव्यक्त करती है, इस कारण उसका जीवन से प्रत्यक्ष संबंध होता है तथा वह एक संपूर्ण वर्ग का प्रतिनिधित्व करती है। रूप का स्थान द्वितीय है। विषय-वस्तु एवं रूप की एकता ही कला है। रूप भी व्यक्ति की अपनी खोज नहीं वरन् एक सामाजिक तत्त्व है। कोई भी कलाकार अपना रूप लेकर जन्म नहीं लेता। रूप का बोध उसे परंपरा से मिलता है। वह अपने पूववर्ती कलाकारों के माध्यम से ही शब्दों, रंगों, रेखाओं, ध्वनियों, रागों आदि का ज्ञान अर्जित करता है। कलाकार अपनी परंपरा एवं समसामयिक परिस्थितियों से मुक्त होकर रूप का नया अन्वेषण नहीं कर सकता वरन् वह समसामयिक जीवन को ही अपनी कला का विषय बनाता है।

इस प्रकार कला और समाज के परस्पर संबंध को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। कला जनसमुदाय को क्रिया हेतु उत्तेजित करती है। कलाकार सामाजिक जीवन तथा सामाजिक उत्तरदायित्व से पृथक् नहीं है। कला सम्प्रेषण का साधन है-भाषा, रूप, रंग सभी कुछ बाह्य जीवन से ग्रहण किया जाता है। मार्क्सवादी दर्शन मोनव और उसके विकास की व्याख्या से संबंधित है।

लियो टॉल्सटॉय [Leo Tolstoy] (1828-1910 ई॰)

टॉल्सटॉय की प्रतिभा बहुमुखी थी। वे विश्‍व के श्रेष्ठ कलाकारों में अग्रणी रहे हैं। उनका प्रखर और सत्यान्वेषी व्यक्तित्व जीवन की स्थूल विषमताओं के साथ कभी सामंजस्य न कर सका। फ्रांस के क्रांतिकारी दार्शनिक रूसो का उनके ऊपर बहुत प्रभाव पड़ा। मानसिक संघर्ष उनके जीवन का एक अंग था। 1847 में उनकी पहली कहानी "शैशव" प्रकाशित हुई। इस समय उनका मुख्य सिद्धान्त था-व्यक्ति को अपने तथा अपने परिवार के लिए अधिक से अधिक मात्रा में सुख अर्जित करना चाहिये। उनके प्रसिद्ध उपन्यास "युद्ध और शांति" का मूल दर्शन यही है। "एन्ना कैरोनिना" की रचना की समाप्ति तक आते-आते उनका मानसिक संघर्ष बढ़ गया और उनके मन के असंतोष ने विराट् रूप धारण कर लिया और वे जीवन की समस्याओं का स्थायी समाधान प्राप्त करने के लिए व्यग्र हो उठे। उन्हें अनुभव हुआ कि ईसा के समस्त उपदेशों का मूल वाक्य एक है, "तुम विरोध न करो" और "विरोध न करना" अर्थात् अहिंसा ही उनका सिद्धान्त बन गया। उनके धार्मिक विश्‍वासों का मूलभूत आधार है-"मानव की अन्तरात्मा का प्रकाश"। इस मानसिक परिवर्तन के कारण कला के प्रति भी उनका दृष्टिकोण बदल गया। वे बहुत सादा जीवन व्यतीत करने लगे। "एन्ना कैरोनिना" के प्रकाशन के बाद 1877 ई॰ से उनमें अपने देश के धर्म के प्रति असंतोष की भावना बढ़ती गयी। "ए कॉन्फेशन" नामक प्रसिद्ध कृति में उन्होंने धर्म का, विशेषतः ईसाई धर्म का विरोध किया। इन्होंने वैयक्तिक संपत्ति तथा मानव द्वारा मानव के शोषण की भर्त्सना की। टॉल्सटॉय की सबसे बड़ी विशेषता है कि उन्होंने अपने प्रतिपादित सिद्धान्तों को केवल सैद्धान्तिक रूप में ही नहीं वरन् व्यवहारिक रूप में भी स्वीकार किया। इनका विश्‍वास था कि सरकार, कानून, रीति-रिवाज एवं व्यवहार आदि अन्ततः जनता के मन, विशेषतः उसकी

अनुभूतियों पर निर्भर करते हैं। उनका यह भी मत था कि जनता के मन और अनुभूतियों को प्रभावित करने और उनका निर्माण करने में धर्म के बाद कला ही बुनियादी शक्ति है।

टॉल्सटॉय के कला संबंधी विचार "ह्वाट इज आर्ट" नामक निबंध में मिलते हैं। ये भौतिक, आध्यात्मिक, वैयक्तिक, सामूहिक, सामयिक एवं शाश्वत मानव कल्याण की आकांक्षा करते थे। ये कला को आनंद का साधन न मानकर उसे जीवन की एक अवस्था घोषित करते हैं। ये अपने हृदयगत भावों को दूसरों के हृदय में उत्पन्न करना ही कला मानते हैं। इस प्रकार कला को ये मानव-मानव के बीच संपर्क का साधन मानते हैं। इसी सिद्धान्त को प्रकारान्तर से एबस्कोम्बी ने भी स्वीकार किया कि संप्रेषण के बिना साहित्य का अस्तित्व ही नहीं रहेगा। टॉल्सटॉय के अनुसार, कला वह माध्यम है जिससे कलाकार अपनी अनुभूत भावनाओं द्वारा दूसरों को प्रभावित करता है। जो रचना प्रभाव डालने में असमर्थ रहती है उसे कला की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। जो कृति केवल कलाकार के युग एवं वर्ग को प्रभावित करती है, वह हीन कोटि की कला है। यदि उसमें मानवमात्र को प्रभावित करने की शक्ति है, पर वह उदात्त भावना से रिक्त है तो वह कला का यथार्थ, किंतु विकृत रूप है। यदि उसमें व्यक्त भावनाएँ शुभ हैं तो उसे कला का शुद्ध रूप कहा जा सकता है, किंतु यदि कृति का लक्ष्य धर्म, करुणा और प्रेम का प्रतिपादन करना है तो उसे सर्वश्रेष्ठ कला के अन्तर्गत स्थान दिया जा सकता है।

धर्म एवं कला दोनों में प्रभावित करने की शक्ति है, किंतु धर्म व्यक्ति का शोषण करता है जबकि कला सामाजिक एकता उत्पन्न करती है। बुनियादी रूप से दोनों में ही शक्ति है।

कला क्या है ?

टॉल्सटॉय का मत है कि "कला की सही परिभाषा करने हेतु सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि हम कला को आनंद प्रदान करने का साधन मानना बंद कर दें एवं उसे मानव जीवन की अनिवार्य आवश्यकता मानें। विशिष्ट व्यक्तियों हेतु प्रस्तुत की गयी कृति तथा केवल सौंदर्य प्रदर्शन हेतु अलंकृत वस्तुएँ कला नहीं हैं। ये चाहे कुछ भी हों किंतु कला की सीमा से बाहर हैं क्योंकि सौंदर्य की वस्तुगत परिभाषा नहीं हो सकती। इसके पूर्व सौंदर्य की विषयगत परिभाषा दी गयी थी जिसमें आध्यात्मशास्त्रीय एवं प्रयोगवादी परिभाषाएँ हैं। इनके अनुसार कला वह है जो सौंदर्य का प्रकाशन करे तथा सौंदर्य वह है जो आनंद दे। किंतु टॉल्सटॉय ने इस मत का विरोध करते हुए कहा कि जो आनंद देता है वह रुचि पर निर्भर रहा है और रुचि भिन्न-भिन्न होती है, इसलिए कलाकृति कुछ विशिष्ट वर्ग को ही आनंद दे सकती है। अर्थात् रुचि व्यक्तिगत होती है और व्यक्तिगत वस्तु कला के लिए आवश्यक नहीं है। टॉल्सटॉय ने "कला, कला के लिए" वाले सिद्धान्त का पूर्णतः विरोध किया। कला केवल प्रदर्शन एवं आनंद प्रदान करने वाली वस्तु नहीं है। टॉल्सटॉय ने कहा है कि "आध्यात्मशास्त्री ईश्वर या सौंदर्य की रहस्यात्मक भावना की अभिव्यक्ति को कला मानते हैं किंतु वस्तुतः वह कला नहीं है। इसी प्रकार सौंदर्यशास्त्री अपनी अन्तःशक्ति के आधिक्य को मुक्त कर देने को कला मानते हैं किंतु उसे भी हम कला नहीं मान सकते। कला बाह्य प्रतीकों द्वारा मानव अनुभूतियों की अभिव्यक्ति नहीं है। कला मनोरम वस्तुओं की सृष्टि नहीं है और न ही वह आनंद का साधन है।" टॉल्सटॉय ने इस प्रकार "कलावाद" "सौंदर्यवाद" एवं "रहस्यवाद" को कलात्मक नहीं माना।

जिसने कला का निर्माण किया है या कर रहा है, उसके साथ तथा जो उसी समय या उससे पूर्व या उसके बाद उस कलात्मक प्रभाव को ग्रहण करते हैं। उन सामाजिकों के साथ प्रत्येक कलाकृति सामाजिक का विशेष प्रकार का संबंध स्थापित करती है। भाषा मनुष्यों एवं अनुभवों का प्रेषण करती हुई उनके संगठन के माध्यम का कार्य करती है। कला भी इसी प्रकार के उद्देश्य की पूर्ति करती हैं। कला एवं भाषा साधित संपर्क में यह अंतर है कि शब्दों से जहाँ मनुष्य अपने विचारों की अभिव्यक्ति करता है, वहीं कला के द्वारा वह अपनी भावनाओं का प्रेषण करता है।

कला की क्रिया इस तथ्य पर आधारित है कि एक मनुष्य अपनी इन्द्रियों द्वारा अन्य व्यक्ति की भावाभिव्यक्ति को ग्रहण करता हुआ उस भाव की अनुभूति करने में समर्थ है जिसने उसे व्यक्त करने वाले व्यक्ति को आंदोलित किया था। उदाहरणार्थ, एक व्यक्ति उत्तेजित या क्षुब्ध है और उसे देखने पर अन्य व्यक्ति भी उसी मनोदशा को प्राप्त कर लेता है। अपनी भंगिमाओं द्वारा या आवाज के उतार-चढ़ाव द्वारा आदमी उत्साह एवं दृढ़ता या उदासी और शांतचित्तता व्यक्त करता है और यह मानसिक अवस्था दूसरों में संचरण कर जाती है। अन्य व्यक्ति की भावनाओं की अभिव्यक्ति को ग्रहण करने और स्वयं भी उन्हीं भावनाओं को अनुभव करने की सामर्थ्य पर ही कला-प्रक्रिया आधारित है। जो भावना किसी ने पहले अनुभव की है, उसे अपने में जगाना और फिर भंगिमाओं, रेखाओं, रंगों, ध्वनियों या शब्दों में व्यंजित विधाओं द्वारा इस प्रकार उस भावनो को व्यक्त करना कि दूसरे भी उसी का अनुभव करें-यही कला-प्रक्रिया है।

कला एक मानवीय क्रिया है जिसका स्वरूप यह है कि एक व्यक्ति सचेतन रूप से कुछ बाह्य संकेतों से स्वानुभूत भावनाओं को दूसरों के प्रति संप्रेषित करता है और दूसरों में भी वे ही भावनाएँ जागृत होती हैं और वे उनकी अनुभूति करते हैं।

अधिमानस-शास्त्रियों का कथन है कि कला ईश्वर या सौंदर्य की किसी रहस्यमयी भावना की अभिव्यक्ति नहीं है और सौंदर्यवादी शरीर-रचनावेत्ता कहते हैं कि कला वह क्रीड़ा भी नहीं है जिसमें मनुष्य अपनी संचित शक्ति के अतिरेक का उत्सर्ग करता है। वह बाह्य संकेतों द्वारा भावों की अभिव्यक्ति भी नहीं है, वह सुखकर वस्तुओं की रचना भी नहीं है और सबसे बड़ी बात यह है कि वह आनंद नहीं है वरन् यह मनुष्यों के बीच एकता का साधन है जो उन सबको समान भावनाओं में बाँध देती है और व्यक्ति तथा मानवता के कल्याण की ओर प्रगति के लिए तथा जीवन हेतु अनिवार्य है।

टॉल्सटॉय का कहना है कि कला के माध्यम से दूसरों की भावनाओं से प्रभावित होने की मानवीय क्षमता के बल पर उसके समसामयिकों की जितनी भी अनुभूतियाँ हैं तथा हजारों वर्ष पूर्व व्यक्तियों ने जिन भावनाओं की अनुभूति की है, वे सब उसके लिए उपगम्य हैं तथा अपनी भावनाओं को दूसरों तक पहुँचाना भी उसके लिए असंभव है। यदि मानव में अपने पूर्वजों के विचारों को ग्रहण करने तथा अपने विचारों को दूसरों तक पहुँचाने की सामर्थ्य नहीं होती तो वह वन्य पशु की भाँति होता और यदि मानव कला से प्रभावित होने की सामर्थ्य से भी रहित होता तो वह अधिक बर्बर तथा एक-दूसरे से असंबद्ध होते। इसलिए कला की साधना उतनी ही व्यापक व महत्त्वपूर्ण है जितनी वाणी की क्रिया। जिस प्रकार वाणी केवल उपदेशों, वक्तृताओं या पुस्तकों के रूप में ही प्रभाव नहीं डालती वरन् उन सब उक्तियों के रूप में भी हमें प्रभावित करती हैं जिनसे

हमारे विचारों व अनुभवों का पारस्परिक आदान-प्रदान होता है। उसी प्रकार व्यापक अर्थों में कला भी हमारे सारे जीवन में व्याप्त है, किंतु संकुचित अर्थ में हम केवल उसकी कुछ अभिव्यक्तियों को ही कला नाम देते हैं। टॉल्सटॉय के मतानुसार भवनों, मूर्तियों, कविताओं, उपन्यासों तथा हम जो कुछ रंगशालाओं, संगीत सम्मेलनों और प्रदर्शनियों आदि में सुनते व देखते हैं। सभी उस कला के अल्पतम अंश हैं जिसके द्वारा जीवन में हमारा पारस्परिक व्यवहार चलता है। संपूर्ण मानव जीवन विविध प्रकार की कलाओं से ओतप्रोत है। टॉल्सटॉय का कहना है कि प्लेटो, आदिम ईसाई, कट्टर मुसलमान और बौद्ध अनुयायियों ने कला को सर्वथा अस्वीकार किया जो इनकी त्रुटि थी। कला तो पारस्परिक व्यवहार का अनिवार्य साधन है और उसके बिना मानवता का अस्तित्व ही संभव नहीं है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि टॉल्सटॉय ने कला की परिभाषा में अनुभूत्यात्मक एकता के सिद्धान्त को अत्यंत महत्त्व दिया है। इनका कहना है कि "कला वस्तुतः मनुष्यों के मेल का साधन है। वह उन्हें एक अनुभूति में बाँधती है। जीवन, व्यक्ति और मानव समाज के कल्याण की ओर प्रगति के लिए अनुभूति का यह बंधन अनिवार्य है।"

अनुभूत्यात्मक-एकता का सिद्धान्त

टॉल्सटॉय का कहना है कि "कला वस्तुतः मानव-मिलाप का साधन है। कला मानव को एक अनुभूति से संबद्ध करती है। यह बंधन जीवन, मानव-समाज तथा व्यक्ति के कल्याण की ओर प्रगति के लिए आवश्यक है।" टॉल्सटॉय कला को एक ऐसी मानव-क्रिया मानते हैं जो मनुष्यों में संबंध स्थापित करने और उनके कल्याण को उपलब्ध करने का अनिवार्य साधन है। टॉल्सटॉय के शब्दों में "कला मानवीय क्रिया है, एक मनुष्य सजग रूप से अपनी जीवनानुभूतियों को दूसरों तक कुछ निश्चित बाह्य संकेतों द्वारा पहुँचाता है, वे इन अनुभूतियों का अनुभव करते हैं तथा इनसे प्रभावित होते हैं।"

टॉल्सटॉय ने अपनी बात को और स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "वास्तविक कला द्वारा व्यक्त अनुभूतियों की प्रमुख विशेषता इस बात में है कि "ग्राहक" कलाकार के साथ इस प्रकार एक हो जाता है कि वह यह समझने लगता है कि जो कुछ व्यक्त किया गया है, वह ठीक वही है जिसे वह बहुत समय से व्यक्त करना चाहता है। वास्तविक कलाकृति न केवल ग्राहक और कलाकार को एक अनुभूति सूत्र में बाँध देती है वरन् वह सभी ग्राहकों और कलाकार को एक कर देती है। अपने व्यक्तित्व से इसी मुक्ति और अन्य के साथ हमारे एकीकरण में कला की प्रमुख विशेषता और महती आकर्षण-शक्ति निहित है।"

यदि कोई कलाकृति इस प्रकार का "अनुभूत्यात्मक ऐक्य" स्थापित कर सकी, तो वह वास्तविक कलाकृति है अन्यथा मात्र आभास कहलायेगी। इसी गुण के आधार पर कला की उत्कृष्टता की विभिन्न कोटियाँ निर्धारित की जाती हैं। यह अनुभूत्यात्मक एकता जितनी ही सबल होगी, कला उसी सीमा तक अधिक उत्कृष्ट होगी।

टॉल्सटॉय ने अनुभूत्यात्मक ऐक्य स्थापित करने की तीन अनिवार्य शर्तें बतायी हैं :

(1) **भावना की अनुभूति**-कला में अभिव्यक्त अनुभूति कलाकार को स्वयं अनुभूत होनी चाहिये। यह अनुभूति जिस सीमा तक कलाकार की निजी अनुभूति होगी, उसी सीमा तक वह पाठक या ग्राहक पर प्रभाव डालकर एकता के सूत्र में बाँधेगी। यह तो सर्वविदित ही है कि जो भाव हम अनुभव करके आयत्त नहीं कर सकें, उन्हें अधिक प्रभावपूर्ण तरीके से प्रस्तुत करना असंभव है। जिन कवियों ने अपने हृदय को खोलकर कविता में व्यक्त कर दिया है, उनके भाव हृदय के द्रवित अंश हैं। उस भावधारा में हम अनायास ही प्रवाहित हो जाते हैं, जैसे घनानंद के कवित्त। किन्तु इसके विपरीत केशवदास का काव्य हमें प्रभावित नहीं कर पाता क्योंकि उसमें व्यक्त अनुभूतियाँ निजी नहीं हैं।

निजी अनुभूति का केवल यही तात्पर्य नहीं है कि कलाकार के निजी जीवन की कोई घटना ही उसका निमित्त हो। वस्तुतः अनुभूति चाहे किसी की भी हो, किंतु जब कलाकार दूसरे के जीवन में प्रविष्ट होकर अपने हृदय को उसके हृदय में समन्वित कर देता है तो वह अनुभूति उसी की निजी अनुभूति हो जाती है। उदाहरणार्थ, महादेवी वर्मा के जीवन में कोई दुःख दिखाई नहीं देता। वे सभी प्रकार से खुश हैं, किंतु उनके काव्य में दुःख कि इतनी तीव्र वेदना पूर्ण अभिव्यक्ति है कि वह उनकी निजी अनुभूति प्रतीत होती है जो उत्कृष्ट काव्य की रचना का निमित्त है। इसी प्रकार मैथिलीशरण गुप्त का देशभक्तिपूर्ण काव्य है। एल ग्रीको तथा गोया के चित्र भी निजी अनुभूति का परिणाम हैं।

(2) **बोधगम्यता**-टॉल्सटॉय ने कहा है कि "कला का काम उसे बोधगम्य और अनुभव योग्य बनाना है जो तर्क या अन्य किसी रूप में ग्राह्य नहीं हो सकता। अनुभूति की स्पष्ट अभिव्यक्ति से अनुभूत्यात्मक-एकता की स्थापना में सहायता प्राप्त होती है। जब कलाकार अपनी अनुभूति को अधिक स्पष्टता से व्यक्त करेगा तो प्रेक्षक भी अधिक शीघ्रता एवं तीव्रता से उस अनुभूति को स्वयं में आयत्त कर कलाकर एवं अन्य प्रेक्षकों के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेगा।"

(3) **अभिव्यक्ति की अनिवार्य आन्तरिक प्रेरणा**-टॉल्सटॉय का मत है कि अभिव्यक्ति कलाकार के हृदय की माँग है जिसके अभाव में कलाकार रह न सके, अर्थात् अभिव्यक्ति के पीछे कलाकार की अन्तः प्रेरणा होनी चाहिये। जब प्रेक्षक यह अनुभूति करने लगता है कि कलाकार दूसरों को प्रभावित करने के उद्देश्य से नहीं वरन् स्वयं के लिए कला सृजन करता है, तब उसी निमेष में वह कलाकार की अनुभूति में तन्मय हो जाता है। इसके विपरीत यदि कोई कलाकार या कवि दूसरों को प्रभावित करने हेतु रचना करता है तो प्रेक्षक उसमें सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाते। इस प्रकार सर्वाधिक वैयक्तिक एवं नूतन अनुभूतियाँ एवं उत्कृष्ट शिल्प-विधान आदि प्रेक्षकों में उचित अनुभूति उत्पन्न नहीं कर पाते अपितु विकर्षण की भावना को बढ़ाते हैं, जिस प्रकार तुलसीदास का काव्य जो उन्होंने "स्वान्तः सुखाय" लिखा।

टॉल्सटॉय का कहना है कि अंतिम शर्त ही प्रमुख है क्योंकि यदि अभिव्यक्ति की अनिवार्य अन्तःप्रेरणा कलाकार में होगी तो अन्य दो शर्तें तो स्वयमेव पूर्ण हो जायेंगी। अन्तःप्रेरणा के कारण वह उसी को व्यक्त करेगा जो वह आयत्त कर चुका है। हमारा हृदय उसी अनुभूति को व्यक्त करने में अत्यधिक व्याकुल होता है जिसे हम अपने अंतर में प्राप्त कर चुके हैं, यह निजानुभूति है। अपनी

अन्तःव्याकुलता के कारण हम अनुभूति स्पष्टतः व्यक्त करेंगे जिससे अन्य लोगों हेतु यह ग्राह्य हो।

कलात्मक सृजन की प्रक्रिया

टॉल्सटॉय ने अनुभूत्यात्मक एकता की तीन शर्तों को जो पूरा करे उसे कलाकृति कहा है। कलात्मक सृजन की प्रक्रिया मानव मात्र में पाई जाती है और इसे हम आंतरिक अनुभव से जानते हैं। एक व्यक्ति सर्वथा नवीन एवं अश्रुतपूर्व वस्तु का धुँधला-सा भावन करता है। यह नवीन वस्तु उसके मन को प्रभावित करती है और वह अपना अनुभव सामान्य वार्तालाप के माध्यम से दूसरों को बताता है। किंतु जो उसके सम्मुख प्रत्यक्ष है उससे अन्य लोग सर्वथा अनभिज्ञ हैं। अतः वह अन्य व्यक्तियों को अपने इस पार्थक्य, वैषम्य और अनैक्य से उद्विग्न होता हुआ विभिन्न तरीकों से अपने अनुभव की पुनः विवेचना करके दूसरों तक पहुँचाने का प्रयास करता है। किंतु फिर भी अन्य लोग उसके संबंध अनुभव को समझने में असफल रहते हैं, तब उसे शंका होती है कि कहीं वह ऐसी वस्तु की कल्पना तो नहीं कर रहा जिसका वस्तुतः अस्तित्व ही नहीं है या अन्य व्यक्ति उस वास्तविक विद्यमानं वस्तु का अनुभव करने में असमर्थ हैं। अपने इस संदेह के निराकरण हेतु वह अपनी संपूर्ण सामर्थ्य और अपने अन्वेषण को इतना निर्भ्रान्त बनाने में लगा देता है कि अपने अनुभूत तथ्य की सत्ता के विषय में न उसे स्वयं को और न दूसरों को ही कोई संदेह रह जाये। जब यह स्पष्टीकरण की क्रिया पूर्ण हो जाती है जिसके द्वारा स्वयं उसे एवं अन्य व्यक्तियों को अस्पष्ट लगने वाली वस्तु उसके अपने तथा अन्य के निकट स्पष्ट एवं निर्भ्रान्त रूप ग्रहण करती है। यही प्रयास सामान्यतः उस समस्त आध्यात्मिक क्रियाकलाप अथवा कलाकृतियों के सृजन का स्रोत है। इस प्रकार कलाकृति तभी पूर्ण कही जा सकती है जब वह स्पष्ट होकर परसंवेद्य हो जाये तथा सामाजिकों के मन में उसी भाव को जागृत कर सके जिसका अनुभव कलाकार ने सृजन-प्रक्रिया में किया था।

इस प्रकार जो कुछ पहले अप्रत्यक्ष, अनुभूत और अगम्य था वह भावना की गहराई से इतना मूर्तिवन्त हो उठता है कि सभी को ग्राह्य हो जाय एवं इस प्रकार की रचना ही कलाकृति है। जो कुछ भी कलाकार की भावना तथा विचार की तीव्रता द्वारा मानवता को कुछ नवीनता प्रदान करे वह कलाकृति है। कला मानसिक क्रिया में प्रतिष्ठित हो उसके लिए आवश्यक है कि कला की देन मानवता के लिए हितकर हो क्योंकि किसी भी नयी बुराई को, मनुष्य को अधर्म क्रियाओं की ओर अग्रसर करने वाले किसी नये लोभ को हम वह मूल्य प्रदान नहीं कर सकते जो हम कला को मानवता हेतु कल्याणकारी होने के निमित्त देते हैं। कला का महत्त्व एवं मूल्य मानव के दृष्टिकोण को व्यापक बनाने में और आत्म-विभूति की वृद्धि करने में है जो मानवता की संपत्ति है।

टॉल्सटॉय ने अनुभूत्यात्मक एकता की तीनों शर्तों को ही कलाकृति के भी आवश्यक तत्त्व माना है। कलाकृति वह है जो कुछ नवीनता का प्रकाशन करती है और साथ ही कुछ सीमा तक इन तीनों शर्तों को भी पूरा करती है-वस्तु-तत्व, रूप-विधान और ईमानदारी।

कलाकृति होने के लिए सबसे पहले तो उसे ऐसा होना चाहिये जिसका वस्तु-तत्त्व रचना से पूर्व अज्ञात हो किंतु जिसकी मानव को आवश्यकता है। वह इसको इतनी सुबोधता के साथ

प्रदर्शित करे कि वह सामान्यतः ग्राह्य हो सके तथा तीसरे वह रचनाकार के किसी आंतरिक संशय के समाधान की आवश्यकता से प्रसूत हो। वस्तुतः तत्त्व की निम्नतम सीमा ऐसी होगी जिसकी मनुष्य को आवश्यकता नहीं है और वह असत् तथा अनैतिक है। अभिव्यक्ति की उच्चतम सीमा वह है जो सदैव सब मनुष्यों के लिए बोधगम्य हो। जो बोधगम्य है उसमें कुछ भी दुरूह, अनावश्यक और अनिश्चित नहीं है वरन् संक्षिप्त तथा निश्चित है अर्थात् सुंदर है। इसके विपरीत अभिव्यक्ति की निम्नतम सीमा ऐसी है जिसमें दुरूहता, असंबद्धता और अनिश्चितता है अर्थात् जो विरूप है। वस्तु तत्त्व से कलाकार के संबंध की उच्चतम सीमा ऐसी होगी जो सब व्यक्तियों की आत्मा में यथार्थता का प्रभाव उत्पन्न करती है, यह यथार्थता ही कलाकार की आत्मगत प्रक्रिया है। यथार्थता का यह प्रभाव सत्य के द्वारा ही उत्पन्न होता है और इसलिए कलाकार का अपने वस्तु तत्व से संबंध सत्यनिष्ठ होता है।

कला का मूल्यांकन

कलाकृति के तीनों गुणों में से किसी भी गुण के आधार पर सब कलाकृतियों का मूल्यांकन किया जा सकता है। इसके तीन आधार हैं :

(1) **ध्येयवादी सिद्धान्त**–वे, जिनमें वस्तु–तत्त्व का सद्भाव एवं निष्ठा तथा सौंदर्य का अभाव है, अर्थात् इसमें कलाकार से अपेक्षा की जाती है कि वह युगीन समाज को रोचक विषय एवं शैली प्रदान करे। यह सिद्धान्त उस रचना को ही कलाकृति के रूप में स्वीकार करता है जो ऐसा विषय ग्रहण करती है जिसमें यद्यपि कुछ नया नहीं है, तथापि जो सौंदर्य और आत्मिक गम्भीरता से पृथक् अपनी नैतिक विषयवस्तु के कारण सब मनुष्यों के लिए महत्त्वपूर्ण है।

(2) **सौंदर्यवादी सिद्धान्त या 'कला, कला के लिए' सिद्धान्त**–वे, जिनमें वस्तु तत्त्व का अभाव है किंतु सौंदर्य एवं निष्ठा का सद्भाव है। इस सिद्धान्त द्वारा आनंदप्रदायिनी रचना प्रस्तुत की जाती है। इस सिद्धान्त के अनुसार केवल उसी को कलाकृति के रूप में मानेंगे जिसमें नवीनता, विषय–वस्तु के महत्त्व एवं रचनाकार की ईमानदारी से निरपेक्ष रूप–विधान का सौंदर्य विद्यमान होता है।

(3) **यथार्थवादी सिद्धान्त**–इसमें वास्तविकता पर बल दिया जाता है। कलाकार की सत्यनिष्ठता को देखा जाता है। यह सिद्धान्त केवल उसी को कलाकृति मानता है जिसमें कलाकार का विषय से निष्ठापूर्वक संबंध है और इसलिए जो सत्यपूर्ण है। इसके अनुसार वस्तुतः तत्त्व चाहे कितना ही महत्त्वहीन हो, यहाँ तक कि अनुचित हो, किंतु जो वह चित्रित करता है उससे कलाकार का संबंध निष्ठापूर्ण और फलतः सत्यपूर्ण है तो वह कृति अच्छी होगी, रूप–विधान का सौंदर्य उसमें कम हो या अधिक।

टॉल्सटॉय के चिंतन पर मार्क्सवाद का अधिक प्रभाव है। कला के समान ही इन्होंने भाषा को भी आदान–प्रदान का साधन माना है। इनका कहना है कि "भाषा के समान कला भी आदान–प्रदान का साधन है और इसीलिए वह प्रगति का भी माध्यम है। प्रगति का अर्थ है–पूर्णता की ओर मानवता का अग्रसर होना। वर्तमान और अतीत काल में विशिष्ट मनुष्यों ने विचारों तथा

अनुभवों द्वारा जो कुछ ज्ञान उपलब्ध किया है, उसे सर्वसाधारण तक पहुँचाना भाषा का काम है और कला वर्तमान और अतीत काल के सर्वोत्तम व्यक्तियों की अनुभूतियों को सब मनुष्यों तक पहुँचाती है। जिस प्रकार गलत और अनावश्यक तत्त्वों का त्याग करते हुए और अपेक्षाकृत अधिक सत्य और आवश्यक तत्त्वों को ग्रहण करते हुए ज्ञान का विकास होता रहता है, उसी प्रकार मानव-जाति के कल्याण हेतु अपेक्षाकृत अल्प, उपयोगी अनुभूतियों का त्याग करती हुई तथा अधिक उपयोगी तत्त्वों को ग्रहण करके, कला मानव अनुभूतियों का विकास करती है। यही कला का उद्देश्य है। जो कला इस उद्देश्य की जितनी ही अधिक पूर्ति करती है वह उतनी ही अधिक उत्कृष्ट होती है।" अर्थात् मानवता के कल्याण हेतु कला द्वारा मानव अनुभूतियों का विकास किया जाता है। जो अनुभूतियाँ इस कल्याण की उपलब्धि में बाधक या अनावश्यक हैं, उनका कला निरंतर त्याग करती रहती है। यहाँ प्रश्न उठता है कि वे कौनसी अनुभूतियाँ हैं जो मानव-कल्याण की प्राप्ति में सहायक होती हैं ? टॉल्सटॉय का मत है कि इसका निर्णय "युग धार्मिक दर्शन" कर सकता है। "प्रत्येक ऐतिहासिक काल में और प्रत्येक मानव-समुदाय में, जीवन का कोई न कोई आदर्श होता है, इसी आदर्श की उपलब्धि करना उस युग का लक्ष्य होता है, यही आदर्श बोध उस युग का धार्मिक दर्शन कहलाता है।" धार्मिक दर्शन कोई साम्प्रदायिक धर्म-मत नहीं है। हम किसी न किसी आदर्श अर्थात् जीवन-मूल्य को मानकर ही अग्रसर होते हैं। उसी के अवलंबन से आज तक मानवता अग्रसर होती आयी है। युगीन आदर्श को ही टॉल्सटॉय युग का धार्मिक-दर्शन कहते हैं। इस धार्मिक दर्शन को टॉल्सटॉय नदी की दिशा मानते हैं। यदि नदी को बहना है तो उसकी कोई न कोई दिशा होनी चाहिये, उसी प्रकार प्रत्येक गतिशील समाज में "धार्मिक-दर्शन" होना चाहिये जिसके निर्देश पर समाज के सदस्य अग्रसर हों।

जो कला इस युग-धर्म को व्यक्त करती है वह उत्कृष्ट होती है। वस्तु तत्त्व की समीक्षा इसी युग-भावना के आधार पर होनी चाहिये। काव्य में व्यक्त अनुभूति इस युग-भावना को किस मात्रा में व्यक्त करती है, उसी भाषा में उसकी प्रशंसा होनी चाहिये।

टॉल्सटॉय के मतानुसार कला में व्यक्त अनुभूतियाँ तीन प्रकार की होती हैं :

(1) वे जो युग के धार्मिक दर्शन के अनुकूल होती हैं,

(2) वे जो युग के धार्मिक दर्शन के विपरीत होती हैं,

(3) वे जो न तो युग के धार्मिक दर्शन के विरुद्ध होती हैं और न उससे सीधा संबंध ही रखती हैं। ये मानव की सामान्य व्यवहारिक अनुभूतियाँ होती हैं और इनका महत्त्व गौण होता है।

इस प्रकार कला को युगीन धार्मिक दर्शन से संबंधित होना चाहिये।

कला के प्रकार

टॉल्सटॉय के मतानुसार वे अनुभूतियाँ ही कला में ग्राह्य हैं जो विश्व-बन्धुत्व की भावना को बल प्रदान करतीं हैं और संपूर्ण मानव जाति को एकसूत्र में बाँधती हैं। ऐसी अनुभूतियाँ दो प्रकार की होती हैं :

(1) वे अनुभूतियाँ, जो हमारी इस मान्यता से उत्पन्न होती हैं कि "हम सभी ईश्वर की संतान हैं और विश्व के सभी मनुष्य भाई-भाई हैं।"

(2) वे अनुभूतियाँ, जो साधारण जीवन की सरल अनुभूतियाँ हैं जिन्हें सभी व्यक्ति किसी भी प्रकार के अपवाद के बिना ग्रहण कर सकते हैं अर्थात् जो अनुभूतियाँ सर्वसामान्य की हैं।

(3) इसी प्रकार अनुभूति का तीसरा प्रकार भी है जो वैयक्तिक है। उन्होंने इन्हें अधिक महत्त्व नहीं दिया।

अनुभूतियों के प्रकारों के आधार पर टॉल्सटॉय ने कला के तीन भेद किये हैं :

(1) **युगीन कला**-यह कला प्रथम प्रकार की अनुभूति से व्युत्पन्न होती है। यह कला ईश्वर एवं मनुष्य के प्रति प्रेमभाव व्यक्त करती है और इस प्रेम में गति अवरोधक तत्त्वों के प्रति क्रोध व भय की अनुभूतियाँ भी प्रकट करती है। सत्य के प्रति सुरक्षात्मक भावना, ईश्वरीय इच्छा के प्रति आदर का भाव, आत्म-त्याग और अन्य मनुष्यों के प्रति प्रेम और सम्मान की भावना आदि की प्रस्तुति इस कला का काम है।

(2) **सामान्य कला**-यह सरलतम अनुभूतियों को प्रस्तुत करती है किंतु इसके द्वारा भी सभी मनुष्य एकसूत्र में बाँधे जाते हैं।

(3) **निम्न कोटि की कला**-यह व्यक्ति विशेष की पूर्ति करती है। टॉल्सटॉय ने इस कला को निम्नतम माना है तथा इसकी चर्चा नहीं की है।

इस प्रकार टॉल्सटॉय अपने सिद्धान्त में विचारों व भावना की तीव्रता पर बल दिया है। कला द्वारा मानव दृष्टिकोण व्यापक भी बनाया जाना चाहिये। कला-कृति की अपेक्षा आंतरिक होनी चाहिये बाह्य नहीं। टॉल्सटॉय कला में सत्यम्, शिव व सुंदर की उपस्थिति आवश्यक मानते हैं। इनके अनुसार महत्त्वपूर्ण सत् व नैतिक वही है जो मानव समाज को प्रेमपूर्वक संगठित करे तथा महत्त्वपूर्ण वह है जो मानव की भ्रातृत्व भावना में वृद्धि करे एवं जिसके द्वारा उसकी पूँजी के गुलामों को मुक्त कर देने पर ऐसी ललितकला का निर्माण हो जाये।

टॉल्सटॉय की मान्यता है कि उच्चवर्गीय कला हृदय से उद्भूत न होकर उच्च वर्ग के लोगों हेतु निर्मित की जाती है तथा ये उनके आमोद-प्रमोद का साधन ही रहती है। कला के तीन मूल्यांकित सिद्धान्तों विवेचन द्वारा यह स्थापित करते हैं कि सौंदर्यवादी कला वास्तविक कला नहीं है यह हमारे युग के अनुकूल नहीं है। वह तो पुरातन सिद्धान्त है। इसी प्रकार ये ध्ययेवादी सिद्धान्त को भी महत्त्व नहीं देते। ये केवल यथार्थवादी सिद्धान्त को ही उपयुक्त मानते हैं। ये कला की प्रभाविता में विश्वास करते हैं तथा कला द्वारा जीवन को सार्थक बनाने के पक्षपाती हैं। इनकी धारणा है कि जो बात रचयेता ने अनुभूत न की हो उसका लिखना या चित्रित करना निरर्थक है और विषय के साथ रचयिता का उत्कट प्रेम होना चाहिये। इनका कला संबंधी सिद्धान्त अत्यंत व्यापक व श्रेष्ठ माना जाता है।

□□□

अध्याय 10

आधुनिक सौंदर्यशास्त्र : प्रकृतवाद

क्रौचे कलावादी सौंदर्यशास्त्रियों ने अपनी प्रतिक्रियात्मक दृष्टि के परिणामस्वरूप जीवन तथा कला के मध्य अत्यधिक दूरी उत्पन्न कर दी थी । परिणामस्वरूप आधुनिक सौंदर्यशास्त्रियों ने कला को पुनः जीवनगत संदर्भों से जोड़ने का प्रयास किया जिनमें आई० ए० रिचर्ड्स, जॉन ड्यूई, रस्किन, हर्बर्ट रीड़ और कलिंगवुड प्रमुख थे । इन विचारकों का जीवनगत संदर्भों से कला को जोड़ने का प्रयास भी अतिवादी हो गया जिसके परिणामस्वरूप पुनः प्राचीन प्रत्ययवादी, कलावादी तथा प्रकृतवादी विचारधाराओं में संतुलन की आवश्यकता हुई जिसे सूजन लैंगर ने संतुलित करने का प्रयास किया ।

विविध विचारधाराओं, व्यक्तिगत अनुभवों, विशिष्टता, प्रसिद्धि, मौलिकता आदि के कारण 19वीं शताब्दी के पश्चात् कला का भी स्वतंत्र विकास होने लगा । इस आधुनिक कला को किसी वाद या विचारधारा से संबद्ध करना कठिन हो गया । कलाकार अपनी व्यक्तिगत रुचि, शैली आदि के आधार पर अभिव्यंजना करने लगे जिससे कला बंधन में नहीं रही जिसका प्रमाण हम कला के वर्तमान रूप में संपूर्ण विश्व में देखते हैं ।

जॉन रस्किन [J. Ruskin] (1819–1900 ई०)

रस्किन के कला संबंधी विचार "मॉडर्न पेन्टर्स" नामक पुस्तक में लिखे गये हैं जो आंग्ल दृश्य-चित्रकार टर्नर की कला की प्रशंसा में लिखी गयी थी । इनके अनुसार सौंदर्य ईश्वर की विभूति है तथा सौंदर्य को नैतिकता से अलग नहीं किया जा सकता । कला भी विचारों तथा भावों की वाहिका है जो समाज के उत्थान में सहायक है ।

रस्किन के अनुसार कला का कार्य प्रतिकृति करना नहीं है । कला सृष्टि करती है । कला द्वारा विचारों तथा भावों की अभिव्यक्ति होती है । इसी कारण कला में व्यंजनात्मकता होती है । काव्य या चित्रकला में भाषा या आकारों का जो अर्थ और विचार है, वही व्यंजना है तथा यह व्यंजना ही कला की महानता का कारण है । काव्य में यदि अलंकारों के प्रयोग से बोझिल भाषा है अथवा चित्र में चमक तथा सुंदर चौखट (फ्रेम) है तथा विचार का कोई महत्त्व नहीं है तो वह कला मूल्यहीन है । किसी भी कृति में लय, संक्षिप्तता, शक्ति, रंग, रेखा तथा अन्य उपकरणों की तुलना में विचार ही श्रेष्ठ होता है । इस कारण विचार या व्यंजना के अभाव में कृति का कोई महत्त्व नहीं है । महानतम कला वही है जो विचारों की वाहिका है । विचार जितने ऊँचे होंगे वे उतने ही बुद्धि के उच्च्व स्तर तक पहुँचेंगे ।

रस्किन ने कला की दूसरी विशेषता सत्य की प्रस्तुति बताई है । सत्य का तात्पर्य है – कला में प्रकृति के किसी तथ्य को, जो मन अथवा इन्द्रियों से संबंधित हो; प्रस्तुत करना । रस्किन ने सत्य तथा प्रतिकृति में तीन भेद बताये हैं :

(1) सत्य भौतिक वस्तुओं के गुण, भाव, प्रभाव तथा विचारों से संबंधित होता है । भौतिक वस्तुओं को भी सत्य कहा जाता है जबकि प्रतिकृति केवल भौतिक वस्तुओं की ही हो सकती है जिसमें नैतिकता का विचार होना आवश्यक नहीं है । किंतु सत्य की प्रतिकृति में विचार महत्त्वपूर्ण है, इस प्रकार भौतिक सत्य की तुलना में नैतिक सत्य श्रेष्ठ है ।

(2) विचारक तथ विचार ग्रहण करने वाले दोनों पक्षों के मन में निश्चित अर्थ रखने वाले प्रतीकों अथवा चिह्नों द्वारा नैतिक सत्य को व्यक्त किया जा सकता है । इन प्रतीकों का किसी वस्तु से सादृश्य नहीं होता । यदि इनमें सादृश्य आ भी जाये तो वह उसका लक्ष्य नहीं है जबकि प्रतिकृति मात्र वस्तु-बोध तक ही सीमित रहती है ।

(3) प्रतिकृति में वस्तु के दृश्यमान सभी पक्षों का अंकन होता है जिसमें दूरी, अंग-विन्यास, वर्ण विन्यास व आकार सहायक होते हैं जो भ्रम उत्पन्न करते हैं । यह भ्रम कभी भी सत्य का विचार नहीं हो सकता । वस्तु के गुण, विशेषता अथवा प्रकृति ही सत्य है । इस प्रकार सत्य का विचार ही कला का मूल है । जो सत्य नहीं है वह कभी भी सुन्दर नहीं हो सकता ।

कला में सत्य या असत्य का निर्धारण कलाकार के लक्ष्य द्वारा ही किया जा सकता है । यदि कलाकार मात्र अपनी कुशलता से भ्रम उत्पन्न करता है तो वह धोखा देता है । ईमानदारी से कुछ विचार व्यक्त करने की स्थिति ही उसे सत्यान्वेषी सिद्ध करती है । इसी कारण रस्किन ने आंग्ल-दृश्य चित्रकार टर्नर की कला में सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् की अभिव्यक्ति के कारण उनकी प्रशंसा की थी । रस्किन के अनुसार कलाकार का मन एक ऐसा दर्पण है जिसमें विश्व का रूप-सौंदर्यमयी, मधुर तथा विचित्र दृष्टिगत होता है । सत्य के अभाव में कला प्रकृति की प्रतिकृति भी नहीं कर सकती क्योंकि प्रकृति मानव से विशाल तथा श्रेष्ठ है ।

रस्किन ने कला में कल्पना को भी महत्त्व दिया है । प्रकृति को कलात्मक रूप में प्रस्तुत कर देना ही सौंदर्य नहीं है । प्रकृति के विभिन्न रूपों का हमारे मन पर तथा हमारे मन का प्रकृति के रूपों पर प्रभाव पड़ता है तथा कल्पना द्वारा हम इस प्रभाव को नये रूप में स्थापित करते हैं । कल्पना यदि विकृत रूप प्रदान करती है तो वह कृति श्रेष्ठ नहीं है । केवल स्वस्थ कल्पना द्वारा ही कलाकृति के समस्त अवयवों में तादात्म्य स्थापित होता है । अपनी कल्पना को मूर्त रूप देने हेतु कलाकार दो तत्त्वों का आविष्कार करता है-भावाभिव्यंजना तथा सामग्री । भावाभिव्यंजना का संबंध घटनाओं एवं विषयवस्तु आदि के चयन से है तथा सामग्री के अंतर्गत आकार, रंग, रेखा आदि आते हैं । ये दोनों पक्ष परस्पर जुड़े हैं इसी कारण सुन्दर संयोजन बनता है । भाव तथा संयोजन परस्पर संबंधित हैं तथा दोनों ही मस्तिष्क के किसी नैतिक सत्य तथा महान् अनुभूति को व्यंजित करते हैं । कलाकार द्वारा जिस विधि से इस बाह्य एवं आंतरिक व्यंजना का प्रस्तुतीकरण होता है वही उसकी शैली होती है ।

इन्होंने मानव मन में दो वृत्तियों का निवास माना है-सहज-वृत्ति तथा काल्पनिक-वृत्ति। सहज-वृत्ति से ही सौंदर्य का अनुभव होता है। कला में मानव मन के सहज भावों को ही व्यंजना मिलती है। ये सहज भाव प्रत्येक मानव-मन में न्यूनाधिक मात्रा में होते हैं। किसी भी अच्छी वस्तु को देखकर हम आनंदित होते हैं तथा घृणित वस्तु को देखकर हमें वितृष्णा उत्पन्न होती है यही सहज-वृत्ति है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रस्किन ने कला में विचार या व्यंजना को सर्वोपरि माना है। उनके अनुसार श्रेष्ठ कला सदैव सृजनात्मक और मौलिक होती है। श्रेष्ठ कला हमारे हृदय का स्पर्श करती है, वह दिखाई न देकर अनुभव कराती है। कलाकार वस्तु के गुणों व प्रकृति पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है उनके व्यक्तिगत रूप पर नहीं। रस्किन के इन विचारों का 19वीं शताब्दी के आंग्ल-दृश्य चित्रण पर बहुत प्रभाव पड़ा था।

आई॰ ए॰ रिचर्ड्स (1893 ई॰) [I. A. RICHARDS]

रिचर्ड्स क्रोचे का विपरीत पक्ष है। कलावादी चिन्तकों ने जीवन और कला के मध्य इतनी गहरी खाई उत्पन्न कर दी थी कि 20वीं शताब्दी के प्रकृतवादी विचारक रिचर्ड्स एवं ड्यूई ने कलागत संदर्भों को जीवनगत संदर्भों से जोड़ने का प्रयास आवश्यक समझा। "कला, कला के लिए," "कविता, कविता के लिए" तथा सौंदर्यशास्त्रीय अवधारणाओं के प्रचार ऐसे वातावरण का निर्माण होने लगा तथा जिसमें कला को जीवन से पृथक् कर देखने की प्रवृत्ति बलवती होती जा रही थी। ऐसी परिस्थिति में रिचर्ड्स ने मनोविज्ञान के सहारे काव्य के भाव पक्ष की व्याख्या की तथा काव्य के मनोवैज्ञानिक मूल्य का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। 1924 में इन्होंने "काव्यालोचन के सिद्धान्त" नामक पुस्तक लिखी। इनकी दूसरी पुस्तक "व्यवहारिक आलोचना" है। "साइंस एण्ड पोटरी" इनमें साहित्यिक कृतियों की सैद्धान्तिक आधारों पर समीक्षा के मापदण्ड निर्धारित किये।

रिचर्ड्स काव्य या कला को जीवन से संबद्ध मानते हैं। रिचर्ड्स ने कहा है कि "मैथ्यू आर्नोल्ड ने जब यह कहा कि कविता जीवन की आलोचना होती है तो वे एक ऐसी बात कह रहे थे जो एकदम प्रत्यक्ष है या जिसकी बराबर उपेक्षा की गयी है। कलाकार का काम तो उन अनुभूतियों को अंकित कर देना एवं चिरस्थायी बना देना होता है जिन्हें वह सर्वाधिक मूल्यवान समझता है..... कलाकार वह बिंदु है जहाँ मन का विकास सुव्यक्त हो उठता है। उसकी अनुभूतियों में, कम से कम उन अनुभूतियों में, जो उसकी कृति को मूल्यवान बनाती हैं; ऐसे आवेगों का सामंजस्य लक्षित होता है, जो अधिकांश लोगों के मन में अस्त-व्यस्त, परस्पर अंतर्भूत तथा द्वन्द्वरत हुआ करते हैं। जो कुछ अधिकांश लोगों के मन में अव्यवस्थित रूप में विद्यमान होता है, उसकी कृति उसी को व्यवस्था देती है।" एक ओर तो ये कलागत मूल्यों की रक्षा करते हैं तो दूसरी ओर उसे वृत्तियों की व्यवस्था और समन्वय के कार्य द्वारा जीवन से भी संबद्ध करते हैं।

कला और नैतिक मूल्य

रिचर्ड्स के अनुसार हम किसी भी वस्तु को साधारणतः अच्छा कहते हैं तो उसका मनोवैज्ञानिक कारण नहीं होता वरन् नैतिक परम्पराएँ होती हैं। सौंदर्य प्रेम, साहस, आदर, ज्ञान

आदि इसी श्रेणी में आते हैं। यदि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इन मूल्यों पर दृष्टिपात करें तो ज्ञात होता है कि कोई भी मूल्य एक समान नहीं है। एक व्यक्ति के लिए जो मूल्य पुण्य हैं अथवा अच्छे हैं, वे ही दूसरे व्यक्ति के लिए पाप हो सकते हैं। इस प्रकार अच्छे-बुरे का कोई निश्चित आधार नहीं है। साधनों, रुचियों या सामर्थ्य के कारण हमारे लिए वस्तुओं का महत्त्व बदलता रहता है। जो वृत्ति हमारी अन्य वृत्तियों को दमित कर आगे आती है वही महत्त्वपूर्ण होती है। इसमें नैतिकता का कोई प्रभाव नहीं होता। इस प्रकार सबसे अच्छा मूल्य वही हो सकता है जिसमें हमारी वृत्तियाँ अधिक संतुष्ट होती हों। कला में भी ये नैतिक मूल्य आवश्यक होते हैं। कला के संदर्भ में नैतिकता की ऐसी रूपरेखा निश्चित करनी चाहिये जो समयानुसार परिवर्तित हो सके। सभी कलाएँ मानवीय अस्तित्व का बोध तथा यशोगान हैं। जीवन के जिन अनुभवों को कलाकार मूल्यवान समझता है, उन्हीं का अंकन वह कलाओं में करता है। इस दृष्टि से रिचर्ड्स ने कलाओं को जीवन की आलोचना माना है। आलोचक मूल्यों का निर्णायक होता है। कलाकृति की अनुभूति तृप्तिदायक होती है, किंतु सदैव सुखान्त भी हो यह आवश्यक नहीं है, इसी कारण कला के मूल्यों को नैतिकता से आरोपित नहीं करना चाहिये। कला-मूल्यों के प्रति हमें लचीला दृष्टिकोण अपनाना चाहिये।

रिचर्ड्स ने 'कला कला के लिए' सिद्धान्त का विरोध किया। संस्कृति, धर्म, शिक्षा, भाव-संस्कार तथा कल्याण आदि के अभाव में कला निरर्थक है। उनके अनुसार कलाएँ पूर्णरूपेण काल्पनिक भी नहीं है क्योंकि हमारे अनुभवों में बाहरी संसार के प्रभाव भी निरन्तर क्रियाशील रहते हैं। कला का संबंध इस जीवन के ही किसी अनुभव से होता है जिन्हें परिष्कृत एवं व्यवस्थित रूप में कला के माध्यम से व्यक्त किया जाता है। इसी कारण कला को जीवन से पृथक् मानना हमारी संकुचित मनोवृत्ति का द्योतक है। जिस प्रकार मानव को भिन्न-भिन्न खण्डों में विभाजित नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार कला के अनुभव भी जीवन से भिन्न नहीं हो सकते। रिचर्ड्स के मतानुसार मानवीय सुखों में वृद्धि, दलितों का उद्धार, सद्भावना का विस्तार तथा मानव और विश्व के पारस्परिक संबंधों को सुदृढ़ करने वाली कला श्रेष्ठ होती है। जिस कला में मानवीय अनुभूति हो, वही कला महान् है।

संप्रेषण तथा सौंदर्यानुभूति

रिचर्ड्स के अनुसार सौंदर्यानुभूति में कोई विलक्षण तत्त्व निहित नहीं रहता। यह अनुभूति सामान्य तत्त्व की होती है किंतु उसका स्वरूप विशिष्ट होता है। सौंदर्यानुभूति के इस विशिष्ट स्वरूप को भिन्न-भिन्न सौंदर्यशास्त्रियों ने भिन्न-भिन्न नामों से अभिहित किया है। रिचर्ड्स ने इसे संप्रेषण का प्रभाव माना है। उनकी मान्यता है कि जीवन की सामान्य अनुभूतियों और कलात्मक अनुभूतियों में कोई विशेष अंतर नहीं होता। कला की सौंदर्यानुभूति तथा संप्रेषण की व्याख्या रिचर्ड्स ने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से की है।

सौंदर्यानुभूति में सर्वप्रथम स्मृति प्रमुख है जिसके कारण किसी वस्तु को देखने या सुनने से हमें अपने पूर्वानुभवों का स्मरण होता है। कलाकृति का परिशीलन करते समय भी हम इस सत्य से समझौता करते हैं कि वह वास्तविक वस्तु नहीं वरन् चित्रित भ्रम है। यह क्रिया साधारण जीवन में नहीं होती, केवल कला परिशीलन में ही ये अनुभव होते हैं। इस कारण कलात्मक अनुभव

वास्तविक अनुभवों से भिन्न हो जाते हैं तथा यही निर्वैयक्तिकता है। कलाकार सर्वप्रथम अनुभूति का निर्माण करता है जिसका उद्देश्य संप्रेषण होता है। समस्त कलाएँ संप्रेषण क्रियाओं के उत्कृष्ट स्वरूप हैं। कलाकार कला-सृजन करते समय इस उद्देश्य को समक्ष नहीं रखता कि उसे अपने भावों को दूसरों तक संप्रेषित करना है। वास्तव में वह अपने संवेगों की अभिव्यक्ति तथा आत्मतुष्टि हेतु कला-सृजन करता है। फिर भी उसका अचेतन मन संप्रेषण की ओर प्रेरित करता रहता है। मानव मस्तिष्क स्वभावतः भिन्न-भिन्न विचारों तथा भावों से युक्त होते हैं, किंतु कुछ अनुकूल परिस्थितियों में सभी की अनुभूतियों में समानता परिलक्षित होती है। जब कोई व्यक्ति अपने परिवेश में क्रिया को इस रूप में संपादित करता है कि दूसरा व्यक्ति उससे प्रभावित हो उठता है तथा दूसरे व्यक्ति की अनुभूति और पहले व्यक्ति की अनुभूति में तादात्म्य स्थापित हो जाता है यही संप्रेषण है।

संप्रेषण की प्रक्रिया जटिल तथा द्विधा संपादित होती है। इस प्रक्रिया में कलाकार तथा दर्शक या प्रमाता की अनुभूति समान होती है। कलाकार के लिए आवश्यक है कि वह विगत अनुभूतियों का समुचित उपयोग करे तथा प्रमाता में भी ग्रहण शक्ति होनी चाहिये। जब तक कलाकार की अनुभूतियाँ तथा प्रमाता की अनुभूतियाँ समान सिद्ध नहीं होतीं, तब तक कला असफल है। समस्त मानव-जाति के बहुत से आवेग किसी जाति-विशेष, विशिष्ट परिवेश तथा सामान्य सामुदायिक सीमा में सर्वसामान्य ही होते हैं। कुछ आवेग विलक्षण तथा कुछ प्रायः परिवर्तनशील होते हैं, किंतु सफल संप्रेषण में बहुत से आवेगों का एक समान होना अत्यावश्यक है। इस कारण कलाकार की प्रत्येक कला में एक ऐसे विशिष्ट आवेग को ग्रहण करना होता है जो सभी में समान रूप से विद्यमान हो। काव्य में लय, मात्रा, स्वर, संगीत में लय, आरोह-अवरोह, चित्रकला में स्वरूप और रंग, मूर्तिकला में आयतन तथा भार आदि स्वरूपगत तत्व संवेगों को उत्तेजित करते हैं। इन स्वरूपगत तत्त्वों से समान प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न होती हैं। किसी भी कलात्मक अनुभव के पश्चात् मानव में परिवर्तन आ जाता है। इसी कारण कला का सहयोग सामाजिक परिवर्तन तथा सामूहिक सद्भावना के विस्तार में महत्त्वपूर्ण होता है। कलाकृति के माध्यम से हम जीवन की पूर्णता की ओर अग्रसर होते हैं। यदि कलाकृति सुंदर होते हुए भी समाज को लाभान्वित नहीं करती तो वह त्याज्य है। कलाकृति की महत्ता तभी है जब वह अपने युग में संप्रेषण का सशक्त माध्यम हो।

इस प्रकार रिचर्ड्स के अनुसार कलाएँ किसी दिव्यानंद अथवा चेतना के विशिष्ट क्षणों की अनुभूति नहीं है। जब समाज संघर्षशील परिस्थितियों से सामना करता है तब कला भी उसकी सहायता करती है। कला का अनुभव क्रीड़ा की भांति मात्र क्षणिक नहीं होता।

आर०जी० कलिंगवुड [R. G. Collingwood] (1889–1943 ई०)

आर० जी० कलिंगवुड ने अपने सौंदर्यशास्त्र संबंधी विचार कलाकार, कवि, चित्रकृति एवं मूर्ति-शिल्पों आदि को आधार मानकर व्यक्त किये हैं। इनके विचार कला की मौलिक समस्याओं से संबंधित होने के कारण सार्वभौमिक हैं। कलिंगवुड ने अपने पूर्ववर्ती तथा समकालीन विचारकों के सिद्धान्तों का खण्डन या समर्थन नहीं किया वरन् अपने विचार स्वतंत्र रूप से व्यक्त किये हैं।

अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक "कला के सिद्धान्त" में इन्होंने कला की वर्तमान विचारधाराओं के अनुरूप कला के विविध पक्षों पर आधुनिक दृष्टि से विचार व्यक्त किये हैं । इसी कारण आधुनिक कला-चिंतकों में कलिंगवुड का नाम सुप्रसिद्ध है ।

कला-कलिंगवुड ने कला की परिभाषा देने से पूर्व कला तथा अकला में अन्तर बताने का प्रयास किया है । कुछ वस्तुएँ एवं क्रियाएँ ऐसी होती हैं ज़ो कला नहीं होते हुए भी कला के नाम से प्रचलित होती हैं । पहला भेद कला और शिल्प में निर्धारित किया है । शिल्प में उद्देश्य प्रमुख होता है । शिल्प रचना के समय कलाकार को उद्देश्य तथा उपभोग के समय साधन का होना अत्यावश्यक होता है । शिल्प में अनगढ़ सामग्री को तैयार सामग्री में परिवर्तित किया जाता है । शिल्प में एक योजनाबद्धता होती है जिसमें उद्देश्य तथा साधन का भी क्रम रहता है । शिल्प कृति मात्र मौखिक या काल्पनिक भी नहीं होती वरन् उसमें उद्देश्य, उपयोगिता तथा नैतिकता का भी समावेश रहता है । इसके विपरीत कला में कल्पना एवं भाव महत्त्वपूर्ण होते हैं । कलाकार के मन में विचार की एक अस्पष्ट रूपरेखा होती है जिसके आधार पर वह अपने भावों को अभिव्यक्त करता जाता है । इसी कारण कला में शिल्प की योजनाबद्धता का अभाव होता है । कला में यह भी निश्चित नहीं होता कि कला की सामग्री का कितना अंश कहाँ और किस रूप में प्रयुक्त किया जायेगा । कला में भावों की ही अभिव्यक्ति होती है जो शिल्प से पूर्णतः भिन्न है । कला की प्रविधि में शिल्प के समान मात्र बाह्य कुशलता का ही महत्त्व नहीं होता वरन् कल्पना द्वारा भावों को अति प्रभावकारी रूपाकारों एवं वर्ण-योजनाओं के माध्यम से व्यक्त किया जाता है । कलिंगवुड ने छः क्रियाएँ ऐसी बताई हैं जो कला नहीं हैं :

1. मनोरंजन
2. जादू
3. पहेली
4. निर्देश
5. विज्ञापन; तथा
6. मिथ्या प्रचार

उक्त क्रियाओं में कोई भी क्रिया भावाभिव्यक्ति नहीं करती जो कि कला का प्रमुख कार्य है । कला का यही अंश उपयोगिता से संबंधित है जिसे कलिंगवुड ने अकेला कहा है ।

कला तथा शिल्प को पृथक् करने हेतु ललितकला शब्द भी प्रयुक्त किया गया किंतु कलिंगवुड के मतानुसार इससे कला के स्वतंत्र अस्तित्व की स्थापना नहीं होती । ललितकला उसे कहा गया जो हमें सौंदर्यानुभव की ओर प्रेरित करे । अब तक सौंदर्य को प्रेम, नैतिकता, सत्य अथवा संवेगों के उद्दीपन से संबंधित तथा आत्मगत माना गया जिससे कलाकृतियों का महत्त्व कम हो जाता है । कलिंगवुड ने कला के सिद्धान्त को सौंदर्य सिद्धान्त नहीं माना ।

कलिंगवुड के अनुसार कला पुनः प्रस्तुतिकरण भी नहीं है । कलाकार महान् कलाकारों की कलाकृतियों की नकल करता है । या "प्रकृति" में से रूपाकारों को प्रस्तुत करता है । कलिंगवुड के अनुसार पुनः प्रस्तुति के तीन प्रकार हैं :

(1) पुनः प्रस्तुति हू-ब-हू की जा सकती है ।

(2) आकृति की मुख्य विशेषताओं का चयन करके भी पुनः प्रस्तुति की जा सकती है ।

(3) तृतीय प्रकार में वस्तु को छोड़कर उसकी क्रिया या भाव का लयात्मक अंकन किया जा सकता है ।

कलिंगवुड के अनुसार कलाकार में दृश्यमान वस्तु की नकल नहीं की जाती। कलाकार जो कुछ कहना चाहता है उसका वह कोई अंश नहीं छोड़ता। कलाकार दृश्य या वस्तु, उसकी विशेषताओं तथा भावों या विचारों को पुनः प्रस्तुत नहीं करता है, इसलिए पुनः प्रस्तुतिकरण नहीं है, वरन् कला अभिव्यक्ति है।

शुद्ध कला

कलिंगवुड ने शुद्ध कला की पहली विशेषता अभिव्यक्ति को माना है। इनके मतानुसार कला का लक्ष्य भावों या संवेगों को जागृत करना नहीं वरन् उनकी अभिव्यक्ति करना है। मन के भावों को अभिव्यक्त करके हम एक प्रकार की विश्रांति अनुभूत करते हैं। इस भाव की अभिव्यक्ति में भाव विद्यमान रहता है, मात्र उसका दबाव या भारीपन ही समाप्त हो जाता है, जबकि विरेचन में किसी लक्ष्य के अनुसार भावावेग उत्पन्न होने पर हम उस भाव का भोग करते हैं। अभिव्यक्ति करने का तात्पर्य अपने भाव को समझाना मात्र होता है कि हम कैसा अनुभव कर रहे हैं। यह आवश्यक नहीं है कि कलाकृति का परिशीलन करने पर हम भी कलाकार जैसे भाव अनुभूत करें। कलाकर अपनी कृति के माध्यम से स्वयं से वार्तालाप करता है जिसमें दर्शक भी सम्मिलित हो जाता है। इस प्रकार कोई उद्दीपक वस्तु नहीं है जिसका प्रभाव प्रतिक्रियात्मक हो। शुद्ध कला में तो अभिव्यंजना होती है जिससे भावों को विशिष्ट स्वरूप मिलता है।

कलिंगवुड के अनुसार हमारी कलात्मक सृष्टि किसी चेतन इच्छाशक्ति का कार्य नहीं है वरन् अचेतन की प्रेरणा है। कलाकृति के निर्माण हेतु अव्यक्त भाव तथा कुछ विशिष्ट परिस्थितियाँ अपेक्षित होती हैं। यह एक प्रकार की मानसिक सृष्टि होती है जो कल्पना में जन्म लेती है तथा कल्पना में ही अनुभूत हो जाती है। यह कल्पना स्वप्न की कल्पना से भिन्न होती है। स्वप्न को सत्य मानकर हम अपनी अतृप्त इच्छाओं को तो पूर्ण कर लेते हैं, किंतु कला इच्छा-पूर्ति का साधन नहीं है। कला की कल्पना में अतृप्ति का भाव भी नहीं रहता। शुद्ध कला में कृति को देखकर दर्शक अपने मन में एक कल्पित कलाकृति की रचना करता है। कलाकृति का बाह्य रूप इन्द्रियों को आनंद देता है जबकि कलात्मक अनुभव संपूर्ण काल्पनिक अनुभव है। किसी भी चित्र का परिशीलन करते समय वह रंगीन धरातल का द्विआयामी संयोजन होता है तथा दर्शक उसमें विस्तार, गहराई, गढ़नशीलता की कल्पना करके आनंद लेता है।

इस कलात्मक अभिव्यक्ति का कोई पूर्व निश्चित रूप नहीं होता। कला का अनुभव शुद्ध कलात्मक अनुभव होता है। कलाकृति की श्रेष्ठता तकनीक पर आधारित न होकर श्रेष्ठ भाव या विचार पर आधारित होती है। अच्छी कला वही है जिससे हमारा मन एकीकृत हो जाता है। कलिंगवुड के अनुसार कला जीवन की आधारशिला है। संपूर्ण जीवन के अनुभवों की समग्र अनुभूति है तथा व्यक्ति और समाज की चेतना की एक महत्त्वपूर्ण क्रिया है। कला का आस्वादन करने वाला समाज ही होता है। कलाकार इस समाज के प्रतिनिधि के रूप में कला-सृष्टि करता है। समाज कलाकार के कलात्मक अनुभव में सहभागी होता है। कलाकार का व्यक्तित्व भी समाज में ही विकसित होता है, अतः इसलिए वह कलात्मक अभिव्यक्ति के सभी साधन (संस्कार, ज्ञान, भाव, सामग्री, माध्यम, परंपरा, अनुभव आदि) समाज से ही ग्रहण करता है। कलाकार परस्पर भी

एक-दूसरे की विशेषताओं से प्रभावित होते हैं । इस प्रकार कलिंगवुड के अनुसार कला व्यक्तिगत वस्तु नहीं है ।

हर्बर्ट रीड़ [Herbert Read] (1893-1968 ई॰)

हर्बर्ट रीड़ आधुनिक कला के विशद् व्याख्याकार तथा अभिव्यंजनावादी कला के विशेष समर्थक माने जाते हैं । इनके अनुसार कला की परिभाषा सदैव बदलती रही है । कला श्वास-क्रिया की भाँति लयात्मक, भाषा की भाँति व्यंजक है तथा ऐन्द्रिय-बोध, विचार, भाव, क्रियाओं आदि से अविभाज्य है । कला जीवन को नियंत्रित नहीं करती वरन् कला जीवन का प्रयोज्य तंत्र है जिसके अभाव में संपूर्ण सामाजिक तथा आध्यात्मिक व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जाती है । हर्बर्ट रीड़ के अनुसार कला संपूर्ण मानव तथा समाज के विकास का एक महत्त्वपूर्ण अंग है । कलाप्रिय लगने वाले रूपाकारों के सृजन का एक प्रयास है । किसी भी कृति में माध्यम की जो रचना होती है, वही उस कृति का रूप होता है तथा इस प्रकार की रचना करने वाला व्यक्ति कलाकार है । इस प्रकार हम देखते हैं कि कला का रूप से गहन संबंध है । इस रूप के विभिन्न तत्त्व प्रकृति से ही प्राप्त होते है तथा गहन निरीक्षण द्वारा ये तत्त्व संस्कार रूप में मानव-मन ग्रहण करता है । इन तत्त्वों के माध्यम से हमें सौंदर्य-बोध भी होता है । रूप के साथ रंग-संगति भी महत्त्वपूर्ण है । वस्तुतः देखा जाये तो रंग के अभाव में रूप दृष्टिगत नहीं होता । रंग के अभाव में समस्त कलाओं की रूपात्मक विशेषताओं में संतुलन, सम्मात्रा, लय आदि आधारभूत नियम हैं । कलाकृति के विभिन्न उपदानों का अच्छा लगने वाला अनुपात ही सुंदर कहलाता है । इस प्रकार हर्बर्ट रीड़ ने इन्द्रिय-बोधों में रूपात्मक संबंध की एकता को ही सौंदर्य कहा है ।

हर्बर्ट रीड़ के अनुसार यह आवश्यक नहीं है कि जो कुछ भी सुंदर हो, वह सब कला भी हो । अनेक कलाकृतियों का सौंदर्य से कोई संबंध नहीं होता । कला का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है कि हम उसे सौंदर्य-भाव या विचार से सीमित नहीं कर सकते । वस्तुतः जो हमें आनंद प्रदान करे, वही सौंदर्य है । कला में किसी विशेष आदर्श का प्रत्यक्षीकरण नहीं होता । कला का आदर्श कोई भी हो सकता है तथा कलाकृति आत्मगत भी होती है । एक कलाकृति को देखकर दर्शक उसके अनुभूति तत्त्वों से अपनी अनुभूति का तादात्म्य स्थापित करता है, किंतु सभी दर्शकों को समान अनुभूति नहीं होती, यही कला का आत्मगत पक्ष है ।

हर्बर्ट रीड़ कला में कल्पना-तत्त्व को भी समाविष्ट करते हैं । हमारी संवेदनशीलता कलाकृति के सृजन तथा आस्वादन के समय उच्च स्तर पर पहुँच जाती है । इस स्तर पर आकर हमारे अनेक विरोधी अनुभवों (सामान्य-विशेष, विचार-बिम्ब, समष्टिगत-व्यक्तिगत, पारम्परिक-नवीन आदि) में एक सामंजस्य उत्पन्न हो जाता है । यह कार्य हमारी कल्पना करती है । कल्पना की सर्वोच्च स्थिति अमूर्त अनुपात तथा सामंजस्यपूर्ण संगति की दृष्टि है । यह कल्पना समस्त कलाओं में प्राप्य है । हमारी इस कल्पना में चेतन की अनुकृति की इच्छा तथा अचेतन के ब्रह्माण्डीय व्यवस्था में लीन होने की इच्छा दोनों निहित हैं । इस प्रकार कला मानसिक पक्ष के साथ ही शारीरिक तथा भौतिक सृष्टि के पक्षों से भी संबद्ध है ।

कला की अभिव्यक्ति

हर्बर्ट रीड़ कला-सृष्टि की प्रक्रिया के तीन चरण मानते हैं :

(1) कलात्मक माध्यम की सामग्री की विशेषताओं का बोध,

(2) इस बोध को प्रिय लगने वाले रूपों की व्यवस्था; तथा

(3) भावाभिव्यक्ति या अभिव्यंजना ।

प्रथम दो स्थितियों के पश्चात् ही अभिव्यंजना की स्थिति आती है । इस प्रकार हर्बर्ट रीड़ ने अभिव्यक्ति को कला का अंतिम चरण माना, जबकि क्रौचे ने अभिव्यक्ति को प्रथम चरण ही नहीं वरन् एकमात्र चरण माना । रीड़ के अनुसार अभिव्यक्ति रूपात्मक संयोजन के अभाव में भी हो सकती है, किंतु तब वह कला नहीं होती क्योंकि कला का कार्य अनुभूति की व्यंजना हैं जो कुछ विशेष कला-रूपों के माध्यम से की जाती है । रूप में एक व्यवस्था है जो अभिव्यंजना में नहीं मिलती । संख्या, संतुलन, लय, सामंजस्य आदि के आधार पर रूप का विश्लेषण हो सकता है किंतु अभिव्यंजना अन्तःप्रज्ञा से उद्‌भूत होती है । रूप-तत्त्व शाश्वत हैं तथा व्यंजना के तत्व युग-विशेष से संबद्ध होते हैं । कलाकार अपनी निजी अन्तर्दृष्टि के माध्यम से ही कला के नियमों के अनुसार रूपों को परिवर्तित करता है तथा अतीन्द्रिय अनुभवों के लिए प्रतीकों की रचना करता है जिनके माध्यम से वह अपनी अनुभूति की व्यंजना करके कला-सृष्टि करता है ।

अनुभूति की इस व्यंजना द्वारा कला हमें अपनी नियन्त्रित तथा दमित इच्छाओं से मुक्ति दिलवाती है । कला द्वारा हम भाव बनाये रखते हुए उनका विरेचन करते हैं । यह स्थिति कलाकार तथा दर्शक दोनों की होती है । इससे हमारी आत्मा का उदात्तीकरण होता है । हम समस्त राग-द्वेषों से मुक्त हो जाते हैं । इस प्रकार कलाकार विचारों को प्रस्तुत नहीं करता वरन् विचारों के प्रति अपनी भावात्मक प्रतिक्रिया को इन्द्रिय-बोध के माध्यम से प्रेषित करता है । कला का कार्य मान्यताओं को प्रेषित करना है चाहे वे धार्मिक हों या किसी अन्य प्रकार की । कलाकृतियों की रचना जिस समाज के लिए होती है, वही यह निश्चित करता है कि कला क्या संप्रेषित करे जिससे उसमें स्थायित्व तथा निरन्तरता बनी रहे ।

कला तथा समाज

कला अपने संबंधित मानव-समुदाय के आनुवंशिक, जलवायु, आर्थिक तथा समाज संबंधी मान्यताओं से प्रभावित होती है । कलाकार समाज से ही सब कुछ प्राप्त करता है तथा उन पर कला के माध्यम से अपने व्यक्तित्व की छाप लगा देता है । रीड़ के अनुसार, कला तथा समाज के संबंध में कोई प्रश्न उठना ही नहीं चाहिये । यदि कला और समाज में कोई संबंध नहीं होता तो भिन्न-भिन्न युगों की कलाकृतियों में तारतम्यता नहीं होती व परिवर्तन नहीं होते । कला संग्रहालयों में नहीं हमारे चारों ओर बिखरी हुई है जिसे हम जीवन से पृथक् नहीं कर सकते ।

सूजन के० लैंगर [Susan K. Langer]

सूजन के० लैंगर ने अपने ग्रंथ "फिलॉसफी इन ए न्यू की" में एक नये संतुलित कला-सिद्धान्त की स्थापना की । इस समय प्राचीन प्रत्ययवादी तथा कलावादी सिद्धान्त समाप्तप्राय होकर प्रकृतवादी प्रभाव से ग्रस्त होने लगे थे । इन वैचारिक संघर्षों में प्रकृतवाद हावी होता गया तथा जीवन तथा कला के संबंधों में भ्रम उत्पन्न होने लगे । ऐसी स्थिति में ही लैंगर ने यह बताने का प्रयास किया कि "कला क्या सृजन करती है ।"

लैंगर के मतानुसार, कला "प्रतीकात्मक रूप" की सृष्टि करती है । इस एक शब्द में लैंगर ने अनुभूति तथा रूप में एक सामंजस्य के प्रस्तुतिकरण का प्रयास किया जो पाश्चात्य सौंदर्यशास्त्र के इतिहास में प्रथम प्रयास था । लैंगर ने प्रकृतवादी या समाजवादी एवं कलावादी सिद्धान्तों के अतिरेकों का खण्डन किया । उनके अनुसार सौंदर्य की अनुभूति विलक्षण है या सामान्य जीवन की अनुभूति है, यह कोई विशेष समस्या या मतभेद नहीं है । हमें यह विचार करना चाहिये कि दर्शक के मन में संवेग विशेष की उत्पत्ति क्यों होती है अर्थात् कलात्मक वस्तु कलात्मक क्यों लगती है ? महान् कला न तो अनुभवों के परिणामस्वरूप उत्पन्न होती है तथा न ही ये अनुभव दैनिक जीवन के अनुभवों से पृथक् या अपृथक् हैं । धर्म या विज्ञान के समकक्ष भी कला को रखने के प्रयास व्यर्थ हैं । मुख्य तथ्य यह है कि हम उस कारण को स्पष्टतः निरूपित करें जिसके कारण कला मानव-मस्तिष्क में सृजनात्मक प्रक्रिया के रूप में स्वतंत्र सत्ता प्राप्त करती है । वस्तुतः कला एक स्वतः स्फूर्त प्रतिक्रिया है । कला एक विशेष प्रकार का अनुभव है जिससे हमें सौंदर्यानुभूति होती है । यह सौंदर्यानुभूति कलाकृति द्वारा संप्रेषित "वास्तविक संवेग" है । सौंदर्यानुभूति कलाकृति में अभिव्यंजित नहीं होती वरन् दर्शक से संबंधित होती है । कला हमारे व्यक्तिगत जीवन में गहनतम सीमाओं में प्रवेश करती है । कलाओं द्वारा हमारी अनुभूति के वास्तविक जीवन का रूपान्तरण होता है । कला का मूल अनुभव में ही है तथापि कलाकार की प्रतिभा द्वारा यह अनुभव दर्शक की स्मृति में एकत्रित होता है और कल्पना में आकार ग्रहण करता है ।

लैंगर के मतानुसार, सौंदर्यशास्त्र न तो आस्वादन का विज्ञान है, न ही सौंदर्य का दर्शन, न अभिव्यक्ति या अभिव्यंजना का विज्ञान है तथा न ही ललितकलाओं का दर्शन है । इनके मतानुसार, यदि आस्वाद, सौंदर्य या अभिव्यक्ति को सौंदर्यशास्त्र का विषय माना जाये तो इनका क्षेत्र ललितकलाओं के बाद भी विस्तृत दृष्टिगत होता है, इसलिए यदि आस्वादन एवं सौंदर्य को ललितकलाओं तक सीमित मान लें तो अव्याप्ति का दोष उत्पन्न होता है । इस कारण इन्होंने अपनी पुस्तक "फीलिंग एण्ड फॉर्म" में स्वीकार किया है कि सौंदर्यशास्त्र ललितकलाओं के दार्शनिक विकल्पों एवं समस्याओं का सैद्धान्तिक निरूपण है । इनके अनुसार कलाकार या कला रचना की दृष्टि से कला का अध्ययन ही अभिव्यक्ति का अध्ययन होता है । इसके विपरीत सादृश्य की दृष्टि से कला का अध्ययन ही प्रभाव का अध्ययन होता है । वस्तुतः लैंगर ने कला-दर्शन की दृष्टि से प्रभाव-पक्ष को अधिक महत्त्व दिया तथा इसी प्रभाव-पक्ष के विश्लेषण-विवेचन को सौंदर्यशास्त्र का प्रमुख क्षेत्र घोषित किया ।

वर्नन ली [Wernon Lee]

वर्नन ली ने वस्तु को सुन्दर न मानकर उसके विभिन्न स्वरूपों को सुन्दर माना है । इनके अनुसार वह वस्तु सुन्दर होती है जिसके विभिन्न स्वरूपों के मनन से संतोष प्राप्त होता है । यहाँ स्वरूप से तात्पर्य उन संवेदनाओं से है जो हमारे सक्रिय, स्मरणशील और दूरदर्शी निरीक्षण से घनिष्ठ संबंध स्थापित कर लेती है । वर्नन ली के अनुसार स्वरूप तभी सुन्दर कहे जा सकते हैं, जब हम उनमें अपनी क्रियाएँ प्रक्षेपित कर लेते हैं तथा इस प्रकार के प्रक्षेपण से ऐसे आनन्द का उद्रेक होता है जो हमारी प्राण-शक्ति के भाव को सहज बना देता है । अपनी पुस्तक "द ब्यूटिफुल" में वर्नन ली ने कहा है कि सौंदर्य से प्राप्त होने वाला आनंद ऐसा आनंद है जो किसी वस्तु की उपयोगिता, हमारी इच्छाओं को तुष्ट करने की क्षमता या बौद्धिक रुचि से भिन्न उसके भावन मात्र से प्राप्त होता है ।

वर्नन ली ने भी समानुभूति पर अपने विचार व्यक्त किये हैं जिनकी स्थापना लिप्स कर चुके थे । तथापि वर्नन ली ने लिप्स द्वारा प्रतिपादित अहं के प्रक्षेपण के सिद्धान्त को अंत तक स्वीकार्य नहीं माना । समानुभूति के प्रश्न पर विचार करते हुए उनका कथन है कि जब हम किसी आकृति को देखते हैं, उस समय हम अपने आन्तरिक भावों को उस आकृति-विशेष में प्रक्षेपित कर देते हैं । यही समानुभूति है अर्थात् दर्शक अपने निजी भावों की ही अनुभूति करता है । आकृति तो मात्र माध्यम है । दर्शक को यदि स्व-क्रियाओं का आभास होता रहेगा तो समानुभूति की अवस्था नहीं आ सकती । समानुभूति की अवस्था मननात्मक अवस्था का परिणाम है, किंतु यह हमारे मानसिक जीवन में विद्यमान रहता है । समानुभूति की क्रिया सरल होते हुए भी पूर्णतः प्राथमिक क्रियाओं से दूर की अवस्था है । यह एक प्रकार की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है जिसमें कल्पना, सहानुभूति तथा अन्दर अनुभूति के अनुमान विद्यमान रहते हैं । वर्नन ली के अनुसार समानुभूति का संबंध हमारी मनःस्थिति और हमारे संवेग से न होकर उन गत्यात्मक अवस्थाओं से होता है जो हमारी मनःस्थिति और हमारे संवेग में प्रवेश कर उन्हीं के नाम ग्रहण कर लेती है । समानुभूति में कल्पना तथा संवेग दोनों आवश्यक तत्त्व है तथा कल्पना संवेग सामान्यतः परिचित वस्तुओं पर अधिक आश्रित होते हैं । जिन आकृतियों में परिचित वस्तुएँ नवीन रूप में प्रस्तुत की जाती हैं, उनमें अनुभूति की स्पष्टता तथा समानुभूति आत्यन्तिक मात्रा में प्राप्त होती है । अपने समानुभूति के सिद्धान्त में वर्नन ली ने व्यक्ति की भावना को ही महत्ता प्रदान की है और सौंदर्य को व्यक्तिनिष्ठ माना है । अनुभूति वस्तुतः व्यक्तिनिष्ठ ही होती है पर वस्तु की भी अपनी सत्ता होती है जिसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता, किन्तु वर्नन ली ने कलागत भाव को महत्त्व प्रदान न कर भावगत भाव की महत्ता को ही प्रतिपादित किया है ।

जॉर्ज संतायना [J. Santayana] (1863-1952)

बीसवीं शताब्दी के प्रमुख भाववादी सौंदर्यशास्त्री जॉर्ज संतायना कला को संवेगों की अभिव्यंजना के रूप में स्वीकार करते हैं । इनकी दृष्टि में ललितकलाओं में सौंदर्य भावना शुद्ध रूप में व्यक्त होती है, इसलिए सौंदर्यशास्त्र का विषय व्यापक अर्थ में सौंदर्य चिन्तन है ।

संतायना कला का विषय सौंदर्य मानते हैं इसी कारण कला तथा आनंद तद्त् हैं । इन्होंने विषयिगत व अनुभूति रूप आनन्द की वस्तुगत सत्ता निरूपित की तथा सौंदर्य की परिभाषा निश्चित करते हुए कहा कि सौंदर्य का निर्माण आनन्द को वस्तुबद्ध करने से होता है । इसलिए वह वस्तुबद्ध आनन्द है अर्थात् सौंदर्य एवं आनन्द पर्याय हैं । आनन्द ही सौंदर्यानुभूति है । जो विषय पक्ष में सौंदर्य है वही विषयी पक्ष में आनन्द है तथापि इनके अनुसार कला-विषयक आनन्द अन्य प्रकार के आनन्द से भिन्न होता है । इनकी मानवता है कि सभी प्रकार का आनन्द सौंदर्यबोध नहीं होता । कला का आनन्द सौंदर्य-बोध का आनन्द है । सामान्य आनन्द की अपेक्षा सौंदर्य-बोध आनन्द कलात्मक परितोष की निःस्वार्थता में निहित रहता है । आनन्द के दूसरे रूपों में हम अपनी इन्द्रियों तथा वासनाओं का परितोष करते हैं । सौंदर्य के भावन में हम स्वयं से ऊपर उठ जाते हैं, वासनाएँ शांत हो जाती हैं तथा हमें ऐसे शिवत्व को अभिज्ञान का सुख होता है जिसे स्वायत्त करने की इच्छा नहीं होती । कलात्मक आनन्द को इसी निर्वैयक्तिकता के आधार पर आनन्द के अन्य रूपों से भिन्न किया जाता है । किन्तु संतायना के अनुसार यह भेद सघनता तथा लालित्य का होता है, प्रकृति का नहीं । यह आनन्द निर्वैयक्तिक मात्र इस अर्थ में है कि प्रकृति तथा मूर्ति-विधायनी कलाओं के सौंदर्य का आस्वाद से क्षय नहीं होता तथा किसी अन्य दर्शक को प्रभावित करने की भी पूर्ण क्षमता स्थित रहती है । सौंदर्यपरक आनन्द निर्वैयक्तिक इसलिए है कि इन क्षणों में हमारे मन में किसी ऊपरी आनन्द की भावना नहीं होती । हम स्वाधिकार एवं अहं के परितोष की भावना को आल्हाद से मिलाकर अनुभूत नहीं करते । संतायना सौंदर्य व आनन्द की स्थिति को परस्पर निर्भर मानते हैं । आनन्द वस्तु पर निर्भर होता है जबकि सौंदर्य संवेगात्मक तथा आत्मानंद प्रदान करने वाला होता है । इस प्रकार कलात्मक अवबोध में सौंदर्यजन्य संवेग तथा ऐन्द्रिय-बोधयुक्त आनन्द सुरक्षित रहते हैं जो बोध्य वस्तु के अभिन्न अंग होते हैं । संतायना सौंदर्य को नैतिकता से भी भिन्न मानते हैं । इनके अनुसार वह वस्तु सुंदर नहीं है जो किसी को आनन्द नहीं दे सकती । इस आनन्दरूपता में किसी शुभ विशेषता की उपस्थिति व असौंदर्य की अनुपस्थिति का अनुभव होता है इसलिए सौंदर्य नैतिक मूल्यों से भिन्न है । नैतिकता के आग्रह में शुभ के पालन तथा अशुभ से बचने पर समान बता दिया जाता है जबकि सौंदर्यशास्त्र का संबंध केवल आनन्द से होता है ।

संतायना ने अपनी पुस्तक "द सेन्स ऑफ ब्यूटी" में सौंदर्य के तीन स्तरों का उल्लेख किया है - भौतिक मूल्य, रूपात्मक मूल्य एवं साहचर्यपरक मूल्य । इन तीनों अवधारणाओं के संयोग से सौंदर्य मूल्य की अवधारणा का निर्माण होता है । प्रत्येक सौंदर्य का एक मूर्त आधार होता है जो भौतिक पदार्थ है । इस भौतिक पदार्थ का निर्माण विविध रासायनिक तत्त्वों से होता है । ललितकलाओं के भी अपने मूर्त आधार अथवा भौतिक उपकरण होते हैं जैसे, प्रस्तर, धातु, द्रव्य, नाद तथा भाषा । ताजमहल के सौंदर्य में संगमरमर, अजंता के चित्रों में पहाड़ियों के धातुज रंगों तथा नटराज की मूर्ति में वज्रधातु आदि भौतिक तत्त्वों की उतनी ही मूल्यवत्ता है जितनी कलात्मक गुणों की । इस कारण सौंदर्य मूल्य के तत्त्व-विश्लेषण में भौतिक मूल्य को नहीं नकारा जा सकता । संतायना के अनुसार कला सौंदर्य का दूसरा स्तर रूपात्मक है जो सौंदर्य का वास्तविक स्तर है । सौंदर्य की रूप के अतिरिक्त कोई सत्ता नहीं है । रूप कला का आवश्यक तत्त्व अवश्य है, किन्तु वही कला है यह नहीं माना जा सकता । मानवीय संवेदनाओं के अभाव में रूप का निर्माण निष्प्राण रहता है । भौतिक मूल्यों तथा रूपात्मक मूल्यों से दर्शक तथा कलाकार एक साहचर्य स्थापित करता है तभी कलात्मकता

को तात्त्विक दृष्टि से अस्वीकार भी किया गया है क्योंकि सौंदर्य एक अखण्ड तत्त्व या अखण्ड चेतना है। माध्यम, आकार तथा विषय तीनों के अभिन्न सहभाव या पूर्ण तादात्म्य का ही नाम सौंदर्य है। यह सत्य है कि आस्वादन की प्रक्रिया समग्रता में ही निहित है तथापि विश्लेषण एवं विवेचन की प्रक्रिया हेतु वर्गीकरण व विभाजन आदि आवश्यक है। इसके अभाव में सौंदर्य-मूल्य-मीमांसा की प्रक्रिया पूर्ण नहीं हो सकती। इस कारण संतायना का यह विभाजन वैज्ञानिक एवं तर्कसंगत सिद्ध होता है। ये सौंदर्यशास्त्र का विषय सौंदर्य चिन्तन मानते हैं क्योंकि ललितकलाओं में सौंदर्य भावना शुद्ध रूप में व्यक्त होती है। इस प्रकार संतायना सौंदर्यात्मक निर्णयों की व्याख्या हेतु किसी प्रकार की तत्त्व-मीमांसीय व्याख्या आवश्यक नहीं मानते। इनकी "द सेंस ऑफ ब्यूटी" के अतिरिक्त "द लाइफ ऑफ रीजन", "स्केप्टिसिज्म एण्ड ऐनिमल फेथ" तथा "रेल्म् ऑफ बीइंग" प्रमुख हैं। संतायना मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण का समर्थन करते थे। इनका दृष्टिकोण प्राकृतिक था जिसमें सौंदर्यानुभूति को एक प्राकृतिक अनुभूति के रूप में स्वीकार करते हुए उसके विविध पक्षों एवं तत्त्वों को स्पष्ट करने का प्रयास किया जाता है।

विल्हेल्म वारिंजर [W. Worringer]

वारिंजन ने थियोडोर लिप्स के समानुभूति सिद्धान्त को उन्हीं के शब्दों में निरूपित किया। वारिंजर के अनुसार, आधुनिक सौंदर्यशास्त्र सौंदर्यात्मक वस्तुवाद को अपना विवेच्य विषय नहीं मानता वरन् दर्शक के अनुभव और व्यवहार को ही अपनी विवेचना सीमा में समाविष्ट करता है, विवेचन का यह सिद्धान्त ही समानुभूति का सिद्धान्त है। इन्होंने इस सिद्धान्त के प्रतिपक्ष रूप में अपकर्षण का सिद्धान्त स्थापित किया। यह सिद्धान्त मानव की समानुभूति की प्रेरणा से प्रारंभ न होकर मानव के अपकर्षण की प्रेरणा से प्रारम्भ होता है। इनके अनुसार आंगिक सौंदर्य से जो परितोष प्राप्त होता है, वह समानुभूति की अवस्था की अनुभूति का परिणाम होता है जबकि अपकर्षण सिद्धान्त के आधार पर जो सौंदर्य अनुभूत होता है वह जीवन निषिद्ध करने वाले अंगरहित तत्त्वों या सभी सूक्ष्म नियमों तथा आवश्यकताओं में प्राप्त होता है। अपकर्षण में मानव का अहम् कलाकृति की महानता को आवृत्त कर लेता है तथा आनन्द प्रदान करने की शक्ति को न्यून बना देता है। इस अवस्था में दर्शक या कलाकार स्वयं को वैयक्तिक सत्ता से पृथक् करने की भावना से प्रेरित नहीं होता, अपितु मानव जाति की आकस्मिता से मुक्ति पाने की भावना से प्रेरित होता है। उसे सामान्य जीवन सौंदर्यात्मक आनन्द में अवरोधक प्रतीत होता है।

वारिंजर के अनुसार कलात्मक अनुभूति के उक्त दोनों पक्षों का सामान्य मूल आत्म-मुक्ति है। अपकर्षण में कलाकार व दर्शक का यही प्रयास रहता है कि मानव व्यवहार में जो कुछ आकस्मिक है उससे वह मुक्त हो जाये। वह ऐसे बिम्बों का निर्माण करता है जो अनुभूति के अव्यवस्थित परिवर्तन के विरुद्ध सुरक्षा का सम्मोहक महत्त्व रखते हैं। वह अपने इन बिम्बों में इतना आत्म-विस्मृत और तन्मय हो जाता है कि उसका सूक्ष्म सत्य जीवन के यथार्थ से भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है। इस प्रकार जीवन का यथार्थ तथा जीवन उसके सूक्ष्म बिम्बों के समक्ष दमित हो जाते हैं और वह सरलता से सूक्ष्म सौंदर्य का आस्वादन कर लेता है। वह अपने बिम्ब की शाश्वत सशक्तता के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है और वास्तविक अहम् से मुक्त हो जाता है। इसके विपरीत समानुभूति में व्यक्ति अपने विषय में अपनी क्रिया व जीवन को अनुभूत

करता है। अपकर्षण में व्यक्ति को जगत शक्तिशाली क्रिया तथा भावोत्पादक विषयों से भरा हुआ प्रतीत होता है। इस कारण उसके मन में भय का संचार होता है और अपनी दुर्बलता की चेतना के साथ वह जगत के निकट के संबंध से दूर हो जाता है तथा ऐसे भाव का निर्माण करता है जिनसे वह जगत को अभिभूत कर सके। आदिम युग के मानव में भी प्राकृतिक तत्त्वों से अपकर्षण का भाव विद्यमान था। तत्कालीन कला-सृजन तथा धर्म की आधारशिला के रूप में भी भय तथा आतंक ही है। इस प्रकार समानुभूति में विश्व की ओर विश्वास, जीवंतता तथा प्राणशक्ति का अनुभव होता है तथा अपकर्षण में दमन, पीड़ा, संत्रास आदि का संचार होता है। आत्ममुक्ति दोनों से ही प्राप्त होती है। तथापि अपकर्षण का सिद्धान्त कलानुभूति में प्रयुक्त नहीं हो सकता। किसी पिरामिड को देखकर हम आतंकित नहीं होते वरन् साश्चर्य आनन्द का अनुभव करते हैं। यदि आदिम कलाकार ने संत्रस्त होकर अपने निजी जगत का निर्माण किया, तब भी हम कलाकार के साथ तादात्म्य ही स्थापित करते हैं और आल्हाद का अनुभव करते हैं। यदि हम कलाकृति को व्यक्तित्व से मुक्ति का साधन मानते हैं तो निश्चित रूप से हम कला में समानुभूति ही करते हैं। कला से हमारा अपकर्षण नहीं होता। हम किसी भी युग की कलाकृति आस्वादन नहीं कर सकते जब तक कि हम स्वयं कलाकृति के साथ तादात्म्य भाव का अनुभव नहीं करते। इस प्रकार कलानुभूति या सौंदर्यानुभूति में समानुभूति ही विशेष महत्त्वपूर्ण है। अपकर्षण कलानुभूति सिद्धान्त नहीं हो सकता। कला-सृजन में अवश्य अपकर्षण का महत्त्व हो सकता है।

आधुनिक सौंदर्यशास्त्रियों में कार्ल युंग, एडलर, ऑटोरैंक, मॉड बॉडाकिन, एस० एलेक्जेण्डर, डॉ० फेयरबेर्न, डॉ० श्नीडर, ल्यूकॉस, ए०ई० मेंडर, एडवर्ड बुलो आदि का भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है जिनके विचार भी मनोविज्ञान पर आधारित हैं।

□□□

द्वितीय खण्ड

भारतीय सौंन्दर्य शास्त्र

अध्याय 1

सौंदर्यशास्त्र की भारतीय परंपरा

भारत में पाश्चात्य सौंदर्यशास्त्र की प्रमुख अवधारणा "ब्यूटी" के लिए सौंदर्य शब्द को स्थिर कर दिया गया है जबकि पश्चिमी विचारक्रम में इसको समझाने हेतु निरन्तर नये शब्दों को प्रयुक्त किया जाता रहा है । याकोबी ने "रस" के लिए जर्मन शब्द "स्टिमंग" का प्रयोग किया । कुछ विद्वान "गेशमेक" तथा कुछ "सेवर" का प्रयोग करते हैं । अंग्रेजी में टेस्ट, फ्लेवर, रेलिश, सेंटीमेंट, एस्थेटिक, इमोशन आदि शब्द मिलते हैं । रस तथा सौंदर्य विरोधी तत्त्व नहीं हैं । रसवादी आचार्यों ने भी रस के अंतर्गत किसी न किसी रूप में सौंदर्यबोधक तत्त्व को समाविष्ट किया है । आनंदवर्धन ने रसोद्‌बोधक तत्त्व को लावण्य कहा है । पंडितराज जगन्नाथ ने रस को रमणीयता का वाहक कहा है । संस्कृत काव्य-परंपरा में सौंदर्य शब्द का संबंध अलंकार एवं रीतियाँ माना गया । रस संज्ञा में कलागत सौंदर्य के साथ ही उसकी अनुभूति का सौंदर्य भी निहित है ।

भारतीय शास्त्रकारों के चित्रकला संबंधी विचार अनेक प्राचीन ग्रंथों में उपलब्ध हैं । कलाकार तथा कला-प्रेमी की दृष्टि से वात्स्यायन का कामसूत्र, चित्र-सूत्र तथा नग्नजित् का चित्र-लक्षण विशेषोल्लेखनीय हैं ।

वात्स्यायन कामसूत्र (लगभग 600 ई॰पू॰ से 200 ई॰पू॰)

प्राचीन भारत की सभ्यता, संस्कृति एवं इतिहास का क्रमबद्ध परिचय देने वाले सभी ग्रंथों में कलाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है । संस्कृत के प्राचीन ग्रंथों में कलाओं की संख्या 64 मानी गयी है जिनमें "कामसूत्र" एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है ।

"कामसूत्र" की रचना वात्स्यायन ने की थी । इसका रचनाकाल अनुमानतः 600 ई॰पू॰ बताया जाता है । "कामसूत्र" एक प्रकार से समस्त कलाओं का एक विश्वकोषात्मक ग्रंथ है । अब तक उपलब्ध सामग्री के आधार पर कलाओं का वर्णन सर्वप्रथम कामसूत्र में ही क्रमबद्ध रूप में मिलता है । इन्होंने 64 कलाओं का वर्णन करते हुए नागर जीवन की समृद्धि में उनके योगदान पर प्रकाश डाला है । वात्स्यायन का विवेचन स्वयं में अत्यंत स्पष्ट व निर्भ्रांत है । वात्स्यायन के कला वर्णन की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं :

1. कलाओं की संख्या 64 मानी है । इसमें आधुनिक युग में मान्य पाँच ललितकलाओं में से काव्य, संगीत (गीत, वाद्य, नृत्य), आलेख्य अर्थात् चित्र और वास्तु का उल्लेख है । शिल्प

का अंतर्भाव आलेख्य तथा वास्तु में हो जाता है । इनके अतिरिक्त दो अन्य कलाएँ भी हैं- क्रियाकल्प तथा नाटकाख्यायिका-दर्शन । पहले से काव्य-रचना की विधि का तथा दूसरे से नाटक व आख्यायिका आदि काव्य-विधाओं का ज्ञान होता है ।

2. इन कलाओं के प्रयोजन के विषय में वात्स्यायन का दृष्टिकोण श्रृंगारिक व उपयोगितावादी है । इनका संबंध जीवन के उपभोग अर्थात् पुरुषार्थों में से तृतीय पुरुषार्थ काम के साथ है । कलाओं के अभ्यास से नगर, गोष्ठी, राजसभा आदि में सम्मान मिलता है, प्रियजन की प्राप्ति होती है, प्रतिकूल परिस्थितियों में भी सुखपूर्वक जीवनयापन किया जा सकता है, सौभाग्य अर्थात् अर्थलाभ, अनर्थ का नारा, काम व यश की सिद्धि होती है । व्यापक रूप से कह सकते हैं कि कला नागर जीवन की समृद्धि का प्रमुख उपकरण है जिससे सुख-सौभाग्य की सिद्धि के साथ-साथ व्यक्तित्व का परिष्कार भी होता है ।

3. वात्स्यायन ने कलाओं का वर्गीकरण नहीं किया अपितु उनके टीकाकार यशोधर पंडित ने उनके दो वर्ग किये है मूल और अन्तर । 64 मूल कलाएँ हैं जिनके अन्तर्गत इनकी 518 अन्तर्कलाएँ आ जाती हैं । यह वर्गीकरण भी प्रायः नागर जीवन की समृद्धि तथा कामोपभोग की दृष्टि से मुख्य व गौण का ही वाचक है । यह स्थूल व व्यावहारिक है, तात्त्विक नहीं ।

4. कला की परिभाषा कामसूत्र में अलग से उपलब्ध नहीं है । कला के बारे में लिखा है कि "कोई भी क्रिया जिसके पीछे सृजन प्रक्रिया या चमत्कार हो अथवा विशेषता हो, वह कला है ।" इस प्रकार इसके अंतर्गत जीवन के प्रत्येक क्रिया-कलाप कला के अंतर्गत आ गये हैं । कला से अभिप्राय ऐसा 'कौशल' या 'हुनर' है जिसके द्वारा जीवन में सौंदर्य व समृद्धि का संचार होता है, व्यक्तित्व का संस्कार तथा चित्त का प्रसादन होता है । इनमें स्तर का भेद स्पष्ट है । कुछ कलाएँ कारीगरी मात्र हैं तथा कुछ में सिर्फ हाथ की सफाई है । लेकिन कुछ कलाओं का स्तर बहुत ऊँचा हैं, वे निपुणता व अभ्यास की अपेक्षा प्रतिभा के उन्मेष पर निर्भर करती हैं, जैसे काव्य, संगीत, वास्तु-चित्र आदि ।

वात्स्यायन के कामसूत्र की 11वीं सदी में यशोधर पण्डित ने 'जयमंगला' नाम से टीका की । कामसूत्र के प्रथम अधिकरण के तृतीय अध्याय की टीका करते हुए यशोधर पण्डित ने आलेख्य के छः अंग बताये हैं :

रूपभेदाः प्रमाणानि भावलावण्ययोजनम् ।
सादृश्यं वर्णिकाभंग इति चित्रं षडंगकम् ।

अत्यंत प्राचीनकाल से आज तक राजस्थान में जयपुर ने चित्रकला की विवेचना में विशेष स्थान प्राप्त कर रखा है । कामसूत्र के टीकाकार यशोधर पण्डित जयपुर के अधिपति जयसिंह प्रथम के सभा पण्डित थे । भारतीय षडंग यशोधर के बहुत पहले प्राचीनकाल से ही भारतीय शिल्पियों को सुविदित था क्योंकि हम देखते हैं कि 479 से 501 ई० के मध्य चीन के शिल्पाचार्य शी हो ने चित्र के जो षडंग लिपिबद्ध किये, वे कार्यतः भारतीय षडंग के अनुरूप ही

हैं । चीनी चित्रकला के इतिहास के परिवेश में यदि उनकी दार्शनिकता और मान्यताओं का अध्ययन किया जाये, तो यह एक मूलाधार पर आश्रित दिखाई देती है । शी हो द्वारा लिखित कला का प्राचीनतम आलोचनात्मक ग्रंथ 'कू-हुआ-पिन-लू' (चित्रकारों के वर्गीकरण का प्राचीन ग्रंथ) में ही चीनी चित्रकला के छः नियमों को लिपिबद्ध किया है । शी हो ने इन्हीं नियमों के आधार पर 39 कलाकारों की आलोचना की थी, तभी से ये नियम चीन में और अधिक महत्त्वपूर्ण माने जाने लगे । इसके अतिरिक्त चीन में 300 ई॰ में अमिताभ बुद्ध मूर्ति सर्वप्रथम चीनी शिल्पी 'लाई कूसी' ने बनाई । शी हो के पहले से ही बौद्ध शिल्प-पद्धति व उसके साथ हमारे चित्र के षडंग का भी चीन में पहुँचना कोई आश्चर्य की बात नहीं है । प्राचीन सभ्यता की लीलाभूमि भारतवर्ष तथा चीन इन दोनों महादेशों में प्रचलित चित्र के षडंग निकट आत्मीय हैं । चित्र और उसके षंडग के संबंध में स्वतंत्र चिंतन तथा ध्यानादि वात्स्यायन के बहुत पहले ही हमारे यहां प्रचलित था । चित्रकला अवश्य ही हमारे देश में शौकिया खेल नहीं था, हमारे ज्ञान व कर्म के साथ इसका गहन संबंध माना जाता है । चित्रकला को हमारे पूर्वजों ने जिस दृष्टि से देखा है, चीन व जापान को छोड़कर किसी अन्य जाति ने इसको इतना अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं माना । इसी कारण पूर्वी देशों की कला अपने प्राचीन आदर्शों और मान्यताओं पर आधारित लगती है । ये षडंग वस्तुतः 'भारतीय शिल्प' के छः अंग हैं । शिल्प का विषय बहुत व्यापक रहा है और चित्रकला उसी का अंग रही है । बाद में शिल्प शब्द का अर्थ कला शब्द ने ले लिया तथा इस प्रकार कला के तीन भेद-शिल्प, स्थापत्य एवं चित्र; माने जाने लगे । भारतीय षडंग इस प्रकार हैं :

(1) रूपभेद,

(2) प्रमाण,

(3) भाव,

(4) लावण्ययोजना,

(5) सादृश्य; एवं

(6) वर्णिका भंग ।

रूप हेतु रेखा अनिवार्य है और यदि रेखा सजीव है तो उसमें लयकारिता व गत्यात्मकता अवश्य होगी । संपुजीकरण, रिक्तता प्रकाश व छाया का घनिष्ठ अन्तःसंबंध है । रिक्तता घनत्व प्राप्त करने पर ठोस बन जाती है । प्रकाश व छाया द्वारा रिक्तता से संबंधित घनत्व का बोध होता है । रिक्तता स्वयं घनत्व की अनुपस्थिति मात्र है । ये समस्त तत्त्व प्रत्येक चित्र के अंग होते हैं । प्रमाण, भाव, लावण्य, सादृश्य, वर्णिकाभंग ये पांचों गवाक्ष हैं तथा रूपभेद नामक सुमेरु से षडंग की जो सुमिरनी चित्र-साधना हेतु हमारे शास्त्रकारों ने तैयार कर दी है, उस माला को फेरते समय साधक की अंगुली सुमेरु से प्रारंभ करके एक-एक गवाक्ष को स्पर्श करती हुई, पुनः सुमेरु पर पहुंच कर विश्राम करती है । सुमेरु से ही जप-गति प्रारंभ होती है और उसी पर आकर जप को मुक्ति मिलती है । इस प्रकार चित्र की गति की मुक्ति सुमेरु में ही होती है । हमारे शास्त्रकारों के अनुसार यही सुमेरु 'रूपभेदाः' है ।

भारतीय षडंगकार चित्र को सजीव वस्तु समझते थे। चित्र के छः अंग होते हैं। षडंग की रचना-प्रणाली को ध्यान से देखने पर भी ज्ञात होता है कि चित्र को षडंगकार ने एक जीवन-शक्ति की अभिव्यक्ति समझी थी और उस अभिव्यक्ति से उपयुक्त षडंग-सूत्र एक सजीवता प्रदान करते हुए रचते जाना उनका लक्ष्य था। षडंग के एक अंग से दूसरे अंग में योग है-संबंध आदि की विशेष रूप से आलोचना करके, जिसके बाद जो आना चाहिये जिसका जहाँ स्थान है, उसे उसी तरह एकसूत्र में सजाकर चित्र की मानो एक सजीव मंत्रमूर्ति खड़ी की गयी है। सारे षडंग के अंदर छंद की धारा बहाकर, रूपभेद की प्रमाण-भाव से, लावण्य-सादृश्य को वर्णिकाभंग से तथा सभी अंगों से सभी का एक अकाट्य व अविरोध संबंध स्थापित करके षंडग को एक ऐसी परिमित गति व भंगिमा दी गयी है कि षडंग एक छंद से अनुप्राणित होकर सजीव रूप में हमारे सामने आता है।

रूप प्रमाण की कामना करता है, अतः प्रमाण आकर रूप में मिल गया है। इसी प्रकार भाव का उदय, लावण्य का संचार, सादृश्य का साथ, और विचित्र भंगिमा ऐसी दिखाई पड़ी मानो नट-नटी हमारी आँखों के सामने नाच रहे हैं। षडंग की यह स्वच्छंद गति ही साक्षी दे रही है कि हमारे षडंग के मेल में भी प्राण का छंद तरंगायित है और रूप भेद का अर्थ केवल आकार में भिन्नता प्रदान करना ही नहीं वरन् आकार कहीं सजीव व कहीं निर्जीव होकर दिखाई दे रहा है।

चेतन-अचेतन, उत्पत्ति-निवृत्ति इसी के छंद में विश्व बंधा हुआ है। इसी प्रकार जीवित रूप और निर्जीव रूप, इसी की लय में हमारा षंडग मिलाया हुआ है। वस्तु रूप चेतना के स्पर्श से कब कहाँ सजीव है, चेतना के अभाव से कहाँ वह म्रियमाण है, यही हमारे षडंग का मूल मंत्र है। षंडग के प्रारंभ में जो 'भेद' और अंत में 'भंग' शब्द रखे गये हैं, इन्हीं के मध्य छः षडंगों में चित्र और चित्रकार के प्राण का रहस्य छिपा है। 'भेद' और 'भंग' के मध्य षंडगकार ने योजनम् शब्द को षडंग के ठीक मर्मस्थल में रखा है। यह 'भेद' और 'भंग' की मर्यादा को बनाये रखता है। शिल्पी तूलिका की लगाम की तरह खींचकर अपनी कामना को प्रवाहित करते हुए विश्व चराचर के साथ रचे गये चित्र में स्वयं को भी एक आकृति में बाँधता चला जाता है। चित्र के साथ जो चित्र देखता है, जो चित्र बनाता है तथा जिन्हें चित्र में चित्रित करता है, उनके परस्पर प्राणों का परिचय कराना ही षडंग साधना का चरम लक्ष्य है।

इन छः षडंगों का विवेचन इस प्रकार है :

(1) रूप-भेद

रूपभेद भारतीय षडंग का मूल मंत्र है। रूप और प्राण ये ही दोनों चित्र के इति और अन्त हैं। प्राण अभिव्यक्ति पाने के लिए रूप की कामना करता है तथा रूप जीवित रहने हेतु प्राण की प्रतीक्षा करता है। केवल रूप से या केवल प्राण से ही चित्र नहीं बनता, इसीलिए चीनी षडंगकारों ने प्राण के साथ छंद या आकृति को जोड़कर भी दोनों पक्षों को बनाये रखा है तथा भारतीय षडंगकारों ने भी केवल रूप न कहकर रूपभेदाः कहा है। रूपभेद का अर्थ यदि हम सभी सृजित वस्तुओं की विभिन्नता लगाते हैं तो हमारा षडंग निर्जीव व निष्क्रिय साधना का

आधार बन जाता है । चित्र निष्क्रिय सामग्री नहीं है । चित्र की जो रचना करता है और जो उसे देखता है, दोनों के जीवन से चित्रित की गयी आत्मीयता है । इसके अतिरिक्त चित्र की एक अन्य सत्ता भी है । रूपभेद का एक अर्थ यह है-भेद शब्द का व्यवहार साधारणतः विभिन्नता प्रकट करने हेतु होता है । दूसरी ओर भारतीय विद्वान भेद से वस्तु का मर्म या रहस्य अर्थ भी लेते हैं अर्थात् रूप का मर्म और रहस्योद्घाटन यह भी हो सकता है । भारतीय मूलमंत्र रूप भेद में बाह्य विभिन्नता के साथ आंतरिक विभिन्नता को भी महत्त्व दिया है । रूप अनंत व असीम है । रूप का साक्षात्कार दो प्रकार से किया जा सकता है-एक तो चक्षु द्वारा तथा दूसरा आत्मा द्वारा । चक्षु द्वारा देखा गया रूप बाहरी होता है जो बाह्य रूप, रंगों, आकृति की बनावट आदि से संबंधित होता है, किंतु उस वस्तु के अंतर में जो व्यापक सौंदर्य का समावेश कलाकार ने किया है उसे हम मात्र चक्षुओं द्वारा नहीं अपितु अपने अंतर्मन से अनुमान करके, चिन्तन-मनन करके आत्मा द्वारा पहचान सकते हैं । इस विश्व को भिन्न-भिन्न तरीकों से देखना व इसकी अखण्ड भिन्नता को परस्पर समाहित करना केवल चक्षुओं द्वारा ही संभव नहीं है, इसे समझना तो चक्षुओं व आत्मा दोनों का कार्य है । पहले रूप से चक्षुओं का संबंध होने के पश्चात् शनैः-शनैः आत्मा का संबंध स्थापित होता है । इस प्रकार भारतीय रूप-भेद के साथ प्राण को भी महत्त्व दिया है । कलाकार चित्र-रचना से पूर्व अपने समक्ष पदार्थ की आन्तरिक सत्ता या आत्मा को समझने का प्रयास करता है । इस प्रकार कलाकार जो कुछ समस्त भू-मण्डल में देखता है उसका वैसा ही चित्रण नहीं करता वरन् अपनी भावना व आत्मा का आदेश स्वीकार करके उस रूप की कल्पना करके चित्र-रचना करता है । भाव-विशेष के कारण एक रूप एक समय में जैसा दिखाई देता है, भाव बदल जाने पर वह वैसा प्रतीत नहीं होता । भाव के साथ रूप में जब परिवर्तन आता है तो वह गति छंद का निर्माण करती है । इसी छंद या लय के गुण के कारण हमारी आँखें एक वस्तु से दूसरी वस्तु की ओर गति करती हैं जिससे आत्मिक शांति भी प्राप्त होती है । सृजनात्मक क्षमता जब रूपायित होकर प्रस्तुत होती है तो वह उसका बेजोड़ उदाहरण बन जाती है । भारतीय चित्रकला में इस प्रकार के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण अजंता के भित्ति-चित्र हैं जहां अत्यंत भीड़भाड़ वाले चित्रों में भी प्रत्येक आकृति का पृथक् अस्तित्व अपनी अलग रूपगत चारित्रिक विशेषता है । वहां दो वृद्धों की आकृति में भी चाहे वे एक ही चित्र में क्यों न हों; रूप भेद दिखाई देता है । यह रूप भेद वहाँ नेत्रों द्वारा बाह्य आकार में ही नहीं वरन् आत्मा द्वारा देखने पर भावों में भी मिलता है जिससे भाव के साथ रूप परिवर्तित होने के कारण यह गति छंद का निर्माण करती है ।

छंद को भारतीय कोषों में 'आल्हादयति इति' कहा गया है । चित्र में रसोदय व आनंदमयता ही सब कुछ है । जिसे हम आनंदमयता कहते हैं, उसी को चीनी शिल्पाचार्यों ने छंद कहा है । आनंद, अवसाद, मिलन-वियोग, सुख-दुःख, वसंत-शीत आदि सभी में छंद विद्यमान है । छंद हमारे अन्दर व बाहर की असीम करुणा, दया, ममता, पीड़ा में तरंगायित है । वह इतना शक्तिमान है कि कवि या चित्रकार को सीमित बंधनों से निकालकर अनंत की ओर ले जाता है । चित्र में रसमयता ही उसका प्राण है । छंद या आनंदमयता की परिणति रस में है । चित्र का सर्वस्व रस है । इन सबका पालन भारतीय चित्रकार प्रारंभ से ही करते आ रहे हैं, अतः यह कहना असंगत होगा कि भारतीय रूप भेद में छंद की उपेक्षा की गयी है । अजंता

के भित्तिचित्र इसके सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हैं। प्राण में संगत होकर जो शक्ति आह्लादिनी शक्ति है, संक्षेप में कहा जा सकता है कि यह प्राणों का स्पन्दन है।

(2) प्रमाण

प्रमाण के अंतर्गत समविभक्तता, अनुपात, सीमा, लंबाई-चौड़ाई, शरीर-रचना आदि का विवरण आ जाता है। अनुपात के उचित ज्ञान को 'प्रमा' नाम से संबोधित किया गया है। पुरुष व स्त्री की लंबाई में भेद, उनके अंगों की रचना किस क्रम से हो अथवा राक्षस या मनुष्य के आकार में दिखाना, यह सब प्रमाण द्वारा ही संभव है। प्रमाण द्वारा रंगों में भी भेद हो जाता है। उदाहरणार्थ, समुद्र का चित्रण करने हेतु हमें उसमें गहराई, आकाश व समुद्र का विभाजन, उसकी असीमता आदि का बोध भी कराना होता है-इन सबका बोध रंगभेद से हो जाता है। प्रमाण से सौंदर्य को भी सहायता मिलती है। प्रमाण द्वारा सीमित व अंनत दोनों प्रकार की वस्तुओं को नाप सकते हैं। प्रमाण से समीप या दूरी का बोध होने के साथ कौनसी वस्तु कितनी मात्रा में दिखाने से मनोहर लगेगी इसका भी निश्चय होता है। 'रेखा द्वारा चित्र में जीवन का संचार होता है।' यह रेखा का महत्त्व संपूर्ण पूर्वी कलाओं में है। भारतीय चित्रों में भी रेखा का महत्त्व है। उदाहरणार्थ, अंजता के भित्तिचित्रों में रूपभेद, प्रमाण आदि तूलिका द्वारा ही दिखाये हैं। रेखा के लिए तो अजंता के चित्रकारों को लय का जादूगर कहा गया है, किंतु इन्होंने रेखाओं के साथ रंगों को भी उतना ही महत्त्व दिया है। इन्हीं रेखाओं के अंकन में कलाकारों ने योग्यता दिखायी तथा संयोजन की गति को इसी के अनुरूप लिया और इन्हीं में लय, ताल व शक्ति आदि गुणों के समावेश से भित्तिचित्रों का रूप निखर कर सुदर प्रतीत हुआ। भारतीय षडंग में अनुकृति को महत्त्व नहीं दिया है। भारतीय कलाकार अपनी प्रमाण-योजना के अनुसार मानव को आदर्श रूप देकर चित्रित करता है। इन्होंने आकृति के प्रमाण में तूलिका संचालन को बहुत महत्त्व दिया है तथा बाह्य आकार में सपाट रंग भरकर रूप निर्माण किया है उसमें एनेटोमिकल स्टडी का विशेष अध्ययन नहीं है।

(3) भाव

भारतीय दर्शनशास्त्र और काव्यशास्त्र में भावों पर अत्यंत गहनता एवं सूक्ष्मता से अध्ययन किया गया है। आकृति की भँगिमा, स्वभाव, मनोभाव एवं व्यंग्यात्मक प्रक्रिया भाव कहलाती है। शरीर व इन्द्रिय सभी में विकार की स्थिति पैदा करना भाव का कार्य है। विभावजनित चित्तवृत्ति का नाम भाव है। चित्त तो निर्विकार होता है, चित्त में पहली क्रिया की उत्पत्ति भाव द्वारा ही होती है। भाव एक मानसिक प्रक्रिया है। भिन्न-भिन्न भावों की अभिव्यंजना से शरीर में भिन्न-भिन्न विकारों का जन्म होता है ये बदली हुई अवस्थाएँ ही भाव कहलाती हैं। भाव दो प्रकार का होता है-प्रकट व प्रच्छन्न। प्रकट भावरूप को हम आँखों से ग्रहण करते हैं जैसे-हाथ पर हाथ रखने में, आँखों पर आँचल डालकर रोने में, फूल के खिलने में, होंठों के कंपन में जो भाव उत्पन्न होते हैं उन्हें हम नेत्रों द्वारा देख सकते हैं, किंतु आंतरिक भावों को जानने हेतु अनुभव एवं आंतरिक चेतना की आवश्यकता होती है। चित्र की अचित्रित

बातें जो नेत्रों द्वारा नहीं देखी जा सकतीं, वे व्यंजना द्वारा पहचानी जाती हैं। आकृति के शरीर की विभिन्न स्थितियों में पविर्तन द्वारा कलाकार अपने हृदय के भावों को प्रकट करता है, किंतु मन के अव्यक्त भावों को दर्शाना अत्यंत कठिन है। ये भाव हृदय या मस्तिष्क पर किसी प्रतिक्रियास्वरूप उत्पन्न होते हैं। वस्तुतः रेखा, वर्ण, वर्तना और अलंकरण सबका पर्यवसान सुंदर भावों की अभिव्यक्ति में ही है।

भारतीय नियम की भांति चीन में भी प्रकृत्यानुरूप आकृति-चित्रण पर जोर दिया है। चीन के सिद्धान्त के अंतर्गत भारतीय रूपभेद, प्रमाण और भाव समाहित हैं। पश्चिमी देशों के कलाकारों के समान चीन के कलाकारों ने मॉडल को महत्त्व नहीं दिया वरन् उसकी अपेक्षा मन में आये भाव ही अधिक महत्त्वपूर्ण समझे गये। भारतीय कला में सात्विक, राजसी व तामसी तीनों गुणों की रचना हेतु पृथक्-पृथक् रूपों की निर्मिति की है। इन्होंने जीवन की दार्शनिकता को इस प्रकार समझा कि समस्त वस्तुएँ स्वर्ग में उत्पन्न हुई हैं और भूमि पर आकर ही उन्हें स्वरूप प्राप्त हुआ है, अतः संसार की क्षुद्रतम वस्तु भी तुच्छ नहीं है। परिणामस्वरूप यहां के कलाकारों ने प्रकृति के छोटे से छोटे अंश को भी देखा तथा स्वयं को उसकी स्थिति में रखकर मनन किया तत्पश्चात् उसकी रचना प्रारंभ की। यही उनके स्केच व रंगों के बारे में उदाहरण प्रस्तुत कियां जा सकता है। इस प्रकार इनकी कला में कल्पना के सोथ-साथ स्वाभाविकता के भी दर्शन होते हैं। इनकी मान्यताएँ और परंपराएँ यह सिद्ध कर देती हैं कि स्थूल से स्थूल वस्तु भी प्राणवान, गतिमय तथा लयात्मकतापूर्ण चित्रित की जा सकती है। भारतीय सिद्धान्त भी रंग, रेखा, वर्तना और अलंकरण सबका पर्यवसान भावांकन में ही माना है। अजंता के चित्र 'बुद्ध का पुनरागमन', 'बोधिसत्व पद्मपाणि', 'मरती हुई राजकुमारी' इसके उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

(4) लावण्य-योजना

रूप, प्रमाण व भाव के साथ-साथ चित्र में लावण्य का होना भी अत्यावश्यक है। प्रमाण जैसे रूप को परिमिति देता है वैसे ही लावण्य को भी। भाव-चित्र में आंतरिक सौंदर्य का बोध करवाता है और लावण्य बाह्य सौंदर्य का। चित्र में बाह्य अलंकृति लावण्य-योजना द्वारा ही संभव है। चित्र में बाह्य अलंकृति लावण्य-योजना द्वारा ही संभव है। चित्र में लावण्य भाव को लगाम देता है। वह भाव का अवरोधक नहीं वरन् सौंदर्यानुभूति व कांति का पोषक है। प्रमाण और रूप की समुचित योजना होने पर भी लावण्य के अभाव में चित्र में सौंदर्य की अभिव्यंजना नहीं हो सकती। लावण्य-योजना में उचित संयोजन को महत्त्व दिया जाता है। भारतीय लावण्य सिद्धान्त में उचित संयोजन तथा चित्र को सौंदर्यपूर्ण बनाने हेतु रंगों द्वारा, आकृतियों का उचित प्रस्थान तथा उनके महत्त्व के अनुसार उनका रूप अंकित किया है। मुख्य आकृति को केन्द्र में उपस्थित करके अन्य सहयोगी आकृतियों से उसे महत्त्व दिया जाता था जिससे चित्र-संयोजन में प्रत्येक वस्तु को यथोचित स्थान देकर चित्र के सौंदर्य व अलंकृत रूप को महत्त्व मिल सके, यही उनका उद्देश्य रहा है। भारतीय कला में संयोजन के मध्य मुख्याकृति को अन्य आकृतियों से बड़ा बनाया गया जिसका उदाहरण अजंता में 'बुद्ध का

पुनरागमन' है । बुद्ध की आकृति सामान्य से बड़ी बनाकर उसमें विश्व के प्रति वैराग्य की भावना तथा बुद्धि के अलौकिक व्यक्तित्व को दर्शाया है तथा राहुल व यशोधरा की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया है । संपूर्ण चित्र लावण्यपूर्ण है । इसी प्रकार 'मरती हुई राजकुमारी' में भी राजा व उसके पैरों में पड़ी राजकुमारी को मध्य में अंकित किया है तथा अन्य आकृतियों व भवन के संयोजन से चित्र के संयोजन नियमों का पालन करके लावण्य-योजना का पूर्ण निर्वाह किया है ।

(5) सादृश्य

किसी मूल वस्तु के साथ उसकी प्रतिकृति की समानता करना ही सादृश्य कहलाता है । चित्र चाहे सत्य पर आधारित हो या कल्पना पर, किंतु यदि चित्रित व्यक्ति या आकृति को दर्शक तुरंत पहचान जाये वही सादृश्य है । अवनीन्द्रनाथ ने किसी रूप के भाव को किसी दूसरे रूप के द्वारा प्रकट कर देना ही सादृश्यता उत्पन्न करना माना है । जिस वस्तु को हम चित्रित करते हैं उसके गुण या दोष अविकल रूप से समाविष्ट होने चाहिये । उदाहरणार्थ, यदि हमें बुद्ध का चित्र अंकित करना है तो उसमें वे सब विशेषताएँ होनी चाहिएँ जो बुद्ध में थीं । ऐसा न हो कि वह बुद्ध का चित्र लगने की बजाय महावीर का चित्र लगनें लगे क्योंकि इन दोनों ने ही तपस्या की थी और दोनों का ही रूप योगी का था । तथापि यह आकृति व्यंजक सादृश्य तुच्छ है । उत्तम सादृश्य तो मनोभाव व्यंजक होता है । कवियों ने 'मुखचंद्र' और 'चरण कमल' के सादृश्य की योजना-प्रकृति, स्वभाव या धर्म-साम्य के कारण की है । भारतीय कला में मानवीय अंगों का सादृश्य उन अंगों के गुणों के अनुसार प्राकृतिक उपमानों में खोजा गया है ।

भारतीय सिद्धान्त में आकृति के बाह्य सादृश्य की अपेक्षा आंतरिक सादृश्य अर्थात् मनोभाव व्यंजक सादृश्य को महत्त्व दिया है । पाश्चात्य कलाकारों के समान यहाँ के कलाकारों ने मॉडल को महत्त्व नहीं दिया वरन् उसकी अपेक्षा मन में आये भाव ही अधिक महत्त्वपूर्ण समझे गये । इन्होंने भी व्यक्ति-चित्रण में व्यक्तित्व तथा चारित्रिक विशेषताएँ दर्शाने का प्रयास किया है ।

आधुनिक कला में नवीन प्रविधियाँ प्रचलित होने तथा पारम्परिक आकृति की अपेक्षा कलाकार की व्यक्तिगत भावनाओं को महत्त्व देने के कारण सादृश्य का प्रयोग विशुद्ध रूप में नहीं होता ।

(6) वर्णिका-भंग

बिना वर्ण-साधना के शेष पांच सिद्धान्तों का कोई विशेष महत्त्व नहीं रहता वरन् उनका स्थान केवल मन तक ही सीमित रह जाता है । शेष पाँच अंगों की सिद्धि हम बिना कागज पर कुछ अंकित किये, मन व दृष्टि के गंभीर मनन से भी कर सकते हैं, किंतु वर्णिका-भंग का अध्ययन तूलिका हाथ में लेकर प्रत्यक्ष अभ्यास द्वारा ही संभव है ।

वर्णिका-भंग के अंतर्गत रंगों का समिश्रण, उनके प्रयोग करने की विधि तथा तूलिका

के प्रयोग का तरीका बताया है । किस प्रकार के चित्र हेतु किस प्रकार के वर्णों का प्रयोग करना चाहिये, किस रंग के समीप किस रंग का संयोजन होना चाहिये आदि बातें वर्णिका-भंग के अंतर्गत आती हैं । रंगों की विभिन्नता से हमें वस्तुओं के अस्तित्व के साथ-साथ उनका अन्तर भी ज्ञात होता है । लाल, पीला, नीला इन तीनों रंगों में श्वेत रंग के योग से तथा परस्पर इन सबके मिश्रण से अनेक रंग बनते हैं । यह मिश्रण कैसे होता है और कितनी मात्रा में किया जाये इसका पूर्ण ज्ञान वर्णिका-भंग में कुशलता का प्रतीक है । रंग-भाव तथा वातावरण की सृष्टि करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं । किसी भी वस्तु के अंकन से पूर्व उसकी आंतरिक सत्ता को मन में धारण करना पड़ता है तभी उसकी बाह्य आकृति संभव है । तूलिका की स्पर्श-पद्धति लिपि के समान ही है । उस पर प्रभुत्व व पूर्ण आधिपत्य जब कलाकार का हो जाता है तो व उन्मुक्त और सहजता से जीवन मुक्त गति प्रस्तुत करने में समर्थ होता है । वाचस्पति गैरोला ने कहा है कि 'वर्णिका भंग हेतु लघुता, क्षिप्रता और हस्त-लाघव की आवश्यकता है ।' आँख की पुतली, हँसी की रेखा, रूदन का भाव-वेदना का भाव, ममत्व की अभिव्यंजना आदि में अत्यंत सूक्ष्म ज्ञान की आवश्यकता होती है । केवल रेखाओं, वर्णों, अक्षरों तथा वर्णों के सम्मिश्रण का ज्ञान ही वर्ण-ज्ञान हेतु पर्याप्त नहीं है, उसके रूप एवं तत्त्व दोनों को जानना अत्यंत आवश्यक है । उदाहरणार्थ, सूर्य की किरणों का चित्रण ही पर्याप्त नहीं है वरन् उसके प्रातःकालीन, मध्याह्न व संध्या के रूप को व्यक्त करना भी आवश्यक है । 'परंपरा अनुकरण' के सिद्धान्त को भारतीय षडंग में किंचित् भी महत्त्व नहीं दिया गया है । भारत में अनुकरण को हेय दृष्टि से देखा जाता था ।

विष्णुधर्मोत्तर पुराण (लगभग 5वीं शताब्दी)

शिल्प और कला-विषयक अधिकतर सामग्री पुराणों में उपलब्ध है । 'रामायण' के पश्चात् पुराण-ग्रंथों में ही कला के स्वतंत्र विकास की योजना मिलती है । पुराणों को लिखने का उद्‌देश्य था कि जो गूढ़ तत्त्व को गूढ़ रूप में अर्थात् रहस्यवाद को समझ सकते हैं, वे इस रहस्यवाद को अत्यंत सरल भाषा में जनसाधारण तक पहुंचाएँ । इस प्रकार कथाओं के रूप में उनका वर्णन किया जाने लगा और पुराणों की रचना हुई । इन कथाकारों को व्यास कहा जाता था । जीवन के पक्षों-सामाजिक, ऐतिहासिक सभी आदि की चर्चा पुराणों में की गयी है । विष्णुधर्मोत्तर पुराण एक ऐसी रचना है जिसमें चित्रकला संबंधी शिल्प का विस्तृत विवेचन है । यद्यपि अन्य पुराणों में भी इस प्रकार का वर्णन उपलब्ध है तथापि अग्निपुराण के 16 अध्यायों में भी शिल्प के अनुभागों का विस्तृत, अधिक वैज्ञानिक तथा खोजपूर्ण विवेचन है । 13 अध्यायों में केवल मूर्तिकला पर प्रकाश डाला गया है । इसी प्रकार मत्स्य पुराण के आठ अध्यायों में शिल्प व कला की चर्चा है । स्कन्ध पुराण के माहेश्वर व वैष्णव नामक खंडों में शिल्प व कला की सामग्री उपलब्ध है, तथापि 'विष्णु-धर्मोत्तर-पुराण' ही एक ऐसा ग्रंथ है जिसमें चित्रकला व मूर्तिकला को स्वतंत्र स्तर पर प्रतिष्ठित किया गया है ।

विष्णुधर्मोत्तर पुराण की गणना न तो महापुराणों में है न ही उप-पुराणों में, इसे "विष्णु पुराण" का ही एक अंग माना जाता है, जिस प्रकार 'हरिवंश पुराण' को महाभारत का

ही एक भाग माना गया है। इसकी रचना 5वीं सदी के लगभग मानी जाती है। इसके तीन खंड हैं। तीसरे खंड में 35वें अध्याय से लेकर 43वें अध्याय तक 'चित्रसूत्रम्' नामक एक प्रकरण है। इसके नौ अध्यायों को पढ़कर भारतीय चित्र-विद्या की व्यापकता एवं उसके प्राचीन अस्तित्व के संबंध में महत्त्वपूर्ण जानकारी मिलती है। यह प्रकरण इतना अधिक लोकप्रिय हुआ कि अनेक विद्वानों ने इसका अनुवाद किया। पहला अनुवाद डॉ॰ स्टैला क्रेमरिश ने किया था जो पूर्ण अनुवादित नहीं है। इनके बाद कुमारा स्वामी ने भी अनुवाद किया। ये अनुवाद शब्दशः नहीं किये गये हैं। तीसरा अनुवाद प्रिय बालाशाह ने किया।

'चित्रसूत्रम्' में वास्तुकला, मूर्तिकला एवं चित्रकला तीनों का विवेचन है क्योंकि इन तीनों का प्राचीन काल में कोई पृथक्-पृथक् महत्त्व नहीं था। इसके साथ ही नृत्य व संगीत का भी वर्णन किया है। इन नौ अध्यायों में चित्रों के शारीरिक लक्षण, अंकन-विधान के जितने भी तात्त्विक सिद्धान्त हैं; उनका विस्तृत विवेचन है। इसमें चित्रकला की उत्पत्ति दैवी बताई है। यह इसलिए बताई होगी कि साधारण जनता की, जो विश्वास के बल पर जीती है कलाओं के प्रति आस्था बनी रहे। विष्णु के अंशावतार नर व नारायण हैं। नर एक बार तपस्या कर रहे थे। उनकी तपस्या भंग करने हेतु इन्द्र ने अप्सराएँ भेजीं। पास आयी हुई सुर-सुन्दिरयों को निरुत्साहित करने के लिए उन्होंने अपनी ऊरु (जाँघ) पर आम के रस से एक सुंदर स्त्री का चित्र बनाया। इस आलेखित अत्यंत सुंदर स्त्री को देखकर सभी अप्सराएँ लज्जित हो गयीं। फिर उस चित्र में जीवन डाल दिया गया तथा उसे इन्द्रलोक भेज दिया गया। चित्रसूत्र में आगे बताया है कि 'नृत्यकला की भाँति चित्रकला में भी तीनों लोकों का अनुसरण किया जाता है। इन दोनों कलाओं में चिंतन भाव और अंग-प्रत्यंग सभी दृष्टियों से समानता है। महानृत्य (ताण्डव) के प्रसंग में पहले जिस प्रकार की हस्त-मुद्राओं का उल्लेख कियां गया है, वैसे ही हाथ चित्रकला के लिए भी अपेक्षित होते हैं, क्योंकि नृत्यकला को स्वयमेव एक उत्कृष्ट चित्रकृति माना गया है।"

संपूर्ण चित्रसूत्र नौ अध्यायों में विभक्त है जिनके निम्नांकित नाम हैं-

1. आयाम वर्णन,
2. प्रमाण वर्णन,
3. सामान्य मान वर्णन,
4. प्रतिमा लक्षण वर्णन,
5. क्षय वृद्धि,
6. रंग व्यतिकर,
7. वर्तना,
8. रूपनिर्माण; तथा
9. श्रृंगारादि भाव-कथन।

वात्स्यायन के 'कामसूत्र' की टीका करते हुए यशोधर पंडित ने चित्रकला के जिन छः अंशों का वर्णन किया है, वे भारतीय शिल्प के छः अंग हैं। शिल्प शब्द व्यापक रहा है जिसमें चित्र, स्थापत्य, कला तीनों आ जाते हैं। किंतु बाद में शिल्प का अर्थ कला ने ले लिया तथा शिल्प, स्थापत्य व चित्र, कला के तीन भेद माने जाने लगे। विष्णुधर्मोत्तर पुराण में वर्णित चित्र-विधान संपूर्ण भारतीय शिल्प पर चरितार्थ न होकर केवल चित्रकला पर ही चरितार्थ होता है।

प्रकृति चित्र बनाने के भी निर्देश देते हुए कहा गया है कि नभ-मण्डल को किसी विशेष रंग का उपयोग किये बिना ही प्रदर्शित करना चाहिये। यदि रात्रि का समय हो तो तारे दिखाने चाहिये व दिन का समय हो तो आकाश में पक्षियों को उड़ता हुआ दिखाया जाना चाहिये। पहाड़ों के चित्रण हेतु उनकी चोटियाँ, झाड़ियों के समूह, स्थान-स्थान पर धातुओं के चिह्न वृक्ष, लताएँ, साँप और भूरने आदि दिखाने चाहिये। जंगल के दृश्य में वृक्षों का समूह, घास, झाड़ियाँ, वृक्षों पर पक्षी व पृथ्वी पर कीड़े मकोड़े चित्रित किये जाने चाहिये। नदी, तालाबों में पानी में मछलियों के झुण्ड, कमल, मगरमच्छ, घड़ियाल आदि दिखाने चाहिये और किनारों पर छोटे-छोटे पौधे चित्रित हों। जलाशय के दृश्य अंकित करते समय उस स्थान को पानी पीते हुए मनुष्यों से भरा हुआ दिखायें। कुछ व्यक्तियों को अधोवस्त्र पहने जुआ खेलते हुए दर्शायें। यदि नगर का चित्र खींचना हो तो उसमें सुंदर देव मंदिर, राजप्रासाद, हाट, दूकानें, घर और सड़कें आदि का संयोजन करना चाहिये। ग्राम्य-चित्रों के लिए कच्चे घर, ग्राम सीमाएँ तथा दो-एक उपवन दिखायें। दुर्ग के दृश्य में परकोटे की ऊँची दीवारें, उनमें बंदूक चलाने के छेद, पहाड़ का दृश्य, परकोटे का ऊँचा द्वार तथा उसका घेराव आदि दिखाना चाहिये। किसी समरभूमि का दृश्य अंकित करने हेतु अश्वारोही, गजारोही, रथारोही और अंत में पराति इन चार प्रकार की सेनाओं को दिखाना चाहिये। स्थान-स्थान पर सैनिकों के कटे हुए अंग-प्रत्यंग हो तथा सारी भूमि रक्त से लाल हो। श्मशान भूमि हेतु पहले मृतकों को दिखाना चाहिये, फिर स्थान-स्थान पर चिताएँ एवं जलते हुए शव दिखाएँ। क्रिया-कर्म करते हुए मनुष्य हों तथा प्रत्येक व्यक्ति के मुख पर विरक्ति व विषाद के भाव अंकित हों।

चित्र में यदि गति और रसमयता न हो तो वह वस्तुतः चित्र न होकर रंगों व रेखाओं का निर्जीव भाग कहा जायेगा। चित्र षडंगों का पूर्णतः निर्वाह करके भी हम उसे चित्र नहीं कह सकते। रेखाओं, रंगों व तूलिका के द्वारा आत्मा को प्रतिष्ठित कर देना ही चित्र है। शब्द, रस, रूप, गंध, छाया-आलोक, सुख-दुःख, आनंद-अवसाद, अर्चना, भक्ति, अनुराग-विराग आदि हमारे अंदर व बाहर बहने वाले सदाशय, शाश्वत रूप से वर्तमान रहने वाले जो आत्मभाव हैं, उन्हें किसी गलीचे, दीवार या किसी पुस्तक पर अंकित कर देना ही चित्र है। चित्र वही है जिसे देखकर हमारे अंदर की आत्मीयता जाग जाये तथा हमारी वेदना फूट पड़े। इस प्रकार जिस कृति में आत्मीयता, वेदना व अनिर्वचनीय रसमयता है वही चित्र कहा जा सकता है। यही बात कविता, संगीत, नाटक आदि सभी विषयों पर लागू होती है।

. चित्र में रसोदय व आनंदमयता ही सब कुछ है। जिसे हम आनंदमयता कहते हैं वही छंद है। दंद की चित्र में वही स्थिति है जो नदी में लहरों की। छंद बहुविध व सर्वव्यापी है।

आनंद, अवसाद, मिलन, वियोग, सुख-दुःख, वंसत, शीत आदि सभी में छंद विद्यमान है। छंद हमारे अन्दर व बाहर की असीम करुणा, दया, ममता, पीड़ा में तरंगायित है। वह इतना शक्तिमान है कि कवि या चित्रकार को सीमित बंधनों से निकालकर अनंत की ओर ले जाता है।

चित्र में रसमयता ही उसका प्राण है। काव्यशास्त्र में इसको काव्य की आत्मा कहकर ब्रह्म-स्वाद सहोदर कहा गया है। ऐसा स्वाद जो केवल अनुभूत किया जा सके। छंद या आनंद की परिणति रस में है। चित्र का सर्वस्व रस है, इसीलिए शिल्प-विषयक ग्रंथों में रस का विस्तार से विवेचन किया गया है। नौ रसों का विवेचन करते हुए बताया गया है कि चित्र में उनका प्रयोग किस रूप में होना चाहिये। किसी भी कलाकृति की सर्वांगीण शुद्धि व उसके बाह्यान्तर की सुव्यवस्था रचना-विधान पर निर्भर है। कलाकार में गुण-दोषों के विवेचन की जितनी पटुता होगी, कृतित्व में उतना ही सौष्ठव, सौंदर्य व स्थायित्व होगा। कलाकृति में रसाभिव्यक्ति हेतु भावों-अनुभावों का शास्त्रीय बोध होना चाहिये। इसी प्रकार परिवेश के संयोजन हेतु अंलकृति का ज्ञान भी आवश्यक है।

नग्नजित् चित्र-लक्षण (पूर्व मध्य-काल)

विष्णुधर्मोत्तर पुराण के पश्चात् चित्रकला-विषयक प्राविधिक सामग्री का विस्तृत विवेचन करने वाला दूसरा प्रौढ़ ग्रंथ नग्नजित् का चित्र-लक्षण है। यह पूर्व-मध्यकाल की रचना मानी जाती है। यह ग्रंथ तीन अध्यायों में उपलब्ध है। इसके मंगलाचरण में कहा गया है कि यह विश्वकर्मा और नग्नजित् द्वारा निर्दिष्ट लक्षणों का संग्रह है। संग्रह होने के कारण इसका संग्रहकर्त्ता कोई तीसरा व्यक्ति होना चाहिये। राजा नग्नजित् का उल्लेख प्राचीन ग्रंथों में मिलता है। "शतपथ-ब्राह्मण" में नग्नजित् को गांधार देश का राजा बताया गया है। महाभारत एवं जैन सूत्रों में भी यही कहा गया है, किंतु इनमें कहीं भी इस ग्रंथ का उल्लेख नहीं मिलता। यह तो निर्भ्रांत रूप से सही है कि नग्नजित् गांधार देश का राजा थे क्योंकि गांधार-शिल्प में चित्रकला के लक्षणों का स्वरूप चित्र-लक्षण के विधानों से प्रभावित है।

चित्र-लक्षण के प्रथम अध्याय में चित्रकला की उत्पत्ति का वर्णन है। प्राचीनकाल में भयजित् नामक राजा के राज्य में एक ब्राह्मण पुत्र की मृत्यु हो गयी। वह ब्राह्मण अपने मृत पुत्र को राजा के समक्ष ले गया तथा प्रनाच्छित करते हुए अपने मृत पुत्र को जीवन-दान देने की चुनौती दी। धर्मात्मा राजा ने आकुल मन से योगबल द्वारा यमराज को बुलवाकर मृत ब्राह्मण पुत्र को जीवन-दान देने की प्रार्थना की। प्रार्थना अस्वीकार करने पर दोनों में युद्ध हुआ। युद्ध में पराजित होने पर भी यमराज ने जीवन-दान देने से मना कर दिया। तब ब्रह्मा ने स्वयं आकर नग्नजित् से ब्राह्मण पुत्र का चित्र अंकित करवाया तथा उसमें प्राण संचार कर दिया। फिर ब्रह्मा ने नग्नजित् से कहा कि 'तुमने नग्न प्रेतों को जीत लिया है अतः आज से तुम्हारा नाम नग्नजित् हुआ। तुम्हारा यह चित्र सुष्टि का पहला चित्र है। मृत्युलोक में इस कल्याणकारी चित्रकला के तुम पहले आचार्य कहे जाओगे। चित्र-विद्या से संसार का इसी प्रकार कल्याण होता रहेगा और इसी हेतु तुम मर्त्यलोक द्वारा सदा पूजित रहोगे।' इस प्रकार इसमें चित्रकला को कल्याणकारी

भी माना गया है ।

दूसरे अध्याय में चित्रकला की उत्पत्ति दैवी बताते हुए विश्वकर्मा-नग्नजित् संवाद में बताया है कि संसार की कल्याण-कामना के हेतु ब्रह्मा की प्रेरणा से इन्द्रादि देवताओं ने अपने अस्त्र-शस्त्रों और मुद्राओं सहित अपनी-अपनी प्रतिकृतियाँ बनाकर ब्रह्मा को दीं, जिन्हें ब्रह्मा ने अर्चन-पूजन हेतु मर्त्यलोक में भेज दिया ।

तीसरे अध्याय में चित्रकला विधान का विवेचन है । पुरुषों, स्त्रियों, पशु-पक्षियों व प्रकृति आदि के लिए भिन्न-भिन्न रीतियाँ बताई हैं । विभिन्न आकृतियों के अंग-उपांगों हेतु कितनी लंबाई-चौड़ाई होनी चाहिये, इसका भी उल्लेख है । एक चित्रकार के लिए प्राकृतिक नियमों की जानकारी आवश्यक बताई है तथा भाव-प्रधान चित्रों की सराहना की है । इन भाव-प्रधान चित्रों में छवि के आंतरिक व्यापार की प्रतिक्रिया को उचित रूप से अंकित करने के अनेक वैज्ञानिक तरीके भी बताये गये हैं ।

सोमेश्वर मानसोल्लास (12वीं शताब्दी)

"मानसोल्लास" की रचना 12वीं सदी में सोमेश्वर ने की थी । सोमेश्वर चालुक्य राजा विक्रमादित्य द्वितीय के पुत्र थे । कुछ मेन्यूस्क्रिप्ट्स में 'मानसोल्लास' को अपर नाम भी दिया गया है-'अभिलषितार्थ चिन्तामणि' । यह एक प्रकार का विश्वकोषात्मक ग्रंथ है । चित्रकला के अतिरिक्त इसमें राजाओं के रहन-सहन की विधियों तथा उनके मनोरंजन की वस्तुओं का विराट् वर्णन है । संस्कृत के प्राप्त ज्ञान व कला का कोई भी अंश ऐसा नहीं बचा है जिसका इसमें उल्लेख न हो । राज्य-व्यवस्था, गणित, फलित ज्योतिष, तर्कशास्त्र, काव्यशास्त्र, काव्य, संगीत, आयुर्वेद, वास्तुकला आदि अनेक विषयों पर इसमें विवेचना की गयी है । इस ग्रंथ का श्री जी॰ के॰ गोंडकर की विस्तृत भूमिका के साथ गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज, बड़ौदा से तीन भागों में प्रकाशन हुआ है ।

"मानसोल्लास" की तीसरी विशांति के प्रथम अध्याय में चित्रकला के विवेचन में चित्रकर्म वर्णन बहुत ही क्रमबद्ध तरीके से किया गया है । इस चित्र-विधान पर "विष्णुधर्मोत्तर पुराण" के चित्र-लक्षण का प्रभाव होते हुए भी युगीन परिवर्तनानुसार उसकी प्रत्येक बात में मौलिकता के दर्शन होते हैं । इस चित्र-विधान के कुछ अवयव इस प्रकार बताये गये हैं :

(1) चित्रकार-स्वरूप (2) चित्रभित्ति

(3) लेखनी-लेखन (4) शुद्ध वर्ण

(5) मिश्रवर्ण (6) चित्रवर्ण

(7) पक्षसूत्र-लक्षण (8) ताल लक्षण

(9) तिर्यकमान लक्षण; एवं (10) सामान्य चित्र प्रक्रिया ।

मानसार (गुप्तोत्तर काल)

यह ग्रंथ गुप्तोत्तर काल का है जिसमें वास्तु और शिल्प की अत्यंत प्राचीन परंपरा सुरक्षित है । इसके प्रारंभ में विश्वकर्मा को ब्रह्मा के मानस-पुत्र के रूप में वर्णित किया गया है । महाविश्वकर्मा (ब्रह्म) के चार मुखों से चार पुत्रों-विश्वकर्मा, भय, त्वष्टा एवं मनु की उत्पत्ति हुई, इन्हें स्थपति कहा जाता था । इनमें विश्वकर्मा का प्रमुख स्थान था । वे देवताओं के शिल्पी थे । पुराणों में इनके पिता का नाम प्रभास बताया गया है । राज-प्रासादों, उद्यान-उपवनों, मूर्तियों, आभूषणों, सरोवरों, कूपों आदि के निर्माता के रूप में उनकी बड़ी प्रशस्ति गायी गयी है । विश्वकर्मा अद्‌भुत शिल्पी होने के अतिरिक्त असाधारण लेखक भी थे । शिल्पशास्त्र पर उन्होंने अनेक ग्रंथों की रचना की । "विश्वकर्मा-प्रकाश" का रचनाकार उन्हीं को माना गया है । यह ग्रंथ अब अनेक संस्करणों में उपलब्ध है । इस ग्रंथ के निर्माण का उद्‌देश्य विश्वकर्मा ने लोकहित बताया है । "विश्वकर्मीय-शिल्पशास्त्र" नामक कृति जो ओरिएण्टल मैन्युस्क्रिप्स लाइब्रेरी, मद्रास में सुरक्षित है; विश्वकर्मा की ही मानी जाती है । ब्रह्म के आदेश से ही विश्वकर्मा ने एक नाट्यशाला तथा एक पुष्पक विमान का भी निर्माण किया ।

शिल्प एवं वास्तु में अंतर था । वास्तु-शिल्प का एक अंश है । शिल्प में एक विस्तृत एवं व्यापक अर्थ समाहित था, जबकि वास्तु का एक शिल्प-विशेष का नाम था । दस प्रकार के शिल्प माने जाते थे :

(1) कृषि	(2) जल
(3) खान	(4) नौका
(5) रथ	(6) विमान
(7) वास्तु	(8) प्रकार
(9) नगर-रचना	(10) यंत्र

ये दस विभाग शिल्पशास्त्र के ही अंग हैं जिनमें वास्तु का भी एक स्थान है । संस्कृत के प्राचीन ग्रंथों में शिल्प शब्द को कला-कौशल के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है । मानसार में सभी प्रमुख शिल्पों का वर्णन है जो ललित-कला से संबंधित है । मानसार में वास्तु को हर्म्य (भवन-निर्माण), धरा (भू परीक्षा), यान (रथ, यंत्र आदि की रचना) पर्यक (शयन पीठ) आदि अनेक विषयों के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है ।

भोज समरांगण-सूत्राधार (पूर्व मध्यकाल)

इस शिल्पशास्त्र संबंधी ग्रंथ की रचना राजभोज द्वारा की गयी थी । यह भी पूर्व मध्यकाल का ग्रंथ है । राजा भोज का उनके विधानानुराग के कारण अशोक, चन्द्रगुप्त, विक्रमादित्य, कनिष्क आदि यशस्वी सम्राटों के साथ स्मरण किया जाता है । ये विद्वानों के परम अनुरागी तथा अनेक विषयों के बड़े-बड़े ग्रंथों के निर्माता भी थे । इनके लिखे हुए अब तक 34 ग्रंथ प्राप्त हो चुके हैं । ये ज्योतिष, योगशास्त्र, राजनीति, धर्मशास्त्र, काव्य-शास्त्र, शिल्पशास्त्र, व्याकरण, आयुर्वेद और कोष आदि विषयों पर लिखे गये हैं ।

इन्होंने शिल्प शास्त्र के दो ग्रंथों का निर्माण किया :

(1) समरांगव-सूत्राधार; तथा

(2) युक्तिकल्पतरु ।

पहला ग्रंथ शिल्प-विषयक है, इसके 84 अध्याय हैं । इन 84 अध्यायों की विषय-सामग्री 7 भागों में विभक्त है :

(1) प्राथमिका (2) पुरप्रवेश

(3) भवन-निवेश (4) प्रासाद-निवेश

(5) प्रतिभा-निर्माण (6) यंत्र-घटना; और

(7) चित्रकर्म ।

इस ग्रंथ के चित्रकर्म में चातुर्यता के दर्शन होते हैं । चित्रकर्म को 6 अध्यायों में बांटा गया है :

(1) चित्रोद्देश्य (2) भूमिबंधन

(3) लेप्यकर्मादि (4) अण्डक प्रमाण; एवं

(5) मनोत्पत्ति (6) रसदृष्टि लक्षण ।

बौद्ध सौंदर्य-दर्शन

उपनिषद-युग अत्यंत महत्त्वपूर्ण था । इस समय सामाजिक जीवन अत्यंत सरल, भावुक एवं प्रकृति-प्रेमी था । साहित्य एवं कला दोनों को साथ लेकर इसका विकास हुआ था, किंतु वैदिक धर्म की प्रतिक्रियास्वरूप लोकायत दर्शन को बल मिलने लगा । यज्ञों का आर्थिक मूल्य नष्ट हो जाने से वेद तथा इन्द्र आदि देवताओं पर से जन-समाज की आस्था समाप्त होती जा रही थी । शुष्क क्रिया-काण्डों वाले यज्ञों का तीव्र विरोध होने लगा था और यज्ञों में किये जाने वाले पशु-वध को अधर्म अर्थात् आर्थिक दृष्टि से राष्ट्रघातक माना जाने लगा । इनका कहना था कि "यदि ब्राह्मणों के कथनानुसार यज्ञ में पशु-वध करने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है तो यज्ञकर्त्ता अपने वृद्ध माता-पिता का वध क्यों नहीं कर डालता ?" ये आत्मा व ईश्वर को भी नहीं मानते थे तथा आत्मा के अभाव में परलोक, पुनर्जन्म, धर्म-अधर्म एवं पुण्य-पाप का भी विरोध करते थे । जाति-भेद की भीषणता से भी ये लोग परिचित हो गये थे तथा कहने लगे थे कि ब्राह्मण व चाण्डाल दोनों की नसों में एक ही वर्ण का रक्त प्रवाहित होता है और दोनों देखने में एक समान प्रतीत होते हैं, फिर ऊँच-नीच का भेद मानना निष्प्रयोजन है । समाज की ऐसी विषम परिस्थिति में वेद, यज्ञ तथा वर्ण और जाति-विरोधी अनेक लोकसम्मत एवं यशस्वी तत्त्व-चिंतकों का जन्म हुआ जिनमें कात्यायन, भंखाती गोशाल, काश्यप, बुद्ध व महावीर प्रमुख हैं । इन वेद-विरोधी सिद्धान्तों से कपिल, बुद्ध, महावीर आदि भी प्रभावित हुए थे ।

बौद्ध धर्म भी वैदिक धर्म की प्रतिक्रियास्वरूप उत्पन्न हुआ तथा लोकायत दर्शन का

बौद्ध धर्म भी वैदिक धर्म की प्रतिक्रियास्वरूप उत्पन्न हुआ तथा लोकायत दर्शन का इस पर काफी प्रभाव पड़ा। इस समय वैदिक यज्ञों व जादू-टोनों में जनसाधारण का विश्वास नहीं रह गया था। वैदिक कर्मकाण्ड पर से लोगों की श्रद्धा हटने लगी थी। जैन व बौद्ध धर्म की अहिंसा इसी युग की उपज थी। आर्यों का समाज अब कृषि-प्रधान बन गया था। ये खेती करने लगे थे तथा पशु-पालन से पशुओं का महत्त्व बढ़ गया था। वैदिक जाति-व्यवस्था के कारण शूद्रों को निम्न स्थान प्राप्त था। इसके विपरीत बौद्ध धर्म में जाति को कर्म द्वारा निर्धारित किया गया। बौद्ध धर्म पर लोकायत दर्शन का प्रभाव होने के साथ ही उपनिषदों का भी अत्यधिक प्रभाव था। इसके सिद्धान्त भी उपनिषदों से समानता रखते थे। लोकायत दर्शन के प्रभाव के कारण बौद्ध धर्म आत्मा को नहीं मानता था तथापि पुनर्जन्म को उन्होंने ग्रहण किया। पुनर्जन्म के न मानने से भिक्षुओं के ब्रह्मचर्य आदि नियमों के भंग होने का भय दिखाया गया तथा बुद्ध ने कहा कि यदि पुनर्जन्म ही न रहेगा तो फिर भिक्षुओं को व्रत आदि का फल कैसे मिलेगा ? इस प्रकार बौद्ध धर्म में पुनर्जन्म के प्रतिष्ठापन हेतु प्रतीत्यसमुत्पाद का आविष्कार हुआ। इसी प्रकार ब्राह्मण धर्म के अनुरूप ही कर्म-सिद्धान्त को प्रतिपादित करते हुए यज्ञ आदि की निष्फलता सिद्ध करने तथा नैतिकता के सिद्धान्तों की सुरक्षा के लिए उपनिषदों का यह सिद्धान्त ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया गया। इस प्रकार बौद्ध धर्म एक व्यवहारिक धर्म के रूप में निश्चित हुआ।

सौंदर्य-दर्शन हेतु जब हम बौद्ध दर्शन को टटोलते हैं तो केवल एक ग्रंथ मिलता है-"ललितविस्तर"। इसका प्रथम संस्करण राजेन्द्र लाल मिश्र ने संपादित किया। दूसरा संस्करण जर्मन विद्वान एस॰ लेफमान ने दो भागों में संपादित किया। इन दोनों संस्करणों के समन्वय से तीसरा संस्करण श्री परशुराम शर्मा वैद्य ने संपादित किया जो अधिक परिमार्जित एवं प्रामाणिक है।

यह ग्रंथ 27 अध्यायों (परिवृत्तों) में विभाजित है। इस ग्रंथ में दो प्रकार की कलाओं का उल्लेख देखने को मिलता है-प्रथम प्रकार की कलाएँ वे थीं जो कुमार सिद्धार्थ को सिखायी गयी थीं तथा दूसरे प्रकार की कलायें वे थीं जिनका संबंध कामशास्त्र से था। 'ललितविस्तर' के 'शिल्प संदर्शन' नामक 12वें परिवृत्त में राजकुमार सिद्धार्थ और शाक्य कन्या यशोधरा के विवाह का प्रसंग वर्णित है जिसमें कलाओं की संज्ञा 89 बताई गयी है। इस ग्रंथ में वर्णित है कि बुद्ध के बड़े होने पर यह घोषित किया जाता है कि वे या तो चक्रवर्ती सम्राट बनेंगे या फिर संन्यासी बनेंगे। इस कारण महाराज शुद्धोधन ने अपने पुरोहित को यशोधरा के पिता दण्डपाणि के पास संबंध तय करने के लिए भेजा। पुरोहित ने दण्डपाणि के समक्ष महाराज का प्रस्ताव रखा, किंतु दण्डपाणि ने प्रत्युत्तर में कहा कि "अपनी कुल मर्यादा के अनुसार अपनी कन्या का मैं अशिल्पज्ञ राजकुमार के साथ विवाह करने में असमर्थ हूँ।" पुरोहित ने दण्डपाणि का यह उत्तर महाराज को सुनाया तो वे भी अंदर ही अंदर कुमार के विवाह हेतु चिंतित रहने लगे। जब कुमार को पिता की इस दुःखद अवस्था की जानकारी हुई तो कुमार ने कहा कि "पिताजी, क्या इस नगरभर में कोई ऐसा व्यक्ति है जो शिल्प प्रतियोगिता में मेरी प्रतिस्पर्धा रख सके ?" फिर कला-कौशल शिल्पज्ञाताओं की एक प्रतियोगिता हुई जिसमें सिद्धार्थ सर्वविजित रहे जिसमें उन्होंने निपुणता प्राप्त की थी। उनकी नामावली "ललितविस्तर" में दी गयी है जिसमें चित्र,

रूप और रूपकर्म एवं चित्रकला से संबद्ध कलाएँ हैं। इन कलाओं का अध्ययन करने पर ऐसा लगता है कि बौद्ध युग में वे लोक-जीवन के साथ घुलमिल गयी थीं।

"ललितविस्तर" के अतिरिक्त भी बौद्धों के पिटकों, जातकों एवं गाथा-विषयक अनेक ग्रंथों में तत्कालीन समाज में प्रचलित जिन मनोरंजन के साधनों का उल्लेख हुआ है, उनमें चित्रकला का भी एक स्थान है। 'विनयपिटक' के एक प्रसंग में बताया गया है कि कौशलराज प्रसेनजित के प्रमोद-उद्यान के एक भाग में मनोरम चित्रागार की स्थापना की गयी थी। कुछ बौद्ध ग्रंथों से हमें यह ज्ञात होता है कि उस युग में चित्रकर्म को आजीविका का ही एक साधन माना जाता था। जातक में चित्रकर्म को आजीविका का एक साधन ही माना जाता था। जातक में चित्रकर्म सलित्तक या सक्खरा-खियन-सिप्प, चक्का लगाने की कला का उल्लेख किया गया है। 'धम्मपद' के एक प्रसंग में बताया गया है कि वाराणसी निवासी एक ब्राह्मण इस विद्या में बड़ा ही निपुण था। चक्का चलाकर यह बरगद की पत्तियों पर हाथी-घोड़े आदि जानवरों के चित्र बना देता था तथा बदले में दर्शक उसे भोजन देते थे। जातक ग्रंथों से यह भी ज्ञात होता है कि ओसधि नाम किसी राजकुमार ने अपने सहयोगियों से एक कहापण चंदा एकत्र करके एक भव्य क्रीड़ाशाला का निर्माण करवाया जिसमें दीवारों को चारों ओर से उसने सुंदर-सुंदर चित्रों द्वारा सुसज्जित करवाया। उसी कथा से ज्ञात होता है कि महोसध नामक कुमार ने पालालपुरी में जो महल बनवाया था उसकी साज-सज्जा हेतु उसने पत्थर की बनी हुई सुरम्य स्त्री-मूर्तियाँ, दीवारों पर इन्द्र की क्रीड़ा-भूमि, समुद्र से परिवृत्त सुमेरु पर्वत, महासमुद्र, चारों महाद्वीप, नगाधिराज हिमालय, चंद्र-सूर्य, चतुरमाराजिक और स्वर्ग आदि के उत्कृष्ट चित्र बनवाये थे। इसी प्रकार 'थेर गाथा' में कहा गया है कि बिम्बिसार ने रागुन के राजा तिस्स को बुद्ध भगवान् की जीवनी का एक चित्रफलन्द व स्वर्ण-पत्र पर अंकित भगवान तथागत के जीवनवृत्तों के दृश्य भेंटस्वरूप प्रदान किये थे।

बौद्धकला में चित्र, स्थापत्य और शिल्प की त्रिवेणी का एक साथ दर्शन होता है। असंख्य मठ, संघाराम विहार और चैत्य आज भी बौद्धकला के उज्ज्वल अतीत के साक्षी हैं। चित्रों के समलंकृत गुफा-मण्डपों में तो निर्माता स्थापकों ने अपने जीवन की समस्त साधना को ही रूपायित कर दिया। कलालिप्सु उनका दर्शन करके उनके सौंदर्य-मण्डित स्वरूप में ही डूब जाता है।

बौद्ध धर्म का कला से संबंध कब स्थापित हुआ और वे परिस्थितियाँ एवं उनके प्रभाव के कलात्मक स्वरूप क्या थे इसका पता नहीं चलता, तथापि यह स्पष्टतः देखा जाता है कि प्रारंभ में बौद्ध धर्म के अनुयायियों का दृष्टिकोण कला के प्रति कुछ अच्छा नहीं था। कला को वे विलासिता का द्योतक समझते थे। कला के प्रति इस दृष्टिकोण के बावजूद भी प्राचीन बौद्ध ग्रंथों में हमें चित्रकला के बारे में बहुत रुचिकर बातें देखने को मिलती हैं। डॉ॰ मोतीचन्द्र ने 'बौद्ध धर्म और चित्रकला' शीर्षक नामक अपने लेख में लिखा है कि अशोककालीन स्तम्भ शीर्षों, स्तूपों और वेदिकासूत्रियों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रसार में कला का माध्यम स्वीकार कर लिया था। आगे शुंगयुगीन अर्द्धचित्रों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अपने समन्वयवादी दृष्टिकोण के कारण बौद्ध धर्मानुयायियों ने लोकधर्म से समझौता कर लिया था और कला के माध्यम से वे समाज को यह बताने की चेष्टा

करने लगे थे कि भारत के अनेक धर्म और विश्वास उसी में समाहित हैं । इस प्रकार कलायें लोकजीवन में घुलमिल गयी थीं । जितनी भी भारतीय कलायें हैं, सभी के प्रेरक तत्त्व के रूप में स्वयं बुद्ध का व्यक्तित्व ही रहा है । बुद्ध कला के प्राण हैं । सभी प्राचीन तीर्थ यह प्रमाणित करते हैं कि बुद्ध व जीवन एक ही हैं । व्यक्ति को किस प्रकार जीवन-यापन करना चाहिये; यही कला है । बौद्ध धर्म से प्रेरित सभी कलाएँ इसी कारण लोक-जीवन की झाँकी प्रस्तुत करती थीं-जैसे साँची, भरहुत एवं अमरावती । धर्म से इनका कोई संबंध नहीं है । धर्म का अर्थ बुद्ध ने वास्तविक अर्थ में लेने का प्रयास किया है जिसका आचरण किया जा सके वह धर्म है । लोकजीवन एवं कला तथा बौद्ध धर्म और कला अलग-अलग चीजें नहीं हैं । इनमें अंकित शिल्पों से हम तत्कालीन समाज की झाँकी देख सकते हैं । उन दिनों लोगों का रहन-सहन और पहनावा कैसा था ? वे कैसे मकानों में रहते थे ? राजाओं की शोभा-यात्राओं, युद्धों, राजप्रासादों और किसानों की झोंपड़ियों, सब के दृश्य हमें सांची के अर्द्ध-चित्रों में दिखाई देते हैं । सांची व भरहुत के शिल्पों में यद्यपि भगवान बुद्ध की जीवन-गाथा तथा जातक-कथाओं को अंकित किया गया है तथापि इसे धार्मिक कला की संज्ञा नहीं दी जा सकती । इसके पीछे लोक-कला की परंपरा है । इसका उद्देश्य धर्म का साधना-पक्ष नहीं वरन् जीते-जागते समाज को प्रतिबिम्बित करना है । सांची व भरहुत का शिल्प एक दर्पण है जिसमें हम तत्कालीन समाज की छवि देख सकते हैं । डॉ॰ मोतीचन्द्र ने कहा है कि 'सांची के अर्द्ध चित्रों का विधान ऐसे सुचारू रूप से हुआ है कि प्रस्तर में अंकित कथायें अपने-आप बोलती-सी दिखाई देती हैं । सांची की कला का विषय बौद्ध धर्म है, जातक कथायें हैं, लेकिन विचार करके देखा जाये तो पता चलेगा कि जिस जीवन का चित्रण सांची के उत्कीर्ण चित्रों में हुआ है उसका धर्म के गूढ़ तत्वों से बहुत कम संबंध है ।"

इसी प्रकार मथुरा, अजंता, ऐलोरा, ऐलिफेण्टा आदि भी सौंदर्य की तत्कालीन धारणा का ज्ञान कराते हैं । अजंता के कला-योगियों ने कथावस्तु और विषय तो भगवान् तथागत के जीवन और जातक कथाओं से ही लिए हैं किंतु उन्हें किसी धर्म-विशेष की सीमा में बांधकर नहीं रखा । इनमें सैकड़ों वर्षो का लोक-जीवन दर्पण की भाँति प्रतिबिम्बित होता है । बुद्ध की स्वयं की प्रतिमाएँ तीन भारतीय आधारों-चक्रवर्ती, योगी एवं महापुरुष के आधार पर बनी हैं । बौद्ध दर्शन ही ऐसा दर्शन है जिसमें सौंदर्य, कला एवं धर्म का समन्वय मिलता है । इसके पीछे जो दर्शन था वही सामान्यतः बौद्ध धर्म की सौंदर्य चेतना है । इसी प्रकार अजंता के चित्र भी हमें बौद्ध धर्म की सौंदर्य चेतना का ज्ञान करवाते हैं । अजंता की विशेषता विषयों का चयन नहीं है । विषय तो वही हैं जिन्हें मूर्तिकार भरहुत, सांची व अमरावती आदि में आँक चुके थे । अजंता की विशेषता उन चित्रों की सजीवता और प्राणमयता है । चित्रकार भिन्न-भिन्न स्थितियों में भिन्न-भिन्न पात्रों के मुखों पर जो भाव आँक देता है या हाथों आदि की मुद्राओं से जो भावाभिव्यक्ति करता है वही अजंता की कला का प्राण है । कलाकार की सफलता इसमें निहित नहीं है कि वह क्या आँकता है वरन् इसमें है कि वह जिस रस का अंकन करता है, उसका पूर्ण परिपाक कर सकता है या नहीं । अजंता के कलाकार ने महायोगी व विलासी दोनों का चित्रण किया है तथा उसमें पूरी तरह से सफल हुआ है । महाजनक जातक में त्याग और राग का संघर्ष है तथा विरक्ति की विजय है । अजंता का कलाकार, जो वस्तुतः कलाकार है; दोनों

वृत्तियों और उनके तदनुरूप वातावरण का बड़ी सफलता से चित्रण करता है। इसी प्रकार पहली गुफा में बोधिसत्व पद्मपाणि है जिसमें विश्व-करुणा एवं चिंतन साकार हो गये हैं। आत्मा का सौंदर्य एवं दिव्य रूप दोनों के समन्वय ने उनके मुख पर एक ऐसा अलौकिक तत्त्व ला दिया है जिसे केवल अनिमेष नेत्रों से देखा ही जा सकता है। चित्रकार उन वस्तुओं को अंकित करता है जिन्हें वह लोक में प्रचलित देखता है। गुप्त युग में आभूषण बनाने की कला कितनी अधिक उन्नत थी इसकी कल्पना बोधिसत्व पद्मपाणि के मुकुट से की जा सकती है। अजंता के चित्रों में मनुष्यों, देवगणों, गन्धर्व व यक्ष आदि को विभिन्न रंगों में अंकित देखकर दर्शक को विचित्रता व अस्वाभाविकता लग सकती है, किंतु यह समस्त शिल्प-शास्त्र के नियमों पर आधारित है। विष्णु धर्मोत्तर पुराण बौद्ध ग्रंथ नहीं है, वह विष्णु पुराण का ही एक खंड है किंतु इसमें वर्णित नियमों का पालन बौद्ध कलाकारों ने भी किया है। इसमें विभिन्न वर्णों के लोगों हेतु भी विभिन्न रंगों का निर्देश किया गया है। किस भावना या व्यक्तित्व की किस रंग द्वारा अधिक सफल अभिव्यक्ति हो सकती है; इसका ध्यान रखकर ही प्राचीन भारत के शिल्पाचार्यों ने इन ग्रंथों का प्रणयन किया था। चित्र-विधान की दृष्टि से भी प्रत्येक चित्र में छः गुण होने चाहिये जिनका उल्लेख वात्स्यायन ने अपने कामसूत्र में किया था। चित्रकार सृष्टा होता है। नियंता की सृष्टि में हमें असंख्य प्राणियों में से सभी में कुछ न कुछ अंतर महसूस होता है। इसी प्रकार चित्रकार भी अनेक रूप आंकता है। वह उनमें आकार-प्रकार का भेद रखता है। इसके साथ ही परिमाण भी आवश्यक है। भाव का चित्र में वही स्थान है जो शरीर में आत्मा का। पाश्चात्य कलाकार सदृश्यवादी हैं। भारतीय कलाकार पात्र के व्यक्तित्व का अध्ययन करके व्यक्ति की परिस्थिति, मनोदशा और विचार सब कुछ अपने समक्ष रखकर चित्रांकन करता है। उसकी अन्तर्दृष्टि आत्मा को देखते हुए सादृश्य की उपेक्षा नहीं करती। भारतीय कला में इन दोनों तत्त्वों का ही समावेश होता है तथापि भाव-पक्ष प्रबल रहता है। चित्र में लावण्य-योजना भी आवश्यक है। यदि उसमें सौंदर्य और लालित्य न रहा तो फिर आकर्षण कैसा ? चित्र में लुनाई भरने के लिए कभी-कभी मुद्राओं और अंगों का भी सहारा लिया जाता है। लावण्य से रस का सृजन होता है साथ ही चित्र में एक आभा भर जाती है। वर्णिका-भंग से रंगों की योजना का अभिप्राय है। प्रत्येक रंग मन पर पृथक्-पृथक् प्रभाव डालता है। रंगों से ही वातावरण बनता है। किस स्थान पर, किस वातावरण की सृष्टि के लिए कौनसे रंग का प्रयोग करना चाहिये, रंग के मनोविज्ञान से परिचित होकर ही चित्रकार किसी चित्र का सफल अंकन करने में सफल हो पाता है। अजंता के चित्र इन सब कसौटियों पर खरे उतरते हैं। अजंता की चित्रशैली में कलाकार जिस व्यक्ति को प्रधानता देना चाहता है, उसकी आकृति अपेक्षाकृत बड़ी बनाता है। बुद्ध इस विश्व के ही व्यक्ति थे तथापि जनसाधारण से अलग दिखाने हेतु, उनका आकार साधारण से बड़ा अंकित किया गया है। उदाहरणार्थ, माता व पुत्र नामक चित्र में (जिसे बुद्ध का प्रत्यागमन भी कहा जाता है) उनका विशाल आकार उनके व्यक्तित्व की महानता का द्योतक है।

इस प्रकार हम अजंता के गुहा मंदिरों में बौद्ध धर्म की सौंदर्य-चेतना को समन्वित देखते हैं। डॉ॰ मोतीचन्द्र ने लिखा है कि 'इन भित्तिचित्रों से भारतीय कला का एक नवीन आदर्श स्थापित होता है जिसमें सादृश्यता, भाव-गाम्भीर्य, लावण्य और भावाभिव्यक्ति का अपूर्व सामंजस्य है।"

□□□

अध्याय 2

रस–सिद्धान्त

भारतीय सौंदर्यशास्त्र का वास्तविक एवं विकसित रूप काव्य-शास्त्र में ही उपलब्ध होता है। यद्यपि यह सौंदर्यशास्त्र की एक स्वतंत्र शाखा के रूप में प्रतिष्ठित नहीं हुआ तथापि सौंदर्य के मूल तत्त्वों, विविध पक्षों एवं अंगों का विवेचन एवं विश्लेषण अत्यंत सूक्ष्म तथा गहन स्तर पर किया गया है।

प्राचीन काव्यशास्त्र में पाँच प्रमुख संप्रदाय रहे हैं :

1. रस सिद्धान्त,
2. ध्वनि सिद्धान्त,
3. अलंकार सिद्धान्त,
4. रीति सिद्धान्त; एवं
5. औचित्य सिद्धान्त,

(1) रस सिद्धान्त

'रस' शब्द की व्युत्पत्ति, विकास एवं शास्त्रीय रूप

'रस' शब्द भारतीय साहित्य का अत्यंत महत्त्वपूर्ण एवं प्राचीन शब्द है जिसका उल्लेख भारतीय वाङमयों में मिलता है। वर्तमान में इस सिद्धान्त का प्राचीनतम प्रतिपादक ग्रंथ भरतकृत नाट्यशास्त्र उपलब्ध है, किंतु इसके पूर्व भी इसके विवेचन की स्वस्थ परपंरा रही थी जिसका साक्ष्य नाट्यशास्त्र के आनुवंश्य श्लोकों में है। सामान्य व्यवहार में इस शब्द का प्रयोग चार अर्थों में होता है :

1. पदार्थों का रस-अम्ल, तिक्त, कषाय आदि,
2. आयुर्वेद का रस,
3. साहित्य का रस; तथा
4. मोक्ष या मुक्ति का रस।

प्राकृतिक रस में रस का अर्थ है-पदार्थ को निचोड़कर निकाला हुआ द्रव, जिसमें

किसी न किसी प्रकार का स्वाद होता है। इस प्रसंग में रस का प्रयोग पदार्थ सार एवं आस्वाद दोनों अर्थों में होता है। पदार्थ का सार भी रस है और उसका आस्वाद भी रस है। आगे चलकर ये दोनों अर्थ ही स्वतंत्र रूप में विकसित हो गये। आयुर्वेद में रस का अर्थ है-पारद। यह प्राकृतिक रस का ही अर्थ विकास है। यहाँ पदार्थ सार तो स्वीकारा गया है किंतु उसके साथ उसके आस्वाद के स्थान पर गुण (शक्ति) का ग्रहण किया जाता है। पदार्थ रस आस्वाद-प्रधान है जबकि आयुर्वेद का रस शक्ति-प्रधान है। आयुर्वेद में रस का एक अन्य अर्थ भी है - देह धातु, अर्थात् शरीर में अन्तर्भूत ग्रंथियों का रस जिस पर शरीर का विकास निर्भर करता है। तीसरा प्रयोग साहित्य का है जहाँ रस का अर्थ काव्य-सौंदर्य, काव्यास्वाद एवं काव्यानंद है। मोक्ष रस या आत्मरस ब्रह्मानंद या आत्मानंद का वाचक है और भक्ति-रस का अर्थ भी यही है।

इन सभी में आस्वाद के अन्तर्भाव को ही प्रमुखता दी गयी है चाहे उसे ज्ञानेन्द्रिय रसना के माध्यम से ग्रहण किया जाये अथवा सूक्ष्मेन्द्रिय मन से। मस्तिष्क हो या आत्मा, द्रवत्व और सार अथवा प्राण तत्त्व का भाव भी किसी न किसी रूप में सर्वत्र मिलता है। इस शब्द का पहला अर्थ वेदों में स्पष्ट रूप से मिलता है। वेदों में रस का प्रयोग वनस्पतियों के द्रव के लिए हुआ था। इसके बाद यह सोमरस, आनंद, चमत्कार एवं तन्मयता का वाचक बना। वेदों में इसे वाक्य-रस या काव्य-रस का भी आवरण दिया गया, किंतु वहाँ यह शास्त्रीय रूप में प्रयुक्त न होकर व्यवहारिक रूप में ही उपस्थित हुआ है।

उपनिषद्काल में जहाँ वेदों की अनेक भौतिक संकल्पनाओं को सूक्ष्म आध्यात्मिक रूप दिया गया, वहीं रस का भी आध्यात्मिक रूपान्तर हुआ। उपनिषद की प्रवृत्ति वेदों की अपेक्षा एकांत अंतर्मुखी है। रस के अर्थ में भी सूक्ष्म तत्त्वों का समावेश हो गया और इसे ब्रह्मानंद व आत्मानंद का वाहक बनाया। वृहदारण्यक उपनिषद में 'प्राणो वा अंगानां रसः' कहकर रस को सारभूत तत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया। तैत्तिरीय उपनिषद में स्वयं ब्रह्मा को ही रस रूप कहा गया है। छान्दोग्योपनिषद में रस के 8 प्रकारों का उल्लेख करते हुए क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म होने की संपूर्ण प्रक्रिया का विवेचन किया है। "इन भूतों का रस पृथ्वी है पृथ्वी का रस जल है, जल का रस उस पर निर्भर रहने वाली औषधियाँ हैं। औषधियों का रस पुरुष है, पुरुष का रस वाणी है, वाणी का रस ऋचा है, ऋचा का रस साम है, साम का रस उद्गीथ है।" उपनिषदों के साथ ही रस संज्ञा का प्रवेश दर्शनशास्त्र के अंतर्गत हुआ। उपनिषद में रस का प्रयोग द्रव के अर्थ में तो इतना नहीं है जितना द्रव की पोषक-शक्ति व आस्वाद-द्रव से प्राप्त ऊर्जा व आल्हाद के अर्थ में अनेक संदर्भों में मिलता है। द्रव के लिए गुण और गुण के लिए द्रववाचक शब्द के लाक्षणिक प्रयोग के नियमानुसार लक्षणा के द्वारा आस्वाद एवं ऊर्जा आदि के अर्थ में रस का विकास हो गया। सोमरस के प्रचार से रस शब्द के अर्थ में आनंद, मस्ती व तन्मयता 'चमत्कार' आदि का समावेश हो गया। प्रत्येक रस या उसका आस्वाद आनंदप्रद नहीं होता किंतु सोमरस के प्रभाव से रस आनंद, तन्मयता एवं चमत्कार आदि का वाचक बन गया। सांख्यशास्त्र की विषय-पद्धति में पंच महाभूतों की प्रकृति पर विचार करते हुए सांख्य ने ज्ञात-निरपेक्ष वस्तुमात्र के लिए इस संज्ञा का प्रयोग किया।

इसके बाद रामायण काल आता है। ब्लूमफील्ड एवं मोनियर विलियम्स के प्रमाणों

के आधार पर यह कहा जाता है कि रामायण व महाभारत में रस शब्द के अर्थ में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। महाभारत काल के पश्चात् सूत्रकाल आता है जिसमें मूल दर्शनों की रचना तथा बौद्ध व जैन दर्शनों का प्रथम आविर्भाव हुआ। इसी युग में वैयाकरण पाणिनि और उनके प्राचीन भाष्यकार हुए, कौटिल्य का अर्थशास्त्र एवं वात्स्यायन का कामसूत्र लिखा गया। इनमें से अधिकांश ग्रंथों में रस का विशेष अर्थ विकास नहीं हुआ। कामसूत्र में यह रति, प्रीति, राग, वेग आदि का बोधक बना। कामसूत्र की रचना के आस-पास जो भरत के नाट्यशास्त्र के बहुत पहले की है; रस के शास्त्रीय अर्थ का आविर्भाव हो चुका था। इस प्रकार रस शब्द के अर्थ-विकास की यात्रा मूर्त से अमूर्त की ओर अग्रसर होती रही तथा अन्ततः भरत के नाट्यशास्त्र में यह शास्त्रीय अर्थ का वाचक बना। भरत द्वारा प्रतिपादित रस-सिद्धान्त इतना सांगोपांग व परिपूर्ण है कि स्वयं भरत ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों का उल्लेख एवं आनुवंश्य श्लोकों में उनके मन्तव्य का प्रयोग अत्यन्त प्रचुरता से किया है। इस आधार पर रस की शास्त्रीय परंपरा भरत से लगभग दो सदी पूर्व चली जाती है।

भरत मुनि : रस-सिद्धान्त

रस-सिद्धान्त के प्रवर्त्तक आचार्य भरत मुनि माने जाते हैं। भरत का 'नाट्यशास्त्र' पूर्वाचार्यों की रस-विषयक उपलब्धियों को अपने में संजोये हुए है। भरत ने रस को अथर्ववेद से गृहीत माना है। प्रत्येक अवधारणा के मूल उत्स को वेदों से संबद्ध करने की भारतीय विशेष परंपरा रही है। भरत ने दुहिण, सदाशिव, ब्रह्मा आदि भरतवृद्ध; तण्डु, नंदि, नन्दिकेश्वर, वासुकि, शिलालिन् दत्रिल, कृशाश्व, वात्स्य व्यास आदि नाट्याचार्यों एवं रसाचार्यों के नाम लिए हैं। भरत ने 'नाट्यशास्त्र' के षष्ठ एवं सप्तम् अध्यायों में रस का सांगोपांग वर्णन किया है। ये नाटक को वाङ्मय का श्रेष्ठ रूप मानकर उसका प्राण रस को स्वीकारते हैं। इनके अनुसार कोई भी नाट्यांग रस के बिना नहीं चल सकता। 'नाट्यशास्त्र' में रस के अवयव, रस की प्रक्रिया, रस-संख्या, रस के अधिकारी, रस का स्वरूप एवं रसों के पारस्परिक संबंध, वर्ण एवं देवता का विशद् विवेचन है। रस के वर्णों का विवेचन करते हुए भरत ने कहा था कि श्रृंगार का श्याम, हास्य का श्वेत, करुण का कपोत, रौद्र का रक्त, वीर का गौर, भयानक का काला, वीभत्स का नील एवं अद्‌भुत का पीला रंग होता है। श्रृंगार के देवता विष्णु, हास्य के प्रथम, रौद्र के रूद्र, करुण के भय, वीभत्स के महाकाल, भयानक के काल, वीर के महेन्द्र व अद्‌भुत के ब्रह्म हैं।

भरत ने मुख्यतः यह विवेचन नाट्य रस के रूप में किया है तथा वे यह भी स्वीकार करते है कि नाट्य की परिणति रस है। उन्होंने रस को काव्य या नाटक का सारभूत तत्त्व माना है तथा इसी के आधार पर परवर्ती आचार्यों ने इसे काव्य की आत्मा कहा। नाट्यशास्त्र में इन्होंने नाट्य के व्याज से नृत्य, संगीत, मण्डप, रचना, चित्र आदि कलाओं की विस्तृत विवेचना की है उससे प्रतीत होता है कि भरत ने संपूर्ण कलाओं के संदर्भ में रस निरूपण किया है।

भरत से पूर्व रस की दो परंपराएँ थीं-एक तो दुहिण की थी जो आठ रस मानते थे तथा दूसरी वासुकि की जो शांत नामक एक नवम् रस भी मानते थे। भरत ने दुहिण द्वारा

समर्थित आठ रसों को मान्यता देकर 8 स्थायी, 33 व्यभिचारी एवं 8 सात्विक भावों का निरूपण किया है । इन्होंने अन्य भावों के साथ स्थायी भाव का संबंध राजा व उसके सहचरों जैसा माना है । कवि के आतंरिक भावों या मानसिक आवेगों को भाव कहा है । भरत के अनुसार वाचिक, आंगिक एवं सात्विक अभिनयों द्वारा सामाजिक हृदय में काव्यार्थ का भावन कराने वाले को भाव कहते हैं । भरत ने विभाव को रस का कारण मानकर नाट्य में वाचिक, आंशिक तथा सात्विक अभिनय का विशेषतः ज्ञान कराने वाले तत्व को विभाव कहा है । इन्होंने सात्विक भावों को भी भाव की संज्ञा दी है ।

भरत ने रस की ऐसी परिभाषा दी जो काल के प्रवाह की गति को तोड़कर आज भी उसी रूप में सम्मानित है । जिस प्रकार भांति-भांति के व्यंजनों से संस्कृत अन्न को खाने वाले व्यक्ति अन्न रस का आस्वादन करते हैं, उसी प्रकार नाना भाँति के भावों एवं अभिनयों द्वारा किये गये वाचिक, आंगिक तथा सात्विक अभिनयों से युक्त स्थायी भावों का सामाजिक आनंद प्राप्त करते हैं । इन्होंने रसास्वाद को लौकिक स्वाद के अनुरूप मानकर उसकी तुलना व्यंजना के आस्वाद से की है । भरत का रस-निरूपण दर्शन-निरपेक्ष एवं व्यावहारिक भित्ति पर आधारित है । रस के विभिन्न अंगों का विवेचन आधुनिक मनोविज्ञान की प्रक्रिया से साम्य रखता है । इनकी रस-मीमांसा दार्शनिक न होकर नीतिशास्त्रीय सिद्धान्तों के अनुकूल है और उसमें लौकिकता एवं सामाजिकता के बीज विद्यमान हैं । इनके विवेचन में दार्शनिक पूर्वाग्रह दिखाई नहीं पड़ता, जबकि परवर्ती रस-मीमांसा दार्शनिक मान्यताओं पर ही आधारित रही । इन्होंने पाक-रस के समान नाट्य रस की व्याख्या कर वस्तुवादी दृष्टिकोण अपनाया है ।

रस के संपूर्ण विवेचन का आधार भरत मुनि द्वारा प्रतिपादित यह सूत्र है :

'तत्र विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः ।'

अर्थात् विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भावों के संयोग से रस-निष्पत्ति होती है । इस सूत्र में मूलतः रस की निष्पत्ति का आख्यान है स्वरूप का नहीं । तथापि उसके स्वरूप का विवेचन भी इसी में निहित है और आगे चलकर इसी के आधार पर इसके स्वरूप का पल्लवन हुआ । किंतु उनका यह रस संबंधी सूत्र कुछ ऐसा अस्पष्ट है कि उसके वास्तविक आकार के संबंध में कोई भी कल्पना नहीं की जा सकती । इस सूत्र को समझने के पहले भाव, विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों को समझना आवश्यक है क्योंकि रस के मूल आधार स्थायी भाव हैं और विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव स्थायी भाव को रस की अवस्था तक पहुँचाने में सहायक होते हैं ।

(1) भाव

मन के विचारों को भाव कहते हैं । ये वाणी, अंग रचना एवं अनुभूति के द्वारा काव्यार्थों का भावन कराते हैं, इसलिए इन्हें भाव कहते हैं । भाव रस से स्वतंत्र नहीं है तथा न ही भावों के बिना रस की स्थिति है । ये एक दूसरे को प्रकाशित करते हैं । ये स्थायी भाव विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों द्वारा उद्दीप्त होकर रस रूप में परिणत होते हैं । भावों के दो प्रकार बताये गये हैं :

(अ) स्थायी भाव

सहृदय के अन्तःकरण में जो मनोविकार वासना या संस्कार रूप में सदैव विद्यमान रहते हैं तथा जिन्हें अन्य कोई भी विरोधी या अविरोधी भाव दबा नहीं सकता, स्थायी भाव कहलाते हैं। स्थायी भाव रस का मूल हैं। साहित्य दर्पण-कार आचार्य विश्वनाथ ने स्थायी भावों को रसरूप अंकुर का कंद कहा है क्योंकि स्थायी भाव ही वृक्ष के बीज के समान अंकुरित होकर रस-रूप में परिणत होता है। स्थायी भाव चित्त में चिरकाल तक चंचल होकर निवास करते हैं। स्थायी भाव मानसचित्त की वासना या संस्कार है। ये सब मनुष्यों में होते हैं तथा उसी प्रकार छिपे रहते हैं जैसे मिट्टी की गंध। जो अव्यक्त रूप से मिट्टी में विद्यमान थी; व्यक्त हो जाती है, उसी प्रकार सहृदय के चित्त की वासना या संस्कार-रूप स्थायी भाव भी विभाव, अनुभाव आदि बाह्य कारणों से जागृत हो जाता है। स्थायी भावों को कोई भी अन्य भाव तिरोभाव करने में समर्थ नहीं होता। स्थायी भाव अन्य भावों को भी स्वयं में लीन कर लेता है। स्थायी भावों की संख्या भरत ने आठ मानी है :

1.	रति	–	श्रृंगार
2.	हास	–	हास्य
3.	शोक	–	करुण
4.	उत्साह	–	वीर
5.	क्रोध	–	रौद्र
6.	भय	–	भयानक
7.	जुगुप्सा	–	वीभत्स
8.	विस्मय	–	अद्‌भुत

इन आठ स्थायी भावों के आधार पर ही आठ रस माने हैं। परवर्ती आचार्यों ने नवाँ स्थायी भाव निर्वेद माना तथा उससे संबंधित नवें शांत रस की स्थापना की।

(ब) संचारी या व्यभिचारी भाव

जो भाव हमारे हृदय में नित्य विद्यमान रहते हैं अर्थात् स्थायी रूप से निवास करते हैं, उन्हें स्थायी भाव कहा जाता है। परंतु कुछ भाव ऐसे होते हैं जो केवल थोड़ी देर के लिए ही स्थायी भाव को पुष्ट करके सहायक के रूप से आते हैं तथा तुरंत लुप्त भी हो जाते हैं। ये संचारी भाव हैं। संचारी शब्द का अर्थ है-साथ-साथ चलना अर्थात् संचरणशील होना। संचारी भाव स्थायी भावों के साथ संचारित होते हैं। एक ही संचारी भाव अनेक स्थायी भावों के साथ हो सकता है, इसलिए उन्हें व्यभिचारी भी कहा जाता था। उदाहरणतः, किसी को अपने प्रति अपशब्द कहते सुनकर क्रोध आता है। यह क्रोध स्थायी भाव है, परंतु जब हमें ज्ञात होता है कि यह व्यक्ति कभी पहले भी हमारा निरादर कर चुका है तो उस पूर्व प्रसंग का 'स्मरण' हमारे क्रोध को पुष्ट करके लुप्त हो जाता है। यहाँ 'स्मरण' संचारी भाव है। भरत ने संचारी भावों की संख्या 33 मानी है।

(2) विभाव

विभाव का अर्थ है-कारण । सहृदय में वासना या संस्कार रूप से मूलतः स्थित भावों को उद्बोधित करने वाले कारण विभाव कहलाते हैं । आचार्य शुक्ल लिखते हैं कि "विभाव अभिप्राय उन वस्तुओं या विषयों के वर्णन से है जिनके प्रति किसी प्रकार का भाव या संवेदना होती है ।" भरत मुनि ने लिखा है कि "विभाव वाणी व अंगों के आश्रित अनेक अर्थों का विभावन अर्थात् अनुभव कराते हैं, अतः इन्हें विभाव की संज्ञा दी गयी । आचार्य विश्वनाथ ने विभावों की परिभाषा देते हुए लिखा है कि लोक या संसार में रति, हास, शोक आदि स्थायी भावों के जो जागृत कराने वाले होते हैं, वे जब काव्य या नाटक में वर्णित होते हैं तो विभाव कहलाते हैं ।"

विभाव के भी दो भेद बताये हैं :

(क) आलंबन विभाव

मानव हृदय में भावनाओं का प्रस्फुटन किसी बाह्य वस्तु-दृश्य तथा किसी परिस्थिति विशेष की कल्पना द्वारा ही होता है, इसी प्रमुख कारण को काव्य में आलंबन कहते हैं । आलंबन विभाव की परिभाषा इस प्रकार दी गयी है कि 'काव्य नाटक आदि में वर्णित जिन पात्रों का आलंबन करके सामाजिक हृदय में स्थित स्थायी भाव रस-रूप में अभिव्यक्त होते हैं, उन्हें आलंबन विभाव कहते हैं । आलंबन विभाव के दो भेद हैं- विषय तथा आश्रय । जिस पात्र के प्रति किसी के भाव जागृत होते हैं वह विषय है । जिस पात्र में भाव जागृत होते हैं वह आश्रय कहलाता है । उदाहरणार्थ, पुष्पवाटिका के प्रसंग में सीता को देखकर, सीता के प्रति राम के हृदय में रति-भाव जागृत होता है । यहाँ सीता आलंबन है, क्योंकि उन्हीं के प्रति राम का रति-भाव जागृत हुआ है । राम यहाँ आश्रय हैं । ये आलंबन व आश्रय सहृदय के स्थायी भावों को रसावस्था तक पहुँचाने के कारण 'आलम्बन विभाव' हैं ।

(ख) उद्दीपन विभाव

स्थायी भाव को जागृत रखने में सहायक-भूत कारण उद्दीपन विभाव कहलाते हैं । आचार्य विश्वनाथ के अनुसार जो रस को उद्दीप्त करके आस्वादन योग्य बनाते हैं तथा इस प्रकार उन्हें रसावस्था तक पहुँचाते हैं, वे उद्दीपन विभाव हैं । उदाहरणार्थ, वीर रस के स्थायी भाव-उत्साह के लिए सामने खड़ा शत्रु आलंबन विभाव है, किंतु शत्रु के साथ सेना, युद्ध के बाजे और शत्रु की दर्पोक्तियाँ, गर्जना-तर्जना, शस्त्र संचालन आदि उद्दीपन विभाव है । उद्दीपन विभाव भी दो प्रकार के हैं - (अ) आलंबनगत अर्थात् आलंबन की उक्तियाँ व चेष्टाएँ; एवं (ब) बाह्य अर्थात् वातावरण से संबधित वस्तुएँ । प्राकृतिक दृश्यों की गणना भी इन्हीं के अंतर्गत होती हैं ।

(3) अनुभाव

रति, शोक, हास आदि स्थायी भावों को प्रकाशित या व्यक्त करने वाली आश्रय की चेष्टाएँ अनुभाव कहलाती हैं । ये चेष्टाएँ भाव-जागृति के उपरांत आश्रय में उत्पन्न होती हैं,

इसीलिए उन्हें 'अनुभाव' अर्थात् जो भावों का अनुगमन करें; कहा जाता है । आचार्य विश्वनाथ ने लिखा है कि "आलंबन उद्दीपन आदि अपने-अपने कारणों से उत्पन्न भावों को बाहर प्रकाशित करने वाले लोक में जो कार्यरूप चेष्टाएँ होती हैं, वे ही काव्य या नाटकादि में निबद्ध होकर अनुभव कहलाती हैं ।' विरह व्याकुल नायक द्वारा सिसकियाँ भरना, मिलन के भावावेश में अश्रु, स्वेद, रोमांच, अनुराग सहित देखना, क्रोध जागृत होने पर शस्त्र-संचालन, कठोर वाणी, आँखों का लाल हो जाना आदि अनुभाव कहे जायेंगे । अनुभाव के चार भेद बताये हैं :

(अ) **आंगिक अनुभाव**-आश्रय की शरीर संबंधी चेष्टाएँ आंगिक अथवा कायिक अनुभाव कहलाती हैं, जैसे, रति भाव के जागृत होने पर भ्रू-विक्षेप, कटाक्ष आदि ।

(ब) **वाचिक अनुभाव**-प्रयत्नपूर्वक किये गये वाग्व्यापार को वाचिक अनुभाव कहते हैं ।

(स) **आहार्य अनुभाव**-आरोपित या कृत्रिम वेष-रचना को आहार्य अनुभाव कहा जाता है ।

(द) **सात्विक अनुभाव**-स्थायी भाव के जागृत होने पर स्वाभाविक अकृत्रिम, अंगविकार को सात्विक अनुभाव कहते हैं । इनके लिए आश्रय को कोई बाह्य चेष्टा नहीं करनी पड़ती इसलिए ये अयत्लज कहे जाते हैं । ये स्वतः प्रादुर्भूत होते हैं इन्हें रोका नहीं जा सकता । इसके आठ भेद हैं-स्तम्भ, कम्प, स्वर भंग, वैवर्ण्य, अश्रु, स्वेद, रोमांच और प्रलय ।

भरत मुनि : रससूत्र की व्याख्या

भरत ने अपने सूत्र की व्याख्या करते हुए स्पष्ट कहा है कि 'जिस प्रकार नाना प्रकार के व्यंजनों, औषधियों तथा द्रव्यों के संयोग से भोज्य रस की निष्पत्ति होती है, जिस प्रकार गुड़ादि द्रव्यों, व्यंजनों तथा औषधियों से 'षाड्वादि' रस बनाते हैं, उसी प्रकार विविध भावों से संयुक्त होकर स्थायी भाव भी नाट्य-रस रूप को प्राप्त करते हैं ।' अर्थात् जब आलंबन, उद्दीपन उचित हों, उनके प्रभाव से आश्रय में आंगिक, वाचिक, सात्विक तथा आहार्य अनुभव प्रकट हों तथा विभिन्न संचारी भाव उस आश्रय के स्थायी भाव को यथोचित् रूप से पुष्ट करते चलें तो उस समय इन सबके संयोग से रस की निष्पत्ति या सिद्धि होती है । उदाहरणार्थ, 'एक कुशल नट और नटी दुष्यन्त व शकुन्तला के रूप में उपस्थित होते हैं । ये पहले तपोवन के रमणीय कुंजों में मिलते हैं (विभाव) । दोनों एक दूसरे के सौंदर्य को देखकर विस्मित हो जाते हैं तथा तृषित उत्सुक नेत्रों से एक-दूसरे को देखते हैं-अनिच्छापूर्वक जाती हुई शकुन्तला चोरी-चोरी एक दृष्टिपात करती है-(अनुभाव) । वियोग में कभी उत्कण्ठा और कभी निराशा से व्यक्त होकर वे एक-दूसरे से मिलने को आतुर हो उठते हैं (व्यभिचारी) । शकुन्तला सौभाग्य से अपनी सखी की सहायता से दुष्यंत पर अपना प्रेम प्रकट करती है । इतने में ही दुष्यंत वहाँ आकर सहसा उपस्थिति हो जाते हैं और इस प्रकार दोनों प्रेमियों का संयोग हो जाता है । जब यह सब

(विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव आदि का संयोग) कविता, संगीत, रंग-वैभव आदि की सहायता से जिन्हें भरत ने नाट्यधर्मी कहा है; रंगमंच पर प्रदर्शित किया जाता है तो सामाजिक के हृदय में वासना रूप में स्थित रति स्थायी भाव जागृत होकर उस चरम सीमा तक उद्दीप्त हो जाता है जहाँ सामाजिक व्यक्ति एवं देशकाल का अंतर भूलकर सामने उपस्थित घटना में तन्मय हो जाता है और चरमावस्था को प्राप्त कर यह भाव उसे एक आनंदमयी चेतना में विभोर कर देता है। यही आनंदमयी चेतना रस है।

भरत के संपूर्ण रस-सिद्धान्त के दो आधारभूत विषय हैं:

(1) नाट्य में रस की निष्पत्ति; तथा

(2) नाट्य रस का सामाजिक द्वारा आस्वाद।

इन दोनों विषयों से संबधित प्रश्न उठते हैं कि "रस कौनसा पदार्थ है अथवा रस को रस क्यों कहा जाता है ?" रस का आस्वाद किस प्रकार होता है। पहले प्रश्न का उत्तर देते हुए भरत ने समझाया कि 'आस्वाद्य होने से अर्थात् जो आस्वाद्य हो, वही रस है। जिस प्रकार नानाविध व्यंजनों से संकृत अन्न का उपयोग करते है तथा हर्षादि का अनुभव करते हैं, इसी प्रकार प्रसन्न प्रेक्षक विविध भावों एवं अभिनयों द्वारा व्यंजित वाचिक, आंगिक तथा सात्विक (मानसिक) अभिनयों से संयुक्त स्थायी भावों का आस्वादन करते हैं तथा हर्षादि को प्राप्त होते हैं इसलिए नाट्य के माध्यम से आस्वादित होने के कारण ये नाट्य-रस कहलाते हैं।' दूसरे प्रश्न के उत्तर में इन्होंने कहा है कि 'जिस प्रकार नाना व्यंजनों, औषधियों और द्रव्यों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है अथवा जिस प्रकार गुण और द्रव्यों, व्यंजनों एवं औषधियों से षट् रस उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार कवि-हृदयगत स्थायी भाव विभिन्न प्रकार के भावों अर्थात् विभावादि के रूप को प्राप्त होने पर ही रसत्व को प्राप्त होते हैं।' भरत ने कहा कि 'आस्वाद्य तथा आस्वाद, इन दोनों पक्षों की संश्लिष्ट संज्ञा नाट्य रस है।' इस प्रकार इन्होंने नाट्य-रस में आस्वाद्य पदार्थ एवं आस्वाद धर्म दोनों का समावेश किया है। प्रश्न यह भी उठता है कि रसानुभूति किसे होती है ? भरत ने इस प्रश्न का उत्तर समुचित रूप से नहीं दिया, केवल थोड़ी-सी व्याख्या करके ही रह गये हैं। भरत का विचार था कि केवल मूल पात्रों को ही रसानुभूति होती है, जबकि रसानुभूति तो प्रेक्षकों को होती है। भरत ने रस के तीन अंग बताये हैं :

(1) ऐतिहासिक पात्र,

(2) अनुकर्त्ता या अभिनेता; तथा

(3) दर्शक।

अब इन तीनों में से सौंदर्यानुभूति दर्शक को होगी। ऐतिहासिक पात्र की अनुभूति भिन्न है। यदि ऐतिहासिक पात्र को ही अनुभूति होती है तो हमें क्या मतलब ? प्रेक्षक नाटक देखने में क्यों रुचि लेगा ? इस प्रश्न का उत्तर बाद के व्याख्याकारों ने दिया।

इस प्रकार भरत के रस-विवेचन की मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं :

(1) रस आस्वाद नहीं आस्वाद्य है अर्थात् अनुभूति नहीं है अनुभूति का विषय है। इस

प्रकार रस विषयिगत न होकर विषयगत है । रस नाटक का अनिवार्य एवं सार तत्त्व है ।

(2) नाट्य रस का आधार 'भोज्य रस' के समान भौतिक है । वह वस्तुतः एक पदार्थ है । विविध भावों से संयुक्त होकर एवं त्रिविध अभिनयों द्वारा व्यंजित स्थायी भाव ही रस में परिवर्तित हो जाता है । जिस प्रकार व्यंजन आदि में संस्कृत अन्न ही भोज्य रस का रूप धारण कर लेता है, उसी प्रकार नाट्य-सामग्री द्वारा प्रस्तुत स्थायी भाव ही नाट्य-रस बन जाता है । यहाँ स्थायी भाव अन्न के समकक्ष है और नाट्य-सामग्री-व्यंजन, औषधि आदि के ।

स्थायी भाव – अन्न ।

नाट्य-सामग्री – व्यंजनादि ।

(3) स्थायी भाव रस नहीं है वरन् रस का आधार है । जैसे अन्न रस नहीं है, किंतु रस का आधार है क्योंकि व्यंजनादि से संस्कृत होकर ही वह रस बनता है, इसी प्रकार नाट्य-सामग्री से संयुक्त होकर स्थायी भाव ही रस बन जाता है । उदाहरणार्थ, रति स्थायी भाव अपने मूलरूप में श्रृंगार रस नहीं है, किंतु नायक-नायिका, संयोग-वियोग, हर्ष-वितर्क, स्मृति-कटाक्ष आदि के प्रसंग में परिबद्ध होकर त्रिविध अभिनयों द्वारा जब वह रंगमंच पर प्रस्तुत किया जाता है, तो श्रृंगार रस का रूप धारण कर लेता है ।

(4) यहाँ स्थायी भाव से अभिप्राय नायक के स्थायी भाव से है, कवि या सहृदय से नहीं । नायक लोक का प्रतिनिधि होता है अतः नायक के स्थायी भाव का अर्थ है-लोक-सामान्य का स्थायी भाव ।

(5) इस प्रकार रस कला का आस्वाद नहीं है स्वयं कला या कलात्मक स्थिति है जो आस्वाद का विषय है ।

(6) सामाजिक इसका आस्वादन रस रूप में नहीं हर्षादि के रूप में करता है ।

(7) हर्षादि के दो अर्थ किये गये हैं :

(क) रसास्वाद केवल आनंदमय ही नहीं होता वरन् विभिन्न स्थायी भावों के अनुसार विभिन्न प्रकार का होता है, एवं

(ख) भरत ने 'आदि' के द्वारा हर्ष-विरोधी अर्थात् कटु अनुभूतियों की व्यंजना नहीं की वरन् कौतूहल आदि की आनंदमयी अनुभूतियों की ओर ही इंगित किया है ।

(8) रस के आस्वाद का अधिकारी सुमनस् प्रेक्षक होता है । आस्वाद के रूप में रस-प्रेक्षक की मनोमय प्रक्रिया है ।

इस प्रकार भरत की रस-विषयक यह परिभाषा विषयगत है । उनका मत निष्पत्तिवाद के नाम से जाना जाता है ।

निष्पत्ति तथा संयोग

भरत के सूत्र में संयोग तथा निष्पत्ति शब्दों का अर्थ अस्पष्ट है और इन्हीं को लेकर परवर्ती आचार्यों में गहन विवाद भी हुआ है। भरत का निष्पत्ति से क्या अभिप्राय है और वह किस प्रकार होती है; इसका विवेचन उन्होंने सम्यक् रूप से नहीं किया है। उन्होंने निष्पत्ति की व्याख्या इस प्रकार की है :

'जिस प्रकार नाना व्यंजनों, औषधियों तथा द्रव्यों के संयोग से भोज्य रस की निष्पत्ति होती है, जिस प्रकार गुड़ादि द्रव्यों, व्यंजनों एवं औषधियों से षाड्वादि रस बनते हैं, उसी प्रकार विविध भावों से संयुक्त होकर स्थायी भाव भी नाट्य-रस रूप को प्राप्त करते हैं।'

इनके आधार पर निष्पत्ति का अर्थ है-बनना या होना, स्वरूप को प्राप्त होना। निष्पत्ति का शाब्दिक अर्थ है-निस्+पद गतौ+क्तिन-अर्थात् निरेशष रूप से स्थिति प्राप्त करने का भाव।

आगे संयोग शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए भरत ने लिखा है कि 'जिस प्रकार नानाविध व्यंजनों से संकृत अन्न का उपयोग करते हुए प्रसन्नचित्त पुरुष रसों का आस्वादन करते हैं और हर्षादि का अनुभव करते हैं, इसी प्रकार प्रसन्न प्रेक्षक विविध भावों एवं अभिनयों द्वारा व्यंजित-वाचिक, आंगिक एवं सात्विक अभिनयों से संयुक्त स्थायी भावों का आस्वादन करते हैं तथा हर्षादि को प्राप्त होते हैं।'

यहाँ संयोग का अर्थ है- 'स्थायी भावों के साथ सम्यक् योग संगम, उदाहरणतः, 'उपगत' व 'उपेत' शब्दों से भी इसी अर्थ संबंध को विस्तार से बताया है तथा भौतिक उदाहरण से साम्य दिखाया है :

नाट्य-रस	=	भोज्य रस (षाड्वादि)
स्थायी भाव	=	अन्न
विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी	=	द्रव्य, व्यंजन, औषधि।

जिस प्रकार द्रव्य, व्यंजन, औषधि आदि का अन्न के साथ संयोग होने से षाड्वादि अर्थात् भोज्य रस बनते हैं, उसी प्रकार विभाव, अनुभाव व व्यभिचारी भावों का स्थायी भाव के साथ संयोग होने से नाट्य रस बनते या सिद्ध होते हैं। इस प्रकार रस-सूत्र का स्वयं भरत के मतानुसार अर्थ है-विभाव, अनुभाव व व्यभिचारी भावों का स्थायी भाव के साथ संयोग या संसर्ग होने से रस की सिद्धि होती है।' आधारभूत तत्त्व स्थायी भाव है, जब वह विभावादि से संयुक्त हो जाता है तो रस की सिद्धि हो जाती है। संयोग का अर्थ यहाँ संसर्ग है। सिद्धि के दो अर्थ हो सकते हैं :

1. उत्पत्ति या अभाव में भाव की कल्पना अर्थात् पहले वह नहीं थी व बाद में उत्पन्न हो गयी अर्थात्
2. निर्मिति-कोई वस्तु अपने किसी अन्य रूप में रहती है व एक विशेष प्रक्रिया के माध्यम से रूप प्रकट होता है, यह सृजन का गुण है।

भरत द्वारा उत्पत्ति शब्द बारम्बार प्रयुक्त किया गया है तथापि उदाहरण से स्पष्ट है कि वह अभाव में भाव की सृष्टि का वाचक नहीं है । निर्मिति का अर्थ है- विद्यमान उपकरणों के संयोग से नव-रूप-रचना, जो आधारभूत उपकरणों की परिणति होते हुए भी उनसे भिन्न होती है । रस की निष्पत्ति का भरत ने यही अर्थ स्वीकार किया है । रस ऐसा नूतन पदार्थ नहीं है जिसका पहले सर्वथा अभाव रहता हो । विभावादि से उपगत होकर स्थायी भाव ही रस बन जाते हैं । रस स्थायी भाव से भिन्न है जैसे षाड्वादि से भिन्न हैं, परंतु आधार उसका स्थायी ही है जो रस रूप में परिणत हो जाता है । इस प्रकार रस के रूप में किसी नूतन पदार्थ की सृष्टि नहीं होती, विद्यमान स्थायी भाव-रूप पदार्थ ही उन्य उपकरणों के सहयोग से नवीन रूप धारण कर लेता है । निर्मिति का अर्थ नूतन सृष्टि नहीं है वरन् संस्कार आदि क्रियाओं व व्यंजन आदि पदार्थों के संयोग से नवरूप प्राप्ति है । किंतु प्रश्न यह उठता है कि रस निष्पत्ति कहाँ, किसे होती है ? इसमें चार व्यक्ति हैं - नाटककार, मूलपात्र, नट और सहृदय । भरत ने इसका आश्रय नट या रंगमंच माना है क्योंकि विभावादि का संयोग रंगमंच पर होता है । भरत ने रस को आस्वाद्य पदार्थ माना है तथा रस व उसके आस्वाद में अंतर माना है । इस प्रकार नट के अनुभावों द्वारा उपेत् नट द्वारा प्रदर्शित स्थायी भाव ही रस है । यह रस रंगमंच पर स्थित है । इस प्रकार रस एक नाट्यगत निर्मिति या रचना है ।

समाधान न मिलने के कारण परवर्ती आचार्यों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से निष्पत्ति की अलग-अलग व्याख्याएँ कीं । इस संबंध में चार आचार्यों के मत महत्त्वपूर्ण हैं :

1.	भट्ट लोल्लट	:	आरोपवाद
2.	शंकुक	:	अनुमितिवाद
3.	भट्ट नायक	:	मुक्तिवाद
4.	अभिनव-गुप्त	:	अभिव्यक्तिवाद

(1) भट्ट लोल्लट : आरोपवाद या उत्पत्तिवाद

भरत के रस निष्पत्ति संबंधी सूत्र की व्याख्या में लोल्लट ने यह मत प्रतिपादित किया कि संयोग का अर्थ है- कार्य-कारण, भाव एवं निष्पत्ति का अर्थ है- उत्पत्ति या आरोप । लोल्लट ने रस की स्थिति अनुकार्य अर्थात् मूल पात्र में मानी है नट तो उसका प्रदर्शन मात्र करता है । विभाव से रस उत्पन्न होता है । लोल्लट की व्याख्या वेदांत दर्शन का प्रभाव है। वेदांत में कहा गया है कि संसार की सभी वस्तुएँ मिथ्या हैं । ज्ञान चार प्रकार का होता है जिनमें से एक आद्यासिक अर्थात् आरोपित ज्ञान है, जैसे रज्जु को देखकर साँप की प्रतीति होना, शुक्ति को देखकर चाँदी की प्रतीति होना आदि । उस वस्तु के विद्यमान न रहने पर भी उसकी प्रतीति हो, वह आद्यासिक ज्ञान है । जैसे जीवन में आद्यासिक ज्ञान होता है वैसे ही रस का होता है । उदाहरणार्थ, रतिभाव नायिका (आलंबन विभाव) के द्वारा उत्पादित होता है, उपवनादि उद्दीपन विभाव द्वारा उद्दीप्त होता है । आलिंगन, कटाक्षादि अनुभावों द्वारा अनुभूत होता है तथा औत्सुक्यादि संचारियों द्वारा पुष्ट होता है । वही रति भाव रस रूप में उत्पन्न होता है । यह रस नट या सामाजिक के हृदय में निष्फल नहीं होता । राम या दुष्यन्तादि पात्र ही इसका अनुभव

करते हैं। वैसे नट उनकी नकल करता है, उनकी वेशभूषा में आता है, वैसा ही व्यवहार करता है इसलिए सामाजिक इसे राम या दुष्यंत समझ बैठते हैं। उसके अभिनय कौशल से प्रभावित होकर आनंद लेते हैं। यह आनंद अभिनेता में रामादि की समानता पा जाने से ही होता है। रस की प्रतीति सामाजिक को नट-नटी में मूल पात्र रामादि का आरोप करने से हुई। इस प्रकार रस की स्थिति है तो मूल अनुकार्य में परंतु नट-नटी में दर्शकों को रूप की समानता के कारण वह चमत्कार का हेतु बनता है। इस प्रकार लोल्लट ने निष्पत्ति का अर्थ उत्पत्ति लिया है अर्थात् अभाव में भाव की कल्पना। ऐतिहासिक पात्र न होने पर भी सामाजिक को उसकी प्रतीति होती है।

संयोग का अर्थ लोल्लट के अनुसार तीन प्रकार का है :

(अ) **उत्पादोत्पादन संबंध**-विभाव या घटना स्थायी भाव को उत्पन्न करते हैं जिससे रस की उत्पत्ति होती है, अतः विभाव व रस में (मूल दुष्यन्त) उत्पादन-उत्पाद्य (अभिनेता) संबंध है।

(ब) **गम्य-गमक संबंध**-सामाजिक के सामने पात्र अनुभावों (गम्य) द्वारा रसाभिव्यक्ति करते हैं जिनके आधार पर हमें स्थायी (गमक) भाव का ज्ञान होता है। इसे प्रतीति कहते हैं।

(स) **पोष्य-पोषक संबंध**-व्यभिचारी (पोषक) भाव स्थायी (पोष्य) भाव को पुष्ट करते हैं, इसलिए व्यभिचारी भाव तथा स्थायी भाव में पोष्य पोषक संबंध है।

इस प्रकार लोल्लट के अनुसार रस एक लौकिक अनुभव है क्योंकि मूल पात्र उसका अनुभव करते हैं। दूसरे उन्होंने रस को अनुभूति माना है पदार्थ नहीं।

इन पर आक्षेप है कि हमारी अनुभूति की क्या प्रक्रिया है ? रस कहाँ उत्पन्न होता है ? रसानुभूति कैसे होती है ? इन्होंने सामाजिक को अत्यंत गौण स्थान दिया है। इनका कहना है कि सामाजिक चमत्कृत होकर आनंदित तो हो जाता है पर उसे स्वयं भाव की अनुभूति नहीं होती। किंतु यह तो असंभव है कि जिस भाव का सामाजिक को स्वयं अनुभव न हो, उससे वह आनंद उठा सके। इसके विरोध में शंकुक का 'अनुमितिवाद' स्थापित हुआ।

(2) शंकुक : अनुमितिवाद

भट्ट लोल्लट के उत्पत्तिवाद या आरोपवाद का सर्वप्रथम खंडन शंकुक ने करते हुए भरत के रससूत्र की नवीन व्याख्या की और कहा कि रस उत्पन्न नहीं होता, उसकी अनुभूति होती है, अर्थात् निष्पत्ति का अर्थ इन्होंने अनुमिति किया। भट्ट लोल्लट के समान ही इन्होंने भी रस की स्थिति मूल पात्रों में मानी है। लोल्लट के समान ही ये भी रस तथा भाव में कोई अंतर नहीं मानते, क्योंकि मूल पात्रों ने जिस अनुभूति का अनुभव किया वह भाव ही तो है। किंतु बाद में शंकुक यह भी मानते हैं कि रस मूल पात्रों के भाव की अनुकृति है और अनुकरण रूप होने के कारण ही इसे नया नाम रस दे दिया गया है। इनका कहना था कि लोल्लट ने जो नट में दुष्यन्तादि के ओराप में रसास्वाद बताया है, वह ठीक नहीं है क्योंकि जिस व्यक्ति में रति

आदि स्थायी भाव होगा उसी को उद्भूत रति का आस्वाद हो सकता है। जैसे जहाँ धुआँ होगा वहीं अग्नि होगी। उस ऐतिहासिक पात्र या अनुकार्य को हम नहीं जानते। हम केवल कवि की अनुभूति को जानते हैं। मूल पात्र एवं कवि द्वारा वर्णित पात्र में अन्तर होता है और सामाजिक से भी वे भिन्न हैं फिर सामाजिकों को रसास्वाद कैसे हो सकता है। यदि आरोपित ज्ञान मात्र से ही रसानुभव माना जाये तो शृंगारादि रसों के ज्ञान मात्र से, नाम सुनने और अर्थ समझ लेने से ही रसानुभव हो जाना चाहिये। सुख के नाममात्र से सुख भी हो जाना चाहिये, किंतु ऐसा नहीं होता। शंकुक का मत है कि नाटक में जब नट व नटी मूल अनुकार्यों का अभिनय कर रहे होते हैं तो अभिनय की सफलता के कारण सामाजिक या दर्शक नट व नटी आदि को ही मूल अनुकार्य और नट-नटी आदि के रंगमंच पर प्रदर्शित विभावादि को मूल अनुकार्यों के विभावादि समझ लेते हैं। इस प्रकार सामाजिक नट-नटी की अभिनय कला के कौशल से यह स्थायी भाव का अनुमान ही सामाजिकों के मन में रस बन जाता है। इस प्रकार शंकुक के मतानुसार नट-नटी का मूल अनुकार्यों से तादात्म्य और उनके विभाव, अनुभाव, संचारी भाव द्वारा गम्य-गमक या अनुभाव्य-अनुभावक संबंध से रस की अनुमिति होती है।

नटादि में नायकादि (अनुकार्य) की प्रतीति हेतु लोल्लट ने अनुसंधान व्यापार की कल्पना की तथा शंकुक ने चित्र तुरंग न्याय के आधार पर इस प्रतीति अर्थात् अनुमान की संगति स्थापित की है। लौकिक जगत में चार प्रकार के ज्ञान प्रसिद्ध हैं :

1. सम्यक् ज्ञान	:	सत्य को सत्य समझना।
2. मिथ्या ज्ञान	:	जो सत्य है उसे सत्य न समझना।
3. संशय	:	यह सत्य है या नहीं।
4. सादृश्य	:	यह सत्य के समान है।

हमें बोध इन चार आधारों पर होता है किंतु किसी भी कला की प्रतीति या बोध इन चारों आधारों से भिन्न है। नाटक के पात्र को देखकर इन चारों में से हमें किसी भी प्रकार का ज्ञान नहीं होता। इन सबसे भिन्न शंकुक ने 'चित्र-तुरंग-न्याय' की स्थापना की जिसके आधार पर कला की प्रतीति होती है। इनका योगदान अरस्तू के समान ही महत्त्वपूर्ण है। अरस्तू के समान ही इन्होंने भी अनुकरण का अर्थ-विस्तार करके उसमें अनुमान अर्थात् कल्पना के तत्व को स्थान दिया। कल्पनात्मक पुनः सृजन को महत्त्व दिया। जिस प्रकार घोड़े के चित्र को ही घोड़ा कह दिया जाता है और सामाजिक उसे घोड़ा मान लेता है, उसी प्रकार नायकादि के वेश में उपस्थित नटादि को भी सहृदय नायकादि मान लेता है। फिर उस अनुमान किये गये नट में विभावादि के संयोग से नायकादि के भावों की अनुकृति संपन्न होती है अर्थात् अनुमान किये गये नट में रति आदि स्थायी भाव भी अनुमानित कर लिये जाते हैं। यद्यपि अन्य विषयक अनुमान में सुख का अनुभव करने में सुख नहीं मिलता, जैसे ग्रीष्मकालिक पथिक को वृक्ष-छाया का अनुमान कर लेने से उसका ताप नहीं मिट सकता और न ही सुख हो सकता है तथापि काव्य, नाटकों या कला के सौंदर्य के विलक्षण प्रभाव द्वारा अनुमानित आनंद भी सहृदय सामाजिकों की वासना के कारण आस्वादनीय बन जाता है क्योंकि काव्य में विभाव, अनुभाव तथा

व्यभिचारी के संयोग से, गम्य-गमक भाव संबंध से तथा शिक्षित नट के कार्य-कौशल से प्रदर्शित किये जाने के कारण विभावादि कृत्रिम होने पर भी काव्य में कवि के अभीष्ट अर्थ का साक्षात् करने के सामर्थ्य से कृत्रिम नहीं समझे जाते । नटादि के द्वारा नायकादि के भावों की अनुकृति ही रस की निष्पत्ति है । रस की निष्पत्ति का संबंध अनुकृति से है ।

अब प्रश्न सहृदय के आस्वाद का है । सहृदस इस अनृकृति का आस्वाद कैसे करता है ? इस प्रश्न के उत्तर के लिए आस्वाद के साधन के रूप में अनुमिति की प्रतिष्ठा की है । अनुभूति सूक्ष्म एवं अदृश्य है, सहृदय उसे प्रत्यक्ष नहीं देख सकता । जिस प्रकार जीवन में किसी व्यक्ति के क्रियाकलापों से उसके आंतरिक भावों का ज्ञान नहीं होता है, उसी प्रकार नटादि के कार्यों, मुद्राओं एवं शब्दों के द्वारा उनकी अनुभूति का ज्ञान होता है । यह ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं वरन् अनुमान पर आधारित ज्ञान होता है क्योंकि अनुभूति का प्रत्यक्ष ज्ञान संभव नहीं है । इस प्रकार सहृदय को रस रूप अनुकृति की अनुमिति होती है तथा इस अनुमिति से उसे आनंद की प्राप्ति होती है । इस प्रकार निष्पत्ति का अर्थ शंकुक के मतानुसार अनुकृति है तथा संयोग का अर्थ गम्य-गमक या अनुमाप्य-अनुमापक संबंध से मानते हैं । शंकुक ने इस प्रक्रिया को त्रिकोण से समझाने का प्रयास किया है :

(1) अनुकार्य या पात्र,

(2) अभिनेता द्वारा उस स्थायी भाव का अनुकरण,

(3) सहृदय या सामाजिक ।

शंकुक पर आक्षेप लगाये जाते हैं कि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अनुभाव द्वारा रसानुभूति या निष्पत्ति की बात मिथ्या है । अनुमान मिथ्या होता है तथा यह बुद्धि की क्रिया है मन की नहीं । अनुमान से ज्ञान प्राप्त हो सकता है अनुभूति नहीं । रस की प्रतीति मिथ्या ज्ञान के आधार पर असंभव है और जहाँ ऐतिहासिक कथानक नहीं होगा, वहाँ रस का आश्रय कौन होगा ? इन कमियों को भट्ट नायक ने दूर करने का प्रयास किया ।

भट्ट तौत

अभिनव गुप्त के गुरु भट्ट तौत ने शंकुक के अनुमितिवाद का खंडन करते हुए लिखा है, "अनुमान के आधार पर रस निष्पित्ति का कभी विचार ही नहीं हो सकता क्योंकि अनुमान तो हेतु की विशुद्धि पर आश्रित होता है अर्थात् अनुमान के लिए कोई कारण चाहिये । किंतु इस उत्पत्ति के लिए कारण होते हुए भी शास्त्रीय दृष्टि से अनुमान का कोई अस्तित्व नहीं होता । इस मत की सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि अनुमान कभी आनन्ददायक नहीं हो सकता क्योंकि 'मनमोदक नहीं भूख बुझानी ।' चित्र में घोड़ा देखकर और उसे घोड़ा मानकर भी आप उस पर चढ़कर नहीं जा सकते, मोदक का चित्र देखकर आपको उसका स्वाद नहीं आ सकता, अतः कल्पना से आनन्द नहीं मिल सकता ।"

अतः अनुमान से रस कभी उत्पन्न नहीं होता, इसलिए यह सिद्धान्त भी विद्धानों को मान्य नहीं हुआ । वास्तव में शंकुक ने रसास्वादन की व्याख्या में विशेष योग नहीं दिया । भट्ट

लोल्लट की सीधी बात को उन्होंने घुमा-फिराकर कहा और सहानुभूति तत्त्व की उपेक्षा कर अनुमान के सिद्धान्त के आधार पर और भय उत्पन्न कर दिया। इस सिद्धान्त की एक देन मानी जा सकती है वह यह कि इनसे "इस सिद्धान्त को पूर्णतः वस्तुपरक स्थिति से दूर कर व्यक्तिपरक स्थिति की ओर एक कदम आगे बढ़ाया।"

भट्ट नायक : भुक्तिवाद

भट्ट नायक ने गंभीर दार्शनिक आधार पर रस विवेचन का प्रयास किया है। उन्होंने रसास्वाद को ब्रह्मास्वाद सहोदर माना है। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती मतों का खण्डन करते हुए कहा कि रस की न तो प्रतीति होती है, न उत्पत्ति होती है तथा न ही अभिव्यक्ति। अनुभव और स्मृति के अभाव में रस-प्रतीति संभव नहीं है। इनके सिद्धान्त को भुक्तिवाद कहा जाता है किंतु भुक्ति का अर्थ रस का भोग है। भट्ट नायक के अनुसार निष्पत्ति का अर्थ भुक्ति नहीं भाविति है। पहले रस-भावित होता है फिर उसका भोग होता है। इसलिए निष्पत्ति का अर्थ भाविति होना है जो भुक्ति के पहले की अवस्था है। संयोग का अर्थ है-भाव्य भावक संबंध।

सर्वप्रथम भट्ट नायक ने रस की अवस्थिति सामाजिक में मानी। उन्होंने स्थायी भाव से रस बनने तक की प्रक्रिया अर्थात् रस की भाविति में तीन शक्तियों का योग माना है :

1. **अभिधा**-इसके द्वारा सामाजिक काव्य के शब्दार्थ को ग्रहण करता है। सामान्य तथा आलंकारिक अर्थों का ज्ञान होता है।

2. **भावकत्व**-इसके द्वारा विभाव, अनुभाव आदि क्रिया व्यक्ति-विशेष को न होकर साधारण अर्थात् मनुष्य मात्र के अनुभव के योग्य हो जाते हैं। उदाहरणार्थ, दुष्यन्त की पत्नी शकुन्तला उनकी पत्नी न रहकर साधारण रमणी मात्र रह जाती है। नायक नायिका, नट-नटी, दर्शक व उसकी प्रेमिका, सभी का वैयक्तिक तत्त्व तिरोहित हो जाता है। भावकत्व व्यापार की दो विशेषताएँ हैं :

   (1) निज मोह का विनाश; तथा

   (2) विभावादि का साधारणीकरण।

साधारणीकरण का अर्थ है-साधारण करना। इस प्रकार विभावादि के साधारणीकरण का अर्थ हुआ विभावादि को साधारण रूप में प्रस्तुत करना। उनके वैशिष्ट्य का लोप करना। जब कोई व्यक्ति नाटक देखता है तो प्रारंभ में नाटक के पात्र अपने विशिष्ट व्यक्तित्व के साथ उपस्थित होते हैं। वे अपने देश व काल की सीमाओं में ही दिखाई देते हैं और दर्शक को उनके पृथक् अस्तित्व के ज्ञान के साथ-साथ अपनी पृथक् सत्ता का अनुभव भी रहता है। जैसे-जैसे नाटक अग्रसर होता है तो एक ओर तो पात्रों के वैशिष्ट्य का तिरोभाव होने लगता है तथा दूसरी ओर दर्शक को अपने पृथक् सीमित एवं संकुचित व्यक्तित्व का अनुभव नहीं रहता। एक ओर तो विभावादि साधारण होने लगते हैं तथा दूसरी ओर दर्शक के मोह का विनाश होने लगता है। इसी अवस्था को शुक्लजी ने 'स्वार्थ के सीमित घेरे से मुक्ति' या 'हृदय की मुक्तावस्था' कहा है। विभावादि के साधारणीकरण में प्रदर्शित भाव का साधारणीकरण भी अन्तर्निहित है।

साधारणीकृत भाव ही रस है । दर्शक को साधारणीकरण की अवस्था में भी पात्रादि का, स्वयं का तथा प्रदर्शित भावादि का एक विशेष प्रकार का ज्ञान रहता है । यह विशेष प्रकार का ज्ञान ही रस के संदर्भ में रस का भाविति है, इसलिए निष्पत्ति का अर्थ हुआ-भाविति । भाविति के बाद ही रस की भुक्ति होती है । उदात्त एवं स्पृहणीय भावों का ही साधारणीकरण होता है । मानव मन की भी यही विशेषता है चाहे हमारी प्रकृति कैसी भी हो । हमें आनंद की प्राप्ति तो शर्बत पीने से भी होती है किंतु वह उदात्त या स्पृहणीय भावों के अंतर्गत नहीं आती । प्लेटो ने सौंदर्य की परिभाषा दी थी कि जो नेत्र व कानों से प्राप्त होता है वही सौंदर्य है । इसमें खेलकूद आदि भी आ जाते हैं । किंतु भारतीयों ने इसे भिन्न माना है । यह उदात्त भाव से भिन्न सामान्य आनंद है ।

(3) भोजकत्व

यह वह क्रिया है जिसके द्वारा साधारणीकरण भाव का रस-रूप में भोग होता है । इससे रजोगुण व तमोगुण का नाश होकर (दोनों दुःख व मोह के कारण होते हैं) शुद्ध सतोगुण का उद्रेक होने लगता है और चित्तवृत्तियों के शांत हो जाने से वही आनंद का कारण होता है । पाठक या दर्शक आनंद का अनुभव करते हैं और इस प्रकार रस की अभिव्यक्ति नहीं भुक्ति होती है । यहाँ भी विभावादि का दोहरा कार्य है । एक ओर तो ये रस के भावन में साधन होते हैं, रस भाव्य हैं और वे भावन साधन । लेकिन आस्वाद की दृष्टि से रस भोज्य है और विभावादि भोजक । सहृदय विभावादि के द्वारा ही इसका भोग करता है । किंतु रस-भोग के समय दर्शक की अवस्था लौकिक अवस्था नहीं है । उसके सीमित संकुचित व्यक्तित्व का परिहार होकर मोह का विनाश हो चुका होता है तथा चंचलता नष्ट हो जाती है । उसकी वही अवस्था होती है जो मुक्ति के समय जीव की अवस्था होती है । इसलिए जिस प्रकार मुक्ति अवस्था में आत्मा ब्रह्म के आनंद का आस्वाद करती है, उसी प्रकार मोहयुक्त अवस्था में सहृदय रस का लोकोत्तर आस्वाद करता है, इसीलिए रस का यह आस्वाद ब्रह्मास्वाद के समान माना गया है ।

साधारणीकरण का सिद्धान्त भट्ट नायक का अत्यंत महत्त्वपूर्ण योगदान है । साधारणीकरण की व्याख्या द्वारा उन्होंने केवल व्यक्ति की अनुभूति के सामाजिक मात्र की अनुभूति होने की प्रक्रिया का व्याख्यान ही नहीं किया वरन् रस की आनंदरूपता का स्पष्ट विवेचन कर करुणादि रसों की आनंदरूपता भी सिद्ध की । यह उन सब प्रश्नों का उत्तर देता है जो रस-प्रक्रिया में उठाये जाते हैं :

(1) हमें आस्वाद या सौंदर्यानुभूति कैसे होती है ?

(2) जो अनुभूति हमारी नहीं किसी और की है, तो भी वैसी ही अनुभूति हमें कैसे होती है ?

(3) ऐसा क्यों होता है कि हमें सभी भावों से आनंदानुभूति ही होती है ?

अभिनव गुप्त : अभिव्यक्तिवाद

अभिनव गुप्त ने वेदांत के आधार पर अभिव्यक्तिवाद का प्रतिपादन किया । इन्होंने

भट्ट नायक की भावकत्व एवं भोजकत्व दो काल्पनिक क्रियाओं का खण्डन कर व्यंजना या ध्वनि को उचित बनाया। इन्होंने कहा कि भावों में भावकत्व का गुण तो रहता ही है। जो काव्यार्थों की भावना का विषय बतायें, वे भाव होते हैं। इसी प्रकार रस में भोग का भाव भी पहले से विद्यमान रहता है। रस वही है जिसका आस्वाद हो सके, योग हो सके। अतः भोजकत्व शक्ति की कल्पना व्यर्थ है। इन्होंने निष्पत्ति का अर्थ किया है-अभिव्यक्ति तथा संयोग का अर्थ है-व्यंग्य-व्यंजक भाव। इसकी निष्पत्ति इन्होंने सामाजिक में मानी है। रस निष्पत्ति की व्याख्या इस प्रकार की है- "प्रत्येक सहृदय के मानस में स्थायी भाव नित्य वासना या संस्कार रूप में ठीक उसी प्रकार छिपे रहते हैं जैसे मिट्टी में सौंधी महक। मिट्टी गीली करने से महक उठती है, वह कहीं बाहर से नहीं आती, न ही पानी उस गंध को उत्पन्न करता है। ठीक इसी प्रकार स्थायी भाव अज्ञान के आवरण में ढँके रहते हैं। जब सहृदय काव्य पढ़ता है या नाटकादि देखता है जो उस काव्य या नाटकादि में वर्णित विभावादि उसके मानस के अव्यक्त भाव को व्यक्त कर देते हैं और वह भाव रस रूप में व्यक्त हो जाता है।" इस प्रकार आत्मानंद के प्रकाश में जब उसका अनुभव होता है तब वे रस कहे जाते हैं अतः वही रसास्वादन है।

इस प्रकार सहृदय ही रसास्वादन कर सकता है क्योंकि इसके लिए पूर्व संस्कार अपेक्षित हैं। मनुष्य सहृदय तीन प्रकार से होता है :

(1) सांसारिक अनुभव से,

(2) पूर्व जन्म के संस्कारों से; तथा

(3) अभ्यास से।

जिस व्यक्ति में इनमें से एक भी गुण नहीं है वह काव्यानंद लेने का अधिकारी नहीं है।

रस का आनंद अलौकिक है इसीलिए उसे ब्रह्म स्वाद सहोदर कहा है। सहृदय आनंदानुभूति करते हैं। इस दशा की तुलना भोगी की दशा में की जा सकती है। दोनों दशाओं में पूर्ण आनंद की प्राप्ति होती है। अभिनव गुप्त की रस संबंधी कल्पना शैव वेदान्त की 'विमर्श' दशा से प्रभावित है जहाँ साधन 'शिवोऽहम्' का अनुभव करता है। इस दशा में पहुँचकर भाव की वैयक्तिकता नष्ट हो जाती है। दुष्यन्त-शकुन्तला, राम-सीता अपने व्यक्तित्व को छोड़कर केवल नायक-नायिका के रूप में हमारे समक्ष आते हैं, साथ ही हम केवल रसानुभवकर्त्ता बन जाते हैं। इस प्रकार विभावादि केवल विषयमात्र तथा सामाजिक केवल विषयी मात्र रह जाता है, इसे ही साधारणीकरण कहा जाता है। निष्पत्ति एवं संयोग शब्द की अभिनव गुप्त द्वारा की गयी व्याख्या ही आज तक निर्दोष एवं मान्य रही है।

□□□

अध्याय 3

भारतीय काव्यशास्त्र के अन्य व्याख्याकार एवं मत

ध्वनि सिद्धान्त : आनंदवर्धन

नौवीं सदी के आरंभ में भारतीय काव्य में एक ऐसे विद्वान् का पदार्पण हुआ जिसने काव्य की प्रचलित भ्रांतियों का समर्थ खण्डन करके व्यापक व शाश्वत काव्य मतों का नितांत मौलिक निरूपण किया। भारतीय काव्य-शास्त्र के इतिहास में भरत मुनि के पश्चात् आनंदवर्धन ही ऐसे श्रेष्ठ आचार्य हुए जिन्होंने अत्यंत मौलिक प्रतिभा का परिचय दिया। इन्होंने एक साथ रस, ध्वनि और औचित्य तीनों आत्मवादी सिद्धान्तों का प्रवर्तन एवं निरूपण किया। ध्वनि सिद्धान्त के प्रवर्तन द्वारा इन्होंने रस-सिद्धान्त का विस्तार किया तथा रस-ध्वनि की स्थापना की। साथ ही औचित्य का निरूपण करके रस व काव्य के विभिन्न अंगों की रसानुकूल संयोजना की मर्यादा समझाई। काव्य सिद्धान्तों का व्यापक एवं गंभीर विवेचन उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'ध्वन्यालोक' में किया। ध्वनि की परिभाषा करते हुए 'ध्वन्यालोक' में कहा है कि "जो चारुत्व अन्य उक्ति से प्रकाशित नहीं किया जा सकता। उसी को प्रकाशित करने वाला व्यंजना व्यापारयुक्त शब्द (वाक्य) ही ध्वनि कहलाता है।" इन्होंने प्रथमतः ध्वनि को काव्य की आत्मा घोषित किया। ध्वनि के दो भेद हैं :

(1) **अमिधामूलक**-सीधे अभिधेय अर्थ से ही व्यंग्यार्थ ध्वनित हो जाता है।

(2) **लक्षणामूलक**- लक्ष्यार्थ से व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है।

एक अन्य वर्गीकरण के अनुसार ध्वनि के तीन भेद हैं :

(1) रस ध्वनि,

(2) अलंकार ध्वनि,

(3) वस्तु-ध्वनि।

इन तीनों में क्रमशः रस, अलंकार और वस्तु (तथ्य या विषय) की व्यंजना होती है। विभावादि के संयोजन से निष्पन्न परिनिष्ठित रूप नाटक में तो विस्तृत अभिव्यक्ति पा सकता है, पर स्फुट मुक्तकों में इसके विकास के लिए पर्याप्त स्थान न होने के कारण उसकी अनिवार्य स्थिति पर संदेह किया जाता रहा था। किंतु आनंदवर्धन ने काव्य-लक्षण निर्माण में उदार होते

हुए भी काव्य की कसौटी रस को ही बताया। सब ध्वनियों में रस-ध्वनि को सर्वश्रेष्ठ मानकर रस-सिद्धान्त की ही प्रतिष्ठा की। रस-ध्वनि की आनंदवर्धन ने जो निर्भ्रांत प्रतिष्ठा की उससे सैकड़ों वर्षों से प्रचलित अलंकारवादी मत खंडित हो गया जो काव्य के अलंकृत होने की कल्पना करता है। भामह ने सभी अलंकारों के मूल में वक्रोक्ति मानी थी। शब्द और अर्थ काव्य पुरुष का शरीर है, रस और भाव उसकी आत्मा, शूरता, दया आदि के समान माधुर्य, ओज और प्रसाद उस काव्य पुरुष के गुण हैं तथा कणत्व, बाधत्व आदि के समान श्रुतिकटुत्व व ग्राम्यत्व आदि दोष हैं, वैदर्भी, पांचाली और गौडी रीतियाँ उसके भिन्न-भिन्न अवयवों के गठन है, आभूषणों की भाँति काव्य के शब्दगत व अर्थगत अलंकार उस काव्य पुरुष की शोभा के विधायक हैं।

इस प्रकार ध्वनिवादियों ने एक ओर तो व्यंजना को ही सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करते हुए व्यंग्यार्थ को काव्य का अनिवार्य तत्त्व माना है, किंतु दूसरी ओर व्यंग्यार्थ के साथ सौंदर्य को भी स्थान दिया है। जिस व्यंग्यार्थ से चारुत्व या सौंदर्य का प्रकाशन होता है, उसी को ध्वनि के अन्तर्गत स्थान दिया है। आनंदवर्धन की परिभाषा के अनुसार चारुत्व के प्रकाशन एवं व्यंजना-व्यापार दोनों को ध्वनि के आधारभूत तत्त्वों के रूप में स्वीकार किया गया है जिनमें प्रथम साध्य है तथा द्वितीय उसका साधन। आगे भी कई प्रसंगों में इन्होंने काव्य के विभिन्न साधनों व अंगों को चारुत्व व सौंदर्य के कारण रूप में उल्लिखित किया है। इस प्रकार ध्वनि-सिद्धान्त भी सौंदर्य को ही काव्य का सर्वोपरि तत्त्व स्वीकार करता हुआ अप्रत्यक्ष रूप में उसे काव्य की आत्मा मान लेता है। ध्वनि संप्रदाय ने रस को सर्वोच्च स्थान देकर उसके साथ समझौता कर लिया। किंतु यह अपने आप में पूर्ण सिद्धान्त नहीं है वरन् रस व अलंकार सिद्धान्त को आधार बनाकर ही आगे बढ़ता है। रस का संबंध काव्य के आधारभूत तत्त्वों से है जबकि ध्वनि केवल एक अभिव्यक्ति प्रणाली है। रस-सिद्धान्त में जहाँ सौंदर्य की सत्ता नितांत रागात्मक मानी गयी है, वहाँ ध्वनि वस्तु ध्वनि और अलंकार ध्वनि को भी मान्यता प्रदान कर सौंदर्य में रागात्मक तत्त्व की एकांत अनिवार्यता को स्वीकार नहीं करता। ध्वनि सिद्धान्त की रस-विषयक धारणा में भाव की अपेक्षा कल्पना का महत्त्व ही अधिक है।

अलंकार सिद्धान्त : आचार्य भामह

इस गवेषणा में विद्वानों की दृष्टि सबसे पहले अलंकार पर गयी। संस्कृत के उक्ति-वैचित्र्यपूर्ण मुक्तक काव्य की ओर इन अलंकारवादियों का ध्यान विशेष केन्द्रित रहा। अलंकार का शाब्दिक अर्थ है-सुशोभित करने वाला, अर्थात् काव्य के शोभाकारक धर्म अलंकार कहे जाते हैं।

नाट्यशास्त्र में भरतमुनि ने उपमा, रूपक, दीपक व यमक का वाचिक अभिनय में विवेचन किया है। भरत ने इनका प्रयोग रसाश्रित ही माना था। किंतु अलंकारों को प्रधानता देकर विधिवत् साहित्य-शास्त्र की रचना 'काव्यालंकार' के रूप में आचार्य भामह ने की। काव्य में सौंदर्य की सृष्टि करने वाले तत्त्व को इन्होंने अलंकार की संज्ञा दी। इन्होंने 'काव्यालंकार' को छः परिच्छेदों में विभाजित किया जिनमें (1) काव्य-शरीर-निर्णय (2) अलंकृति-निर्णय (3) दोष-निर्णय (4) न्याय निर्णय (5) शब्द शुद्धि-पर विचार किया है। भामह ने वक्रोक्ति को ही समस्त अलंकारों का मूल माना है तथा उनकी संख्या 38 बताई है।

स्वीकृति है । कवि को इसी की साधना करनी चाहिये क्योंकि इसके बिना कोई अलंकार नहीं बन सकता । जिस प्रकार आभूषण सौंदर्य-प्रसाधन माने जाते हैं, उसी प्रकार काव्य-शास्त्र में अलंकार कवि-वाणी के सौंदर्य उपकरण है । अलंकार के बिना वाणी या काव्य विधवा स्त्री के समान है । काव्य में आल्हाद या चमत्कार की सृष्टि अलंकार से होती है और रस के अनुभव से भी आल्हाद उत्पन्न होता है इसलिए रस भी अलंकार है ।

भामह के पश्चात् दण्डी ने अलंकारों के विवेचन को और गति एवं समृद्धि प्रदान की । इनका ग्रंथ 'काव्य-दर्शन' है । भामह के अलंकार-विवेचन में संशोधन करते हुए इन्होंने अलंकारों की संख्या 35 तक ही सीमित रखी । अलंकारों के मूल में इन्होंने अतिशयोक्ति मानी । अभिप्राय की दृष्टि से भामह की वक्रोक्ति एवं दण्डी की अतिशयोक्ति एक ही है । दण्डी ने अलंकारों को काव्य-शोभा का उत्पादक माना । इनके अनुसार काव्य का सौंदर्यकारक धर्म ही अलंकार है ।

नौवीं शती में प्रसिद्ध अलंकारवादी आचार्य उद्भट हुए । इनका ग्रंथ 'काव्यालंकार सार-संग्रह' है । इन्होंने भामह का समर्थन करते हुए तथा कुछ नये अलंकार और जोड़कर अलंकारों की संख्या 41 कर दी तथा रसों की संख्या 8 के स्थान पर 9 बताई ।

इसी समय के लगभग रुद्रट ने 'काव्यालंकार' की रचना की जिसमें इन्होंने रस को महत्त्वपूर्ण मानते हुए भी अलंकारों को प्रधानता दी । इन्होंने एक ओर तो अलंकारों का वर्गीकरण किया तथा दूसरी ओर उनकी संख्या 57 के लगभग बताई । रूद्रट से पूर्व अलंकारवादी रस, भाव आदि को भी अलंकार मानते आये थे जिसका इन्होंने विरोध किया ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अलंकार सिद्धान्त के अनुसार अलंकार ही काव्य की आत्मा हैं । इन सभी ने अलंकार को चारुत्व, सौंदर्य या शोभा का साधन माना है । इस प्रकार अलंकार वह तत्त्व है जिससे काव्य में शोभा, चारुत्व या सौंदर्य का संचार होता है । इस प्रकार सौंदर्य साध्य है तथा अलंकार साधन । इससे काव्य में सौंदर्य की अपेक्षा अलंकार की सत्ता गौण सिद्ध होती है । कुछ आचार्यों ने 'सौंदर्यमलंकारा:' कहते हुए सौंदर्य या अलंकार को एक-दूसरे का पर्यायवाची घोषित किया है । वामन के शब्दों में काव्य का मूल आकर्षण अलंकार ही है और अलंकार सौंदर्य का कारण नहीं हो सकता तथा कई बार अलंकारों का प्रयोग सौंदर्य के स्थान पर असौन्दर्य का भी कारण सिद्ध होता है । दूसरे अलंकार को ही सौंदर्य मान लेने पर सहज सौंदर्य की सत्ता लुप्त हो जाती है । इसके अतिरिक्त सौंदर्य केवल अलंकार से ही नहीं वक्रोक्ति, ध्वनि आदि अन्य साधनों से भी संभव है । सारांश यह है कि अलंकारों से काव्य में सौंदर्य उत्पन्न होता है तथा यह सौंदर्य ही पाठक को आल्हाद की अनुभूति प्रदान करता है जिससे रसवादियों के अनुसार रसानुभूति भी कहा जाता है । इस प्रकार अलंकार काव्य के साधन सौंदर्य काव्य की आत्मा तथा आल्हाद या रस काव्य का फल सिद्ध होता है ।

रीति-मत : आचार्य वामन

आचार्य वामन ने कहा है 'रीतिरात्मा काव्यस्य' अर्थात् 'रीति' काव्य की आत्मा है । रीति से तात्पर्य है-रचना की विशिष्ट शैली अथवा पद-रचना । ओज, प्रसाद, श्लेष, समता, समाधि, सुकुमारता, मधुरता, उदारता, अर्थ प्राकट्य एवं कान्ति किसी भी रचना के गुण होते हैं जो रीति के उद्भव में सहायक हैं ।

आचार्य वामन के अनुसार सर्वोत्तम कृति वही है जिसमें उक्त सभी गुण हों तथा जो शब्द तथा अर्थ दोनों में समान रूप से निहित हों । इन गुणों के संयोग से तीन रीतियाँ निर्मित होती हैं :

(1) वैदर्भी,

(2) गौडी; तथा

(3) पांचाली ।

इनमें वैदर्भी रीति सर्वश्रेष्ठ है जिसमें उक्त सभी गुण विद्यमान होते हैं । वैदर्भी रीति में माधुर्य व्यंजक, गौडी रीति में ओजपूर्ण वर्ण तथा शेष बचे वर्णों का प्रयोग पांचाली रीति में होता है । इन तीनों रीतियों में काव्य उसी प्रकार प्रतिष्ठित है जिस प्रकार रेखाओं में चित्र प्रतिष्ठित होता है ।

अपने सिद्धान्त में आचार्य वामन ने अलंकारों के अतिरिक्त काव्य के गुणों को भी महत्त्व दिया । इन्होंने विदर्भ देश, गौड़ प्रदेश तथा पांचाल देश के आधार पर तीनों रीतियों का विभाजन करके कला की प्रादेशिक विशेषताओं को भी महत्त्व दिया । आचार्य वामन ने दश-रूपक अर्थात् नाटकों को श्रेष्ठ माना क्योंकि उनमें सभी का संयोग रहता है ।

औचित्य सिद्धान्त : आचार्य क्षेमेन्द्र

इस सिद्धान्त के प्रवर्त्तक आचार्य क्षेमेन्द्र ने विभिन्न तत्त्वों में सामंजस्य का प्रयास करते हुए औचित्य सिद्धान्त की स्थापना की । इन्होंने अलंकार, रीति, गुण आदि विभिन्न तत्त्वों के उचित प्रयोग, औचित्य, को भी काव्य की आत्मा सिद्ध किया । इनके अनुसार औचित्य की परिभाषा है-"जिसके जो अनुरूप है उसे उचित कहते हैं और इसी के भाव का नाम औचित्य है ।" अनुरूपता अनेकों के बीच एकरूपता का अनुव्यवसायी संबंध है जो सापेक्षता, संतुलन, समता और संगति इन चार गुणों के आधार पर एक अखण्ड रूप-सौंदर्य का प्रतिपादन करते हैं जो समष्टि सौंदर्य का मूल है । क्षेमेन्द्र के कथन से प्रभावित होता है कि औचित्य अपने आप में साध्य नहीं है अपितु वह भी काव्य सौंदर्य का ही संयोजक तत्त्व है । पर केवल औचित्य से ही सौंदर्य के अभाव में कोई उक्ति काव्यात्मक नहीं हो जाती । काव्य का प्रमुख तत्त्व तो सौंदर्य ही है । औचित्य उसके अनेक सहायकों में से एक है ।

क्षेमेन्द्र के अनुसार परस्पर सहयोगी सुन्दर शब्द व अर्थ का शरीर धारण करने वाले काव्य के उपमा, उत्प्रेक्षा आदि प्रचुर अलंकार मनुष्य के आभूषणों की भाँति बाह्य शोभा का विधान करते हैं । औचित्य तो रससिद्ध काव्य का भी मनुष्य के जीवित तत्त्व की भाँति स्थायी जीवन तत्त्व है । क्षेमेन्द्र ने चमत्कार का उदय औचित्य से माना है क्योंकि औचित्य के अभाव में काव्य में उस गुण का उदय नहीं होता जो सहृदय को आकर्षित कर सके ।

इस प्रकार भरत मुनि द्वारा उद्भावित, भामह, दण्डी, वामन आदि द्वारा पूर्णतः प्रतिष्ठित एवं मम्मट, विश्वनाथ द्वारा समंजित रस-पद्धति या रस-सिद्धान्त भारतीय काव्यशास्त्र की एक ऐसी महत्त्वूपर्ण उपलब्धि है जो भारतीय काव्यशास्त्र को विश्व साहित्य दर्शन में गौरवपूर्ण स्थान प्रदान करती है ।

□□□

अध्याय 4

साधारणीकरण तथा रसानुभूति

साधारणीकरण

भारतीय समीक्षा क्षेत्र में ममत्व-परत्व की भावना को दूर करने के लिए साधारणीकरण के सिद्धान्त का उदय हुआ है। काव्य में वर्णित विशिष्ट रामादि पात्रों के भाव सर्वसाधारण या सहृदय के भाव कैसे बन जाते हैं ? यह एक महत्त्वपूर्ण तथा मौलिक प्रश्न है। राम व दुष्यन्त से हमारा क्या संबंध है ? देश व काल की महान् खाई जब हमारे व उन पात्रों के बीच में है तो भी उनके भाव हमारे आस्वाद्य के विषय कैसे बन जाते हैं ? साधारणीकरण का संबंध काव्य संप्रेषण की प्रक्रिया है। काव्य में परिमित विशेष अनुभूति को जिस प्रक्रिया द्वारा सहृदय या सामाजिक अनुभूत करता है, उसी को संस्कृत काव्यशास्त्र में साधारणीकरण की संज्ञा दी गयी है। साधारणीकरण का पूर्व रूप भरत के नाट्यशास्त्र में 'भावों की सामान्य रूप में प्रस्तुति' के रूप में मिल जाता है। 'एम्यश्च सामान्यगुणयोगेन रसाः निष्पद्यन्ते।' अर्थात् जब इन भावों को सामान्य रूप से प्रस्तुत किया जाता है तो रसों की निष्पत्ति होती है।

साधारणीकरण के संबंध में सभी आचार्यों में मतैक्य नहीं है। कुछ तो विभावों का साधारणीकरण तथा आश्रय से तादात्म्य मानते हैं तो कुछ संबंधों से अधिक स्वतंत्रता को महत्त्व देते हैं। कुछ आचार्य पाठक के हृदय में ही इसे निहित मानते हैं। केशव प्रसाद मिश्र का कहना है कि "काव्य पढ़ते समय या नाटक देखते समय पाठक या दर्शक जब इतने अधिक तन्मय हो जाते हैं कि वे स्वगत्व की भावना से ऊँचे उठ जाते हैं तथा वर्णनों एवं दृश्यों को देखकर रोते एवं प्रसन्न होते हैं। यद्यपि रोना भी इस दशा में आनंदमय लगता है तो यही साधारणीकरण है।

डॉ॰ श्यामसुन्दर दास इसी मत का अनुगमन करते हुए साधारणीकरण का संबंध योग की मधुमती भूमिका से जोड़ते हैं जिसमें परप्रत्यक्ष होता है-'जब तक सांसारिक वस्तुओं का अपर प्रत्यक्ष होता है तब तक शोचनीय पदार्थ के प्रति हमारे मन में दुःखात्मक शोक अथवा अभिनंदनीय वस्तु के प्रति सुखात्मक हर्ष उत्पन्न होता है। परंतु जिस समय हमें वस्तुओं का पर-प्रत्यक्ष होता है, उस समय शोचनीय अथवा अभिनंदनीय सभी प्रकार की वस्तुएँ हमारे केवल सुखात्मक भावों का आलंबन बनकर उपस्थित होती हैं। उस समय दुःखात्मक, क्रोध, शोक आदि भाव भी अपनी लौकिक दुःखात्मकता छोड़कर अलौकिक सुखात्मकता धारण कर

लेते हैं। अभिनवगुप्तपादाचार्य का साधारणीकरण भी यही वस्तु है और कुछ नहीं।' अपर प्रत्यक्ष का तात्पर्य है जहाँ शब्द, अर्थ तथा ज्ञान इन तीनों की प्रतीति भिन्न-भिन्न हो। इसमें वितर्क रहता है। पर-प्रत्यक्ष से तात्पर्य है जिस अवस्था में संबंध व संबंधी विलीन हो जाते हैं, केवल वस्तु के भाव का आभास मिलता रहता है। पर-प्रत्यक्ष की इसी अवस्था को योग में मधुमती भूमिका कहा गया है। मधुमती भूमिका योग की जिस दशा का नाम है, साहित्य में रस की उसी दशा का नाम साधारणीकरण है। साधक व कवि या सहृदय में केवल इतना ही अंतर है कि साधक यथेष्ट काल तक मधुमती भूमिका में ठहरा रह सकता है, पर कवि रजस् या तमस् के उभरते ही इस अवस्था से पृथक् हो जाता है। दोनों ही अवस्थाओं में वृत्तियों का साधारणीकरण हो जाता है। इन्द्रियों के व्यापार तथा मन के भाव सभी स्थिर हो जाते हैं, तर्क, वितर्क विलीन हो जाते हैं। अपने-पराये की भावना लोक-भावना में तिरोहित हो जाती है। आत्मा में आनंद की अनुभूति होने लगती है। इसी विचित्र और अलौकिक अनुभूति को रसास्वाद कहते हैं। इस रस दशा में सभी प्रकार की वस्तुएँ हमारे सुखात्मक भावों का आलंबन बन जाती हैं। यह रसानुभूति कवि व सहृदय दोनों को होती है।

पाश्चात्य विद्वानों ने भी काव्यानुभूति या सौंदर्यानुभूति की प्रक्रिया को स्पष्ट करने हेतु अनासक्ति, निर्वैयक्तिकता, मानसिक अंतरांल, समानुभूति आदि अनेक सिद्धान्तों की परिकल्पना की। ये सभी सिद्धान्त समग्र रूप से काव्यानुभूति की प्रक्रियागत समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न करते हैं, किंतु रस सिद्धान्त में निरूपित साधारणीकरण का सिद्धान्त अकेले ही अधिक अच्छी तरह से उन प्रश्नों का उत्तर देता है। भारतीय चिंतन की इस 'साधारणीकरण' की अवधारणा को पाश्चात्य शब्दावली में 'जनरलाइजेशन', यूनिवर्सलाइजेशन 'ट्रान्सपर्सनलाइजेशन' आदि द्वारा समझाने का प्रयास किया है। किंतु साधारणीकरण की अवधारणा में ये शब्द न्यून हैं। इस अवधारणा की परिसीमा में तो एक साथ ही काव्यानुभूति की प्रक्रिया से संबंद्ध कवि, काव्य व सहृदय तीनों पक्षों के रूपान्तरण का विधान है।

भरत के नाट्यशास्त्र में साधारणीकरण का केवल बीजरूप ही मिलता है। सिद्धान्त के रूप में इसका निश्चित उल्लेख सर्वप्रथम भट्ट नायक द्वारा किया गया है। साधारणीकरण के सबंध में तीन प्रश्न उठते हैं :

(1) साधारणीकरण किसका होता है ?

(2) इस व्यापार की प्रक्रिया एवं स्वरूप क्या है ?

(3) रसास्वाद में उक्त व्यापार का महत्त्व व स्थिति क्या है ?

इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिए विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने मत प्रतिपादित किये हैं। इनमें पहला मत भट्ट नायक का है जिन्होंने अपने कल्पित व्यापार 'भावकत्व' द्वारा साधारणीकरण माना है।

भट्ट नायक मत

इनका मत है कि काव्य व नाटक में अभिधा के द्वारा शब्दार्थ का बोध हो जाने के

पश्चात् भावकत्व व्यापार के द्वारा विभाव, अनुभाव व संचारी भावों का साधारणीकरण हो जाता है । भावकत्व व्यापार के द्वारा विभाव, अनुभाव आदि किसी व्यक्ति-विशेष के न होकर साधारण मनुष्य मात्र के अनुभव योग्य हो जाते हैं । उदाहरणार्थ, दुष्यन्त की स्त्री शकुन्तला दुष्यंत की पत्नी न रहकर साधारण रमणी मात्र रह जाती है । नायक-नायिका, नट-नटी, दर्शक और उसकी प्रेमिका, सभी का वैयक्तिक तत्त्व तिरोहित हो जाता है और शुद्ध साधारणीकृत अनुभव रह जाता है परिणामस्वरूप सामाजिक के अपने सारे मोह, संकट आदि से उत्पन्न अज्ञान का निवारण हो जाता है तथा इसके द्वारा ससंभाव्यमान होता है ।

निष्कर्ष

(1) साधारणीकरण काव्य के विभावादि का होता है ।

(2) यह साधारणीकरण ही वस्तुतः भावकत्व व्यापार का प्राण है अर्थात् दोनों एक ही हैं ।

(3) भावकत्व व्यापार द्वारा भाव्यमान स्थायीभाव ही रस रूप में परिणत हो जाता है । भाव्यमान को 'काव्य प्रकाश' के टीकाकारों ने 'साधारणीकरण' का ही पर्याय माना है ।

(4) साधारणीकरण रसास्वाद से पूर्व की प्रक्रिया है, यह वह प्रक्रिया है जो रस के विभिन्न अवयवों को अपने-अपने वैशिष्ट्य से मुक्त कर आस्वाद्य रूप में प्रस्तुत कर देती है ।

अभिनव गुप्त

भट्ट नायक ने तो साधारणीकरण को केवल सिद्धान्त रूप में प्रतिष्ठित किया था, उसकी विस्तृत व्याख्या नहीं की थी । अभिनव गुप्त ने उसी प्रक्रिया को और भी स्पष्टतः समझाया जिसे भट्ट नायक ने भावकत्व कहा था । उसे अभिनव गुप्त ने वाक्यार्थ-बोध में मानसी साक्षात्कारात्मिका प्रतीति कहा जिसके द्वारा देश-कालादि-विभाग नहीं रहता । नाटकादि में वर्णित देश, काल, प्रभाव आदि की विषय सीमा नष्ट हो जाती है अर्थात् ये हर प्रकार के बंधनों से मुक्त हो जाते हैं । इसके बाद निर्विघ्न प्रतीति के रूप में ग्रहण योग्य स्थायी भाव ही रस बन जाता है । उदाहरणार्थ, 'मैं भीत हूँ', अथवा 'शत्रु,' मित्र या मध्यस्थ भीत है इत्यादि सुख-दुःखकारी अन्य प्रत्ययों को नियमतः उत्पन्न करने के कारण विघ्नबहुल प्रतीतियों से विलक्षण, निर्विघ्न प्रतीति के रूप में ग्राह्य (स्थायी भाव) भयानक रस बन जाता है ।'

व्यक्ति संसर्गों के कारण ही जीवन के सुख-दुःखात्मक अनुभव उत्पन्न होते हैं । काव्य में स्थायी भाव सभी प्रकार के व्यक्ति-संसर्गों से मुक्त हो जाता है । इनसे मुक्ति का तात्पर्य है-लौकिक सुख-दुःख आदि की चेतना से मुक्ति ।

आगे और भी स्पष्ट करते हुए अभिनव गुप्त ने कहा है कि साधारणीकरण अपरिमित व सर्वव्याप्त होता है । समस्त सामाजिकों की एक जैसी वासना होने के कारण सभी को समान

प्रतीति होती है । इस प्रकार एकाग्रचित्त होने कारण, समस्त सामाजिकों को रंगमंच पर उपस्थित नृत्य, गीत आदि सुधासागर के समान प्रतीत होते हैं । इन्होंने विभावादि का ही साधारण होना नहीं बताया है वरन् स्थायी भाव भी साधारण होता है । भाव का साधारणीकरण व्यक्तिगत नहीं वरन् एक सामूहिक रूप-क्रिया के रूप में होता है । समस्त भावक ही मुक्त भाव का सामूहिक रूप से अनुभव करते हैं । कवि निर्मित पात्र भी व्यक्ति-विशेष न रहकर सामान्य प्राणिमात्र बन जाते हैं और इनके इस स्थिति में उपस्थित हो जाने पर सहृदय भी अपने पूर्वाग्रहों लौकिक संबंधों से मुक्त हो जाता है तब रसास्वादन होता है ।

निष्कर्ष

(1) साधारणीकरण विभावादि का ही नहीं स्थायी भाव का भी होता है ।

(2) स्थायी भाव के साधारणीकरण का अर्थ है-देशकाल के बंधन, व्यक्तिगत संसर्ग आदि से मुक्ति । व्यक्ति-चेतना के कारण ही भाव की प्रतीति में सुख-दुःखात्मकता का समावेश रहता है, उसके अभाव में ऐन्द्रिय सुख-दुःख की भावना भी नष्ट हो जाती है ।

(3) कला के क्षेत्र में भाव का साधारणीकरण वैयक्तिक नहीं वरन् सामूहिक क्रिया है, केवल एक प्रमाता का ही भाव मुक्त नहीं होता वरन् समस्त सामाजिक एकाग्रचित्त होकर मुक्त भाव का सामूहिक रूप से अनुभव करते हैं ।

(4) अतः साधारणीकरण का सार है स्थायी भाव का साधारणीकरण । 'काव्यप्रकाश' की टीका में भट्ट नायक व अभिनव गुप्त के मतों का सार स्पष्ट व संक्षिप्त रूप में देते हुए कहा है :

(अ) भावकत्व ही साधारणीकरण है । इसी व्यापार के द्वारा विभावादि तथा स्थायी भावों का साधारणीकरण होता है ।

(ब) साधारणीकरण का अभिप्राय है-सीतादि विशेष पात्रों का कामिनी आदि सामान्य रूप में उपस्थित होना ।

(स) स्थायी भाव और अनुभाव के साधारणीकरण का अभिप्राय है-विशिष्ट संबंधों से मुक्ति ।

आचार्य विश्वनाथ

इन्होंने विभावादि, स्थायी-भाव व सामाजीकरण की चर्चा करने के साथ-साथ आश्रय के साथ सहृदय का तादात्म्य होना स्वीकार किया है । इस संबंध में इन्होंने दो भिन्न परंपराओं का उल्लेख किया है । साहित्य दर्पण में वे कहते हैं कि "शृंगारादि रसों के स्थायी भाव रति आदिक भी काव्य-नाट्यादि में सामान्य रूप से प्रतीत होते हैं । रसास्वाद के समय विभावाहिकों को ये मेरे हैं अथवा मेरे नहीं हैं अन्य के हैं अथवा अन्य के नहीं-इस विशेष रूप से परिच्छेद अर्थात् संबंध-विशेष का स्वीकार या परिहार नहीं होता ।

विश्वनाथ के आश्रय के साथ प्रमाता के अभेद या तादात्म्य को अत्यधिक महत्त्व दिया है । साहित्यदर्पण में आगे कहा है कि "यही साधारणीकरण विभावादि का विभाजन नामक व्यापार है । इसी के प्रभाव से उस समय प्रमाता अपने को समुद्र लंघन करने वाले हनुमान् आदि से अभिन्न समझने लगता है । अभेद-ज्ञान या साधारणीकरण हो जाने पर मनुष्यों का भी समुद्र लंघन आदि में उत्साह दूषित नहीं होता ।"

इस प्रकार विश्वनाथ का मत है कि विशिष्टता के सामान्य हो जाने का परिणाम यह होता है कि काव्य नाटकादि के पात्र व सहृदय दोनों में अभेद स्थापित हो जाता है । यह सामान्य आश्रय के साथ ही नहीं वरन् अलौकिक शक्ति-संपन्न देवादि के साथ ही होता है । उदाहरणार्थ, समुद्र लंघन के उत्साह का अनुभव लौकिक जगत में सामान्य व्यक्ति हेतु संभव नहीं है, किंतु काव्य-नाटकादि में हनुमान आदि के अभेद स्थापित हो जाने के कारण यह भी संभव हो जाता है ।

पंडितराज जगन्नाथ

इनके अनुसार कवि और नट द्वारा विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के प्रकाशित होने पर सामाजिक व्यंजना व्यापार द्वारा यह स्वीकृत कर लेता है कि काव्य में वर्णित आश्रय में आलम्बन के प्रति रति भाव है । तब सहृदयता के कारण एक विशेष भावना उत्पन्न होती है । यह भावना एक ऐसा दोष है जिससे हमारी आत्मा कल्पित दुष्यन्तत्व से आच्छादित हो जाती है अर्थात् हम स्वयं को दुष्यंत समझने लगते हैं । स्वयं को दुष्यंत समझ लेने के बाद शकुन्तला का प्रेमी भी समझने लगते हैं तथा इस दोष के कारण आत्मा में कल्पित शकुन्तला-विषयक रति भी भासित होने लगती है, जैसे दूरत्व आदि दोषों के कारण सीप चांदी के समान लगती है । इस प्रकार पंडितराज ने सामाजिक व आश्रय का तादात्म्य स्वीकार किया है ।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

इनके अनुसार साधारणीकरण का अभिप्राय है आश्रय का सामाजिक के साथ भाव-साम्य या तादात्म्य । इनके अनुसार जिस प्रकार काव्य में वर्णित वस्तु आश्रय का आलंबन होती है, उसी प्रकार साधारणीकरण आलम्बन के धर्म का आश्रय होता है । पाठक या श्रोता के मन में आलंबन-रूप व्यक्ति-विशेष रहता तो विशेष ही है, पर उसमें ऐसे सामान्य धर्म की प्रतिष्ठा रहती है जिससे सब पाठक या श्रोताओं के मन में थोड़ा बहुत एक ही भाव का उदय होता है । इनका मत है कि "जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबको उसी भाव का आलंबन हो सके तब तक रसास्वादन की पूर्ण शक्ति नहीं आती । इस रूप में लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है ।' ये साधारणीकरण में आलंबन-धर्म को प्रधानता देते हैं । ये ऐसा आलंबन चाहते हैं जो सबका आश्रय बन सके । ये साधारणीकरण में दो व्यापार मानते हैं :

(1) पूर्ण साधारणीकरण अर्थात् सहृदय, पाठक या श्रोता का आश्रय के साथ साधारणीकरण,

(2) निम्न साधारणीकरण अर्थात् आलंबन या आलम्बनत्व धर्म का साधारणीकरण।

डॉ॰ नगेन्द्र पाठक या श्रोता का तादात्म्य आश्रय के स्थान पर कवि की अनुभूति से मानते हैं और आलंबन को कवि की अनुभूति का संवेद्य रूप कहते हैं। इस प्रकार वे आलंबन के साधारणीकरण का अर्थ कवि की अनुभूति का साधारणीकरण लगाते हैं।

रूप गोस्वामी (1533-1618 ई॰) के अनुसार 'मधुरा रति' जिसमें श्रृंगार तथा भक्ति रस का समायोजन होता है; से उत्पन्न रस अनुभूति ही सौंदर्यानुभूति तथा कलानुभूति है। अंग-प्रत्यंग में यथोचित सन्निवेश तथा तादात्म्य ही सौंदर्य है। अंगों के सुंदर गठन से सुरम्यता, नेत्रों हेतु आनंददायक होने पर रुचिरता, शारीरिक तथा भौतिक गुणों से युक्त होने पर शोभा, आंतरिक सौंदर्य की अभिव्यक्ति से लावण्य तथा अंत में रागों द्वारा शारीरिक सौंदय से आतंरिक सौंदर्य की ओर अग्रसर होते हुए हम सौंदर्यानुभव करते हैं।

साधारणीकरण पर विचार करने के उपरान्त हम गुलाबरायजी के शब्दों में उसकी उपयोगिता के संबंध में कह सकते हैं :

"साधारणीकरण की उपयोगिता काव्यानुशीलन की उपयोगिता है। इसके द्वारा हमारी सहानुभूति विस्तृत हो जाती है। हम एक-दूसरे के साथ भाव तादात्म्य करना सीखते हैं। हमारे भावों का परिष्कार होकर उनका पारस्परिक सामंजस्य भी होने लगता है। श्रृंगार जो लौकिक अनुभव में विषयानंद का रूप धारण कर लेता है, काव्य में परिष्कृत होकर आत्मानंद के निकट पहुँच जाता है। काव्यानुशीलन करने वाले की रति भी सात्विकोन्मुखी हो जाती है। शास्त्र वर्णित रति में पारस्परिक आत्मत्याग द्वारा पूर्ण तादात्म्य की भावना पर बल दिये जाने के कारण सात्विकता आ जाती है। वैयक्तिक कटुता व तीव्रता से शून्य मनोवेगों के ही सामंजस्य की आशा रहती है।"

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि :

(1) रस के समस्त अवयवों-विभाव, अनुभाव व संचारी का साधारणीकरण होता है। साधारणीकरण की प्रक्रिया में थोड़ा-सा क्रम रहता है-विभावादि का साधारणीकरण पहले होता है फिर स्थायी भाव का उसके परिणामस्वरूप बाद में। यह भट्ट नायक का मत है अतः इसमें विषय व विषयी दोनों पक्षों का संतुलन है।

(2) मूलतः रस के विभावादि समस्त अवयवों का ही साधारणीकरण होता है तथा विभावादि के साधारणीकरण के फलस्वरूप ही स्थायी भाव का साधारणीकरण होता है जिसमें सहृदय की चेतना व्यक्ति-संसर्गों से मुक्त हो जाती है। परंतु स्थायी का यह साधारणीकरण ही अन्ततः मुख्य हो जाता है तथा शेष ज्ञान उसमें लीन हो जाता है। यह अभिनव गुप्त का मत है तथा इसमें भाव व विषयी पक्ष की ही स्वीकृति है।

(3) तीसरा मत विश्वनाथ का है जिसमें साधारणीकरण तो सभी का माना गया है, किंतु यहाँ साधारणीकरण की प्रक्रिया में आश्रय के साथ तादात्म्य को रेखांकित कर दिया गया है। इस रूप में भट्ट नायक व अभिनव गुप्त के मत से थोड़ा-सा भिन्न है।

पंडितराज जगन्नाथ ने भी दार्शनिक शब्दावली में इसे प्रस्तुत किया है । उनके विचार से भी आश्रय के साथ तादात्म्य ही मुख्य क्रिया है ।

(4) शुक्लजी के मत से साधारणीकरण मूलतः आलंबन या आलम्बनत्व धर्म का होता है अर्थात् कवि आलंबन का इस प्रकार वर्णन करता है कि वह अपने वैशिष्ट्य की रक्षा करते हुए भी साधारण धर्मों के कारण सभी पाठकों के मन में वैसा ही भाव उद्‌बुद्ध करता है जैसा कि काव्य-प्रसंग के अंतर्गत आश्रय के मन में आता है । इस प्रकार भाव के साधारणीकरण को शुक्लजी भी स्वीकार करते हैं किंतु उन्होंने बल आलम्बन के साधारणीकरण पर ही दिया है ।

(5) साधारणीकरण की प्रक्रिया में तीन बिंदु है- कवि, आश्रय (नायक) तथा श्रोता । इन तीनों के भाव तादात्म्य से साधारणीकरण पूर्ण हो जाता है । यह भट्ट तौत का मत है । शुक्लजी ने इसे मान्यता प्रदान की है ।

अब फिर से वही प्रश्न सामने आते हैं क्योंकि सभी विद्वान् साधारणीकरण के संबंध में एकमत नहीं हैं ।

(1) साधारणीकरण किसका होता है ?

यह प्रश्न आचार्यों के विवाद का विषय है । कोई आचार्य आलंबन का तो कोई कवि की अनुभूति का साधारणीकरण मानते हैं । अभिनव गुप्त भी विभावादि का साधारण रूप ग्रहण करते हैं । भट्ट नायक व अभिनव गुप्त सर्वांग का साधारणीकरण मानते हैं । विश्वनाथ आश्रय के साथ तादात्म्य मानते हैं तो शुक्लजी आलम्बन धर्म का । किंतु वस्तुतः केवल आलंबन के साधारणीकरण से रसानुभूति संभव नहीं है । साधारणीकरण सम्मिलित क्रिया-कलाप है, पृथक्-पृथक् तत्त्वों का पृथक्-पृथक् क्रियाकलाप नहीं है । फिर साधारणीकरण न केवल आश्रय का होता है न केवल आलंबन का और न ही इन दोनों का पृथक्-पृथक् बल्कि इनके सम्मिलित क्रिया-कलाप होता है ।

साधारणीकरण कवि की अपनी अनुभूति का होता है अर्थात् जब कोई व्यक्ति अपनी अनुभूति की इस प्रकार अभिव्यक्ति कर सकता है कि वह सभी के हृदयों में समान अनुभूति जगा सके, तो पारिभाषिक शब्दावली में हम उसमें साधारणीकरण की शक्ति वर्तमान मानेंगे । साधारणीकरण करने की क्षमता सभी में नहीं होती इसलिए अनुभूति व अभिव्यक्ति होने पर भी सभी कवि नहीं होते । कवि या कलाकार वही होता है जो अपनी अनुभूति का साधारणीकरण कर सके अर्थात् 'जिसे लोक-हृदय की पहचान हो ।'

(2) इस व्यापार की प्रक्रिया एवं स्वरूप क्या है ?

साधारणीकरण के संबंध में प्रायः सभी आचार्यों की मान्यता है कि साधारणीकरण उस व्यापार को कहते हैं जिसके द्वारा सहृदय अपने पूर्व मोह आदि भावों से मुक्त हो जाता है । इस मुक्ति में ममत्व-परत्व की भावना नहीं रहती । वह सामान्य प्राणिमात्र हो जाता है तथा उसके भाव प्राणिमात्र के भाव हो जाते हैं । साधारणीकरण का स्वरूप किसी एक का

सामान्यीकरण नहीं है । साधारणीकरण विभाव के तीनों तत्त्वों-आश्रय, आलंबन व उद्दीपन, अनुभाव व संचारी भाव का सम्मिलित क्रिया-कलाप है । जब इन तीनों का सम्मिलित क्रिया-कलाप विशिष्ट व्यक्तित्व से रहित होकर विशिष्ट संबंधों का परित्याग कर सामान्य रूप ग्रहण कर लेता है तभी सामाजिक को रति आदि भावों की अनुभूति हो सकती है । इस प्रकार साधारणीकरण विभावादि का वह सम्मिलित साधारणीकृत रूप है जिसके कारण सहृदय अपने पूर्व-मोहादि भावों व संबंधों से मुक्त होकर रस का आस्वादन करता है ।

(3) रसास्वाद में उक्त व्यवहार का महत्त्व व स्थिति क्या है ?

साधारणीकरण रसास्वाद में भूमि का कार्य करता है । जब तक साधारणीकरण का व्यापार न हो जाये, रसास्वाद संभव ही नहीं है क्योंकि सामाजिक मूल पात्रों, जिन्हें आश्रय कहा जाता है और उनके आलंबन की रीति आदि का आस्वाद कैसे कर सकता है । जब रत्यादि स्थायी भाव व विभावादि सबका साधारणीकरण हो जाता है, तभी सामाजिक रसास्वाद करने में समर्थ होता है, इसीलिए साधारणीकरण को रसास्वाद की भूमिका में प्रस्तुत करने वाला कहा जाता है ।

रसानुभूति एवं सौंदर्यबोध

रस-सिद्धान्त भारतीय काव्यालोचन की अत्यंत महत्त्वपूर्ण देन है । इसी के समकक्ष पाश्चात्य साहित्यशास्त्र एवं दर्शनशास्त्र में कला-दर्शन या सौंदर्य-मीमांसा का स्थान है तथा दोनों की स्थापनाओं व निष्कर्षों में आश्चर्यजनक साम्य है । कला-दर्शन तथा रस-दर्शन दोनों का ही लक्ष्य आनंदानुभूति प्रदान करना है तथा दोनों ही काव्यजन्य आनंद को कल्पनाजन्य आनंद स्वीकार करते हैं । दोनों का ही विचार है कि सामान्य जीवन के भाव कलाकृति में आनंददायक बन जाते हैं । पाश्चात्य सौंदर्यशास्त्रियों के अनुसार कलानुभूति का आधार शुद्ध भावात्मक है, इसका आस्वादन तर्क-बुद्धि की देन नहीं है । कलानुभूति के समय मनुष्य स्वार्थ-भाव से परे होकर वस्तु की उपयोगिता या हानि-लाभ से ऊपर उठ जाते हैं । पाश्चात्य सौंदर्य-दर्शन भी रस-सिद्धान्त की भाँति रसानुभूति या सौंदर्यानुभूति को अखंड मानता है । रस-सिद्धांत के अन्तर्गत 'साधारणीकरण' के द्वारा रस-बोध की स्थिति में स्वार्थ-भाव से मुक्ति या निर्वैयक्तिकता और सहजानुभूतिजन्य तादात्म्य संबंधी विचारों की स्थापना की जाती है । यही मत कलानुभूति का भी है । तात्पर्य यह है कि रसानुभूति सौंदर्यानुभूति या सौंदर्य-बोध के अत्यंत निकट है ।

पाश्चात्य सौंदर्यशास्त्रियों ने काव्य या कला का लक्ष्य आनंदानुभूति प्रदान करना माना है । उनके अनुसार काव्यजन्य आनंद कल्पनाजन्य आनंद है । रस का मूल उद्देश्य ऐंद्रियबोध का वाचक है । सौंदर्यशास्त्र का विषय-क्षेत्र ललितकलाओं तक परिसीमित है । उसमें उपयोगी कलाओं की प्रविधि का विवेचन नहीं होता । भारतीय रसशास्त्र भी दृश्यकाव्य नृत्य, अभिनय, चित्र तथा काव्य से संबंधित है । वस्तुतः इसका भी संबंध ललितकलाओं से ही है, अतः विषय-क्षेत्र की दृष्टि से भी दोनों में साम्य है ।

मूल लक्ष्य के विचार से भी दोनों की अवधारणाओं में समता दिखाई पड़ती है। सौंदर्यशास्त्र का उद्देश्य सौंदर्य का उद्घाटन करना है जो सामान्य न होकर शुद्ध कलात्मक लालित्य है। रसानुभूति भी कलानुभूति है। सौंदर्यशास्त्र के अंतर्गत कला-सृष्टि की प्रक्रिया, कला के आस्वाद का स्वरूप, कला की विषय-वस्तु का सामाजिक की दृष्टि से महत्त्व आदि का भी विचार किया जाता है। डॉ॰ कांतिचन्द्र पाण्डे ने रस को कलागत भावात्मक सौंदर्य का रूप माना है। सौंदर्यशास्त्रियों ने भाव को ही कला का आधारभूत तत्त्व मानकर उसके अंतर्गत भाव-चित्रण, भावाभिव्यक्ति, भाव-प्रेषण व भावोद्दीपन की क्षमता का विवेचन किया है। भारतीय रसाचार्य भी भावों की परिपक्व अवस्था को रस कहते हैं। उनके अनुसार रस-निष्पत्ति का मूलाधार स्थायी भाव है जो विभावादि भावों से परिपुष्ट होकर रसास्वादन करने में समर्थ होता है।

रसाचार्यों ने रसानुभूति को ऐन्द्रिय मानसिक आनंद माना है। उनके अनुसार रसानंद आनंद है, काव्यानंद कल्पना का आनंद है और वह सभी प्रकार के लौकिक व आध्यात्मिक आनंद से भिन्न एक विलक्षण प्रकार का निरपेक्ष आनंद है।

मनोविज्ञान के अतिरिक्त दर्शन, समाज, साहित्य आदि की दृष्टि से भी रस-सिद्धान्त महत्त्वपूर्ण है। शुद्धाद्वैतवाद के अनुसार मानवात्मा परमात्मा के तीनों गुणों-सत्, चित् और आनंद से मुक्त होती है, किंतु जीव का आनंद गुण तिरोहित होता है। काव्य एवं कलाओं द्वारा इसी आनंद को जागृत किया जाता है। रस-सिद्धांत भी काव्य का यही लक्ष्य आनंदानुभूति स्वीकारता है। अद्वैतवाद के अनुसार मानवात्मा माया के आवरण के कारण जगत् के नाना रूपों में भेद का अनुभव करती है, जबकि मूलतः सभी रूप एक ही सत्ता से संबंधित हैं। रसानुभूति के द्वारा हम माया के इस आवरण को भूलकर विभिन्न रूपों से तादात्म्य स्थापित करते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में, 'आत्मा की मुक्तावस्था का नाम ही रस-दशा है।' पाश्चात्य काव्यवादियों ने साहित्य का एकमात्र लक्ष्य कवि या लेखक का निजी आनंद घोषित किया है जिससे उनकी रचनायें समाज-विरोधी तत्त्वों से परिपूर्ण होने लगीं। किंतु रस-सिद्धान्त काव्य के प्रति एक ऐसा दृष्टिकोण स्थापित करता है जिससे काव्य समाज विरोधिता से दूर रहता है।

रस-सिद्धान्त के अनुसार कलाओं का लक्ष्य स्वयं कलाकार का आनंद नहीं है, सामाजिक का आनंद है। ऐसी स्थिति में कोई भी कला सामाजिक की रुचि मान्यता एवं इच्छाओं के प्रतिकूल नहीं हो सकती। यदि कोई कवि अपने काव्य में समाज-विरोधी तत्त्वों का समावेश करने का साहस कर बैठता है तो रस-सिद्धात का अनुयायी उसे 'रसाभास' की संज्ञा देकर उसकी कुत्सित प्रवृत्तियों को नियंत्रित करने की क्षमता रखता है। रस-सिद्धान्त स्वयं कवि कर्म को भी उसके चरम-लक्ष्य तक पहुँचाता है। कवि कर्म या काव्य निर्माण की तीन दशायें होती हैं :

(1) कवि द्वारा विषय की अनुभूति,

(2) कवि द्वारा अभिव्यक्ति; तथा

(3) पाठक के द्वारा रसास्वादन।

पाश्चात्य विद्वानों में जहाँ क्रोचे जैसे विद्वान अनुभूति को तथा फ्रायड़ आदि अभिव्यक्ति को ही काव्य रचना का सारा महत्त्व प्रदान कर देते हैं वहाँ रस सिद्धान्त के आचार्य पाठक की रसानुभूति को ही सर्वाधिक महत्त्व देते हुए कवि कर्म को उसके चरम लक्ष्य तक पहुँचाने पर बल देते हैं । पाश्चात्य काव्यवादियों में अरस्तू के बाद आई॰ ए॰ रिचर्ड के सिद्धान्त में भी संप्रेषण को महत्त्व मिला है जिसे उन्होंने 'साधारणता' की संज्ञा दी है जो भारतीय रस-सिद्धान्त के 'साधारणीकरण' के अत्यंत निकट है । इसके अतिरिक्त रस सिद्धान्त काव्य के क्षेत्र में बाह्य सौंदर्य शब्द-विन्यास, शब्द-क्रीड़ा, उक्ति-वैचित्र्य आदि के स्थान पर सूक्ष्म भाव-सौंदर्य की प्रतिष्ठा करता है । रस-सिद्धान्त जीवन के सुंदर और कुरूप सभी पक्षों को काव्य में स्थान देने का पक्षधर है । इसके अनुसार केवल श्रृंगार, वीर, करुण आदि में ही नहीं वरन् वीभत्स, भयानक, रौद्र आदि में भी रसानुभूति की क्षमता है । यही कारण है कि रस-सिद्धान्त गांधीवादियों की करुणा व साम्यवादियों की घृणा दोनों को काव्य में स्थान देने की सामर्थ्य रखता है । विश्व की किसी भी विचारधारा से रस-सिद्धान्त का कोई विरोध नहीं है ।

चित्रकला में रस-निष्पत्ति तथा साधारणीकरण

भारतीय काव्यशास्त्र में रस-सिद्धान्त के प्रतिपादक ग्रंथ 'नाट्यशास्त्र' में भरत मुनि ने रस-सूत्र को नाट्यकला के आधार पर लिखा था । किंतु नाट्यकला में समस्त क्रलाओं का समावेश होता है फलतः यह सूत्र चित्रकला व मूर्तिकला पर भी प्रयुक्त होता है ।

चित्रकला में मूल भाव की अभिव्यक्ति तथा व्यंजना द्वारा रस-निष्पत्ति होती है जिसमें भारतीय कला के छः अंग रूप-भेद, भाव, प्रमाण, लावण्य, सादृश्य तथा वर्णिका भंग सहायक होते हैं । रेखा के माध्यम से लय तथा गति का आभास होता है जिससे चित्र में जीवंतता आती है । वर्णों की भी अपनी भाषा होती है । रेखा, वर्ण, प्रमाण तथा भावों द्वारा आकार को सादृश्य तथा लावण्य प्राप्त होता है जिससे चित्र में सत् एवं आनंद का समावेश होता है तथा रसानुभूति होती है । रेखा, रूप, वर्ण, तान, पोत, अन्तराल-विभाजन, सादृश्य, छाया-प्रकाश, लावण्य, प्रतीक, क्षय-वृद्धि, सामंजस्य, संतुलन, प्रवाह आदि के माध्यम से विभावानुभावों तथा संचारी भावों का संयोजन होता है जिससे रसानुभूति होती है । मूर्तिकला तथा स्थापत्य कला स्थूल होने के कारण रसानुभूति क्रमशः कम अभिव्यक्त होती है ।

भारतीय चित्रकला में रस की अनुभूति व्यक्तिगत नहीं होती वरन् सार्वभौमिक होती है जिसके फलस्वरूप हम कह सकते हैं कि भारतीय चित्रकला साधारणीकरण के निकट पहुँच जाती है । अजंता के भित्ति-चित्र, भारतीय लघुचित्र, रवीन्द्रनाथ टैगोर, अमृता शेरगिल आदि के चित्रों में रस की निष्पत्ति मिलती है । यह रसानुभूति विश्व के समस्त सहृदय दृष्टाओं को होती है तथा वह भारतीय चित्रों को देखकर आश्चर्यचकित होने के साथ ही भाव-विभोर होकर चित्र से तादात्म्य स्थापित कर लेता है । यही चित्र की रस दशा तथा रसानुभूति है जिससे दर्शक साधारणीकरण करता है । बिहारी, केशवदास, कालिदास आदि के काव्यों पर आधारित चित्र तथा राग-रागनियों के चित्र भी चित्रकला में साधारणीकरण एवं रस-निष्पत्ति के श्रेष्ठ उदाहरण हैं । भारतीय कला से विश्व का प्रत्येक सहृदय दृष्टा इस सीमा तक तादात्म्य स्थापित करता है कि चित्रकला की रसानुभूति, देश-काल की सीमाओं को तोड़ देती है । इस प्रकार रसचित्र कलाकार की कला का सर्वोत्कृष्ट उद्घाटन, महाकाव्य तथा आत्माभिव्यक्ति है । निःसंदेह भारतीय चित्रकला में रसदशा सर्वोच्च शिखर पर स्थापित है । □□□

अध्याय 5

आधुनिक सौंदर्य विचारक

रवीन्द्रनाथ ठाकुर (1861 से 1941 ई॰)

रवीन्द्रनाथ ठाकुर का जन्म 1861 में हुआ था तथा मृत्यु 1941 में हुई । इन्हें बाल्यकाल से ही साहित्य, संस्कृति, कला, नाटक, संगीत आदि का वातावरण विरासत में मिला था जिसके परिणामस्वरूप उनमें एक कलाकार के व्यक्तित्व का विकास हो सका । रवीन्द्र कलाकार थे और कलाकार अपनी कला पर कोई बंधन स्वीकार नहीं करता । उसकी कल्पना मुक्त वातावरण में विहार करने वाले पक्षी की भांति होती है । रवीन्द्र भी किसी दर्शन-विशेष से बंधे हुए नहीं थे । यह अवश्य सत्य है कि भिन्न-भिन्न धर्मों एवं धार्मिक सिद्धान्तों ने उनके संस्कारों को प्रभावित किया एवं उनके व्यक्तित्व के निर्माण में योग दिया । कलाकार अपने युग से प्रभावित होता ही है । रवीन्द्र के जातीय संस्कार वैष्णव थे जिनके पीछे उपनिषदों की ज्ञान-गरिमा थी । पारिवारिक क्षेत्र में उनके पिता ईश्वर में दृढ़ आस्था रखने वाले चिंतक थे जो बालक रवीन्द्र के मधुर स्वरों में गाये गये भजनों के संगीत में डूबकर रातभर ईश्वर चिंतन में निमग्न बैठे रहते थे । कबीर, दादू आदि निर्गुण संतों की वाणी से भी ये प्रभावित थे । इनके परिवार में प्रत्येक साहित्कार या कलाकार को प्रश्रय दिया जाता था जिसके परिणामस्वरूप इन्हें बचपन से ही बड़े-बड़े साहित्यकारों, चित्रकारों, कवि, नाटककार, समाज सुधारकों एवं राजनीतिज्ञों के संपर्क में आने का स्वर्ण अवसर प्राप्त हुआ, इसीलिए ये कवि, नाटककार, कथाकार, संगीतकार व चित्रकार होने के साथ-साथ दार्शनिक, धर्म-मीमांसक और समाज-चिंतक भी थे । यही वातावरण था जिसमें रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने श्वास ली और लक्ष्य-अलक्ष्य रूप में वे प्रभावित हुए । इन सबके ऊपर अत्यंत महान् एवं महत्त्वपूर्ण थी उनकी प्रतिभा, जो संसार में अत्यंत विरल है । इनकी सर्वाधिक प्रतिभा काव्य में प्रतिभासित हुई है । जीवन के अंतिम दिनों में चित्रकला के प्रति भी इनकी रुचि जागृत हुई । इनके बनाये गये अधिकांश चित्र कविताओं से जुड़े हैं । ये मानवतावादी दृष्टिकोण के समर्थक थे । यह मानवतावाद महामानवतावाद का ही रूप था । ये प्रकृति से अविभूत थे । प्रकृति को रवीन्द्रनाथ ने जीवन सहचरी के रूप में नहीं अपितु स्नेह, ममता और वात्सल्यमयी माता के रूप में देखा है जिसका स्तनपान कर, जिसकी गोद में खेलकर मानव बड़ा होता है, जो अपने संगीत की लौरी सुनाकर, ज्वर पीड़ित मानव शिशु को थपका कर सुलाती है । रवीन्द्र की कला में प्रकृति और मनुष्य एकसूत्र में आबद्ध हैं । यह रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कला की एक बहुत बड़ी विशेषता है । इनकी कला में प्रकृति व

मानव परस्पर भावनाओं को प्रतिबिम्बित करते प्रतीत होते हैं । वे प्रकृति को ही मानव का शिक्षक मानते थे, इसीलिए इन्होंने स्कूली शिक्षा का विरोध किया कि यह बच्चों के व्यक्तित्व का नाश करती है । हम शिक्षा के वातावरण में व्यक्तित्व का स्वतंत्र विकास रोक देते हैं और उन्हें व्यवहार-विशेष करने को बाध्य करते हैं । कला के क्षेत्र में रवीन्द्र ने जो विचार व्यक्त किये हैं वे कुछ पुस्तकों में संग्रहित हैं :

(1) रिलीजन ऑफ एन आर्टिस्ट,

(2) साधना; एवं

(3) पर्सनेलिटि ।

इनके दृष्टिकोण में जो बात सर्वप्रथम उभरकर सामने आती है वह है उनकी आध्यात्मिकता । इनके अनुसार कोई अलौकिक शक्ति अवश्य है जो इस विश्व को नियंत्रित करती है । यही संपूर्ण जगत का आदि व अंत है । इस शक्ति का बोध आनंदमय है और इस आनंद की अनुभूति सुख-दुःख से परे अनित्यता में नित्य सत्ता के रूप में होती है । चित्र, मूर्ति, काव्य, साहित्य आदि में सौंदर्य की जो अभिव्यक्ति होती है वह आनंदमय होती है और इसी आधार पर इन्होंने सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् की व्याख्या की है । रवीन्द्रनाथ ठाकुर संगति को इस ब्रह्माण्ड का एक भाग मानते हैं । जब यह मनुष्य द्वारा किसी रूप में किसी भी माध्यम द्वारा अभिव्यक्त की जाती है तो वह कला का रूप धारण कर लेती है अथवा सौंदर्यानुभूति बन जाती है । कला के माध्यम से आत्मा स्वयं को व्यक्त करती है । इस प्रकार कला ब्रह्म ही अभिव्यक्ति है । ब्रह्म संपूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त है तथा प्रकृति के अंग जब स्वयं को व्यक्त करते हैं तब वह कला है ।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर के विचारों पर पाश्चात्य दार्शनिकों का भी प्रभाव है । इन्होंने पाश्चात्य व भारतीय दर्शन में संगति लाने का प्रयास किया है । ये सौंदर्य के प्रत्येक पक्ष के उपासक थे । साहित्यिक पक्ष में राजनीतिक स्वंतत्रता आंदोलन में इनका पूर्ण सहयोग था । ये शांतिपूर्वक शांति निकेतन में कलाओं के माध्यम से सौंदय-दर्शन एवं उसकी उपासना करते रहे ।

इन्होंने जीवन के प्रत्येक पक्ष का अध्ययन एवं समीक्षा की है । भाषाओं में बंगला, हिंदी व अंग्रेजी पर इनका पूर्ण अधिकार था । नया छंद बंगला में लिखने का कार्य भी इन्होंने ही किया । किंदी गद्य का श्रेय जिस प्रकार भारतेन्दु को है, उसी प्रकार नये बँगला गद्य का श्रेय टैगोर को है । संस्कृत के ग्रंथों, वेदों, उपनिषदों आदि का गहन अध्ययन इनके चिंतन में झलकता है । आयरिश संगीत का भी अध्ययन किया था । कई कविताएँ भी इन्होंने इसके अनुरूप गाये जाने के आधार पर लिखीं ।

रवीन्द्रनाथ का चिंतन उपनिषदों से अत्यंत प्रभावित है । आध्यात्मिक चिंतन सौंदर्य का एक अंग माना गया है । इनकी तुलना वर्ड्सवर्थ से की जाती है । वर्ड्सवर्थ के समान ही रवीन्द्रनाथ ठाकुर भी प्रकृति में ब्राह्य व सौंदर्य का दर्शन करते हैं तथा दोनों को एक-दूसरे का

पर्याय मानते हैं । प्रकृति के परिवेश में ये ईश्वर के दर्शन करते हैं । वर्ड्सवर्थ की एक कविता है जिसमें सूर्यास्त में ईश्वर दर्शन की बात कही गई है तथा इसी प्रकार की एक कविता रवीन्द्रनाथ की भी है ।

रवीन्द्रनाथ ने पाश्चात्य दर्शन की एक बात का विरोध किया है कि धर्म कला की अभिव्यक्ति हेतु हानिकारक है । पाश्चात्य विचारधारा के अनुसार जब तक कला की अभिव्यक्ति धर्म पर आधारित होती है तब तक कला कुण्ठित ही रहती है तथा उसका स्वतंत्र विकास नहीं हो पाता । कला का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि पाश्चात्य कला पुनर्जागरण काल में धर्म से मुक्त हो जाती है । भारतीय कला भी धर्म से अनुप्राणित रही है । इन्होंने इसके विरोध में कहा कि भारतीय धर्म की परिभाषा पाश्चात्य धर्म से भिन्न है । धर्म एवं ईश्वर हमारे जीवन का ही एक अंग हैं जैसे बुद्ध । बुद्ध महामानव हैं, उन्हें ईश्वर का रूप देते हुए भी लोक का एक अंग माना है । इन्होंने धर्म की जो व्याख्या की है वह प्रकृति को देवतुल्य मानती है । आधुनिक कला में भी धर्म का विरोध करने की आवश्यकता नहीं पड़ती । इनके अनुसार जो वस्तु धारण की जाय, वही धर्म है । बुद्ध, कृष्ण आदि धर्म के प्रतीक थे तथापि धर्म उनसे पृथक् था । इस प्रकार भारत में कला व धर्म का अन्योन्याश्रित संबंध है । इसके विपरीत पाश्चात्य परिभाषा में धर्म जीवन जीने का एक तरीका है । पाश्चात्य दार्शनिकों ने धर्म के नियंत्रण की आलोचना की है । उनके अनुसार हमारे जितने भी काव्य हैं वे हमारी कल्पना को अभिव्यक्त होने का मार्ग नहीं देते हैं, किंतु यदि देखा जाये तो रामायण, महाभारत आदि की घटनाएँ हमारी कल्पना को प्रेरित करती हैं । उनकी घटनाओं में आज की राजनीतिक परिस्थितियों का भी अंकन है, जैसे अंधायुग । भारतीय कला में धर्म कहीं भी बंधन के रूप में नहीं आता । हमारा धर्म एवं धार्मिक काव्य किसी भी प्रकार से हमारी सृजनशीलता में बाधक नहीं होते हैं क्योंकि उनमें जो कुछ भी अभिव्यक्त किया गया है वह हमारे हृदय की भावनाएँ हैं तथा इनका कथन है कि चूँकि हम ईश्वर की अनुभूति अपने हृदय से करते हैं, अतः कला में उसकी अभिव्यक्ति थोपी हुई न होकर स्वाभाविक होती है ।

इस प्रकार दर्शन की विषय-वस्तु पर अपने विचार अत्यंत स्पष्टता से व्यक्त कर दिये हैं । उनकी लेखनी से दर्शन का शायद ही कोई पक्ष अछूता रहा हो । अपने दार्शनिक विचारों में वे कहीं तो उपनिषदों के निकट, कहीं भगवान् बुद्ध के निकट दिखाई देते हैं तो कभी ईसा के, कभी गाँधी के और कभी बर्नार्ड-शा के ।

कला : रवीन्द्रनाथ ठाकुर की दृष्टि में

कला को रवीन्द्रनाथ ठाकुर एक सजीव तथा निरंतर परिवर्द्धमान वस्तु मानते हैं और इसी कारण उसे परिभाषित करने की अपेक्षा उसकी विशेषताओं का अध्ययन करना अधिक उपयोगी समझते हैं । कला का कार्यात्मकता की दृष्टि से विचार नहीं करना चाहिये, कला पूर्णरूप से सहज ज्ञान व अंतर्मन की क्रियाओं पर निर्भर है । लय कला की आत्मा है एवं उसकी सहजसिद्ध अनुभूति कलानिर्मिति की प्राथमिक आवश्यकता है । कला के उद्‌गम के संबंध में उनकी विचारधारा इस प्रकार है :

'हमारे हृदय की खिड़कियों से होकर बाह्य जगत् अपने रंग, रूप, गंध और ध्वनि को लेकर भीतर प्रविष्ट होता है । हृदय की जितनी अधिक खिड़कियाँ खुली होंगी, बाह्य सृष्टि उतने ही अधिक परिमाण में भीतर प्रविष्ट हो सकेगी । विश्व में जहाँ एक ओर गवाक्षहीन इकाई वाले व्यक्ति हैं जो चारों ओर के वातावरण से पूर्णतया अप्रभावित रहते हैं, वहीं दूसरी ओर रोम-रोम में वातायन लिए मुक्त प्राणी भी हैं जो प्रकृति की प्रत्येक वस्तु के साथ अपने हृदय का रागात्मक संबंध स्थापित कर लेते हैं । बाह्य सृष्टि इस प्रकार भीतर पहुँचकर व्यक्ति के व्यक्तित्व के संपर्क में आती है और उसके सुख-दुःख, भय-विस्मय, राग-विराग आदि भावों से मिलकर एक नवीन संस्कार ग्रहण करती है । यह बाह्य सृष्टि से भिन्न और स्वतंत्र सृष्टि है जिसे रवीन्द्र ने 'मानस सृष्टि' या 'मानसिक जगत' की संज्ञा दी है । व्यक्तित्व की भिन्नता के कारण यह सृष्टि प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न रूप ग्रहण करती है । बाह्य सृष्टि का एक ही दृश्य भिन्न व्यक्तियों के भीतर मानस सृष्टि करता है ।

कला की उत्पत्ति के संदर्भ में रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने तीन प्रकार के मत व्यक्त किये हैं:

(1) कला की उत्पत्ति पूजा से मानी है । मनुष्य अपने से अधिक बलशाली प्राकृतिक शक्तियों को प्राप्त करने हेतु जो प्रयास करता है अथवा उन शक्तियों से परिचित होने पर जिस प्रकार उनकी अभिव्यक्ति करता है, वही कला है ।

(2) बेले-नृत्य भी कला उत्पत्ति के साधन हैं । ये वे लोक-नृत्य हैं जो अपनी प्रारंभिक संस्कृति में व्याप्त थे । उदाहरणार्थ, शिकार पर विजय प्राप्त करने पर हर्षोल्लास से नृत्य-गान करते थे जिससे संगीत व नृत्यकला की उत्पत्ति हुई । इसी प्रकार शिकार पर जाने से पूर्व टोटम करने के लिए शिकार का चित्र बनाकर उसे मृत दिखाते थे जिससे चित्रकला का विकास हुआ ।

(3) मनुष्य की आध्यात्मिक सत्ता की रहस्यात्मक अनुभूति । प्राकृतिक सत्ता के पीछे जो रहस्य है उसे जानने की उत्सुकता प्रत्येक व्यक्ति में होती है और इस सत्ता की जो अनुभूति होती है उसकी अभिव्यक्ति ही कला है ।

अब यहाँ अभिव्यक्ति का प्रश्न उठता है । रवीन्द्र अभिव्यक्ति की अनिवार्यता में विश्वास करते हैं । उनकी मान्यता है कि मानस सृष्टि नष्ट होना नहीं चाहती अपितु अभिव्यक्त होने के लिए विफल रहती है । भाव की यह प्रकृति है कि वह स्वयं को अन्य हृदयों में भावित करे । भाव अमरता प्राप्त करने हेतु व्यग्र रहता है । वह अनंत काल तक अनंत हृदयों को प्रभावित करना चाहता है । काव्य, भित्ति-चित्र, शिला-लेख, मंदिर आदि इसी के परिणाम व साथ ही प्रमाण भी हैं । किंतु यह आवश्यक नहीं है कि संपूर्ण मानस-सृष्टि ही कला हो जाये । यह कलाकार की व्यक्तिगत प्रतिभा पर निर्भर है कि मानस सृष्टि का कितना अंश वह *अभिव्यक्त कर पाता है । भाव को सुदर तरीके से अभिव्यक्त करना पड़ता है ।* दूसरे, भाव में एक प्रकार की अनिर्वचनीयता होती है जो अशक्त शब्दों की पकड़ में नहीं आती । उसे रूप देने हेतु चित्र और संगीत की सहायता लेनी पड़ती है । इतना होने पर भी उस मानस-सृष्टि को पूर्णतया अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता । सौंदर्य की अनिर्वचनीयता का कुछ न कुछ अंश बचा ही रहता है और जो पूर्णतः अभिव्यक्त हो जाता है वह कुछ और हो सकता है सौंदर्य

नहीं, इसलिए सौंदर्य को अभिव्यक्त करने का कार्य युग-युगान्तर से चला आ रहा है। कलाकार इस अटूट क्रम को बनाये रखने वाले उपलक्ष्य मात्र हैं।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर की मान्यता है कि कला के रूप में मानस सृष्टि ज्यों की त्यों व्यक्त नहीं हो जाती, वह वस्तुतः मानस सृष्टि के समस्त रस को खींचकर उद्‌भूत होती है। इस प्रकार रवीन्द्र के मत में कला सृष्टि होती है, उसका निर्माण नहीं किया जाता। जो लोग कला या साहित्य को अनुकरण दर्पण, प्रतिबिम्ब, प्रतिक्रिया, आविष्कार या और कुछ मानते हैं, वे भ्रमित हैं। प्रत्येक रचना या कलाकृति अपने आप में एक पूर्ण वस्तु होती है जिसका न तो अनुकरण संभव है और न अनुवाद ही। अनुवाद मूल रचना के साथ कभी न्याय नहीं कर सकता। यह अपवाद है कि कभी-कभी अनुवाद भी मूल की अपेक्षा अधिक उत्तम हो जाता है। अंग्रेज कवि फिट्‌जेराल्ड द्वारा अनूदित उमर-खय्याम का प्रसिद्ध अंग्रेजी रूपांतर अच्छा उदाहरण है। किंतु उमर-खय्याम की आत्मा ही जानती है कि अनुवादक ने उसके साथ कहाँ तक न्याय किया है। टैगोर के अनुसार प्रकृति से मन में और मन से साहित्य में जो कुछ प्रतिफलित होता है वह अनुकरण से बहुत दूर है।

कला या साहित्य सृष्टि की इस प्रक्रिया में रवीन्द्र तीन बातों पर बल देते हैं :

(1) बाह्य सृष्टि, जिसकी वास्तविकता असंदिग्ध है; का भीतर प्रवेश,

(2) मानसिक जगत की सृष्टि; एवं

(3) उसकी अभिव्यक्ति के रूप में कला की सृष्टि।

इन तीनों स्थितियों को ये समान रूप से महत्त्वशालिनी मानते हैं। इटालियन दार्शनिक और विचारक क्रौचे इनमें से केवल मध्यम स्थिति को ही स्वीकार करते हैं। वे कला को सहज-ज्ञान मानते हैं जिसका बाह्य जगत से कोई संबंध नहीं है। वैसे क्रौचे ने भी 'सहज-ज्ञान' को 'बिम्ब' या प्रतिछवि कहा है तथापि इस बिम्ब में उस बिम्ब से भेद है जो बाह्य-वस्तु को देखने से दर्शक के मन में उत्पन्न होता है। कला की अभिव्यंजना क्रौचे के मत में मन के भीतर ही होती है अर्थात् मोर तो जंगल में भी नाच लेता है कोई देखे या न देखे। इसके विपरीत रवीन्द्र कला को अत्यधिक आत्मगत या विषयिगत न बनाकर, कला के लिए बाह्य जगत की अनिवार्यता मानते हुए अभिव्यक्ति की भी उतनी ही अनिवार्यता स्वीकार करते हैं।

रवीन्द्र अमेरिका में दिये गये अपने एक भाषण में 'कला क्या है' में कला की परिभाषा करते हुए हिचकिचाते हैं :

"क्या हम परिभाषा से प्रारंभ करें ? पर किसी भी ऐसी वस्तु की परिभाषा करना जिसका जीवन निरंतर अभिवृद्ध हो रहा है, वस्तुतः अपनी दृष्टि की क्षमता को परिसीमित करना है।" रवीन्द्रनाथ ठाकुर कला को भी एक सजीव तथा अभिवृद्धिमान वस्तु मानते हैं। जो गतिशील है उसे परिभाषा में बांधना व्यर्थ है।"

इस प्रकार रवीन्द्र कला की तर्क-शुद्ध व्याख्या करने के स्थान पर कला के उद्देश्य व उद्देश्य-प्राप्ति के साधनों पर विचार करना अधिक उपयोगी मानते हैं। रवीन्द्र की दृष्टि में कला

का उद्देश्य 'व्यक्तित्व' की अभिव्यक्ति है। यहाँ वे 'व्यक्तित्व' का कोषार्थ से भिन्न अर्थ लेते हैं। वे मनुष्य का जगत के साथ तीन प्रकार का संबंध मानते हैं :

(1) शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु,

(2) मन या मस्तिष्क की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु; एवं

(3) 'व्यक्ति' की संतुष्टि हेतु।

प्रथम संबंध शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए होता है और द्वितीय मन या मस्तिष्क की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु। मन या मस्तिष्क तथ्यों के ज्ञानमात्र से ही संतुष्ट नहीं हो जाता वरन् उससे आगे उनकी तह में छिपे हुए सत्य को भी जानना चाहता है। तथ्य अनेक होते हैं पर सत्य केवल एक। वृक्ष से टूटकर फल नीचे को आता है, वर्षा के जल की बूदें पृथ्वी पर लौटती हैं। ये सब तथ्य हैं पर इन सब तथ्यों के मूल में गुरुत्वाकर्षण का जो नियम है, वही सत्य है। इस सत्य के ज्ञान के बाद मस्तिष्क या मन की मुक्तावस्था है। यह कार्यक्षेत्र विज्ञान का है और इसमें विश्लेषण का सिद्धान्त काम करता है।

जगत के साथ तीसरा संबंध हमारे 'व्यक्ति' की संतुष्टि का होता है। यह संबंध उस समय स्थापित होता है जब हम शरीर व मन दोनों की आवश्यकताओं से ऊपर उठ जाते हैं। यह जगत् के साथ निःस्वार्थ संबंध होता है, आत्मीयता का संबंध होता है, आनंद का संबंध होता है। उदाहरणार्थ, झरने से जल भरकर या उसके नीचे नहाकर हम उसके साथ व्यावहारिक संबंध स्थापित करते हैं। साथ ही इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हाइड्रोजन आक्सीजन एक विशाल परिमाण में पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति से आकृष्ट होकर नीचे गिर रहा है। पर इन दोनों संबंधों के स्थापित हो जाने पर भी झरने के प्रति हमारा आकर्षण समाप्त नहीं होता। यह जो बचा हुआ निष्प्रयोजन आकर्षण है, यही उसका सौंदर्य है। इस सौंदर्य से हमारा जो संबंध स्थापित हो जाता है वह व्यक्तिगत संबंध है। यही वह संबंध है जिसके द्वारा विज्ञान जगत् के निरपेक्ष तथ्य हमारे निकट व्यक्ति सापेक्ष बन जाते हैं। यह साहित्य व कला का क्षेत्र है जिसमें संश्लेषण का सिद्धान्त काम करता है।

भौतिक दर्शन को मानने वाले रवीन्द्र के इस 'व्यक्ति' के अस्तित्व अथवा आध्यात्मिक वस्तु के होने का प्रमाण मांगते हैं। रवीन्द्र एक ही उत्तर देते हैं-विश्लेषण की प्रवृत्ति छोड़कर एकता का सिद्धान्त अपनाओ, दृष्टिकोण में परिवर्तन लाओ, फिर किसी प्रभाव की आवश्यकता नहीं है। तर्क या विश्लेषण के क्षेत्र में जितने ही महान् हैं, कला के क्षेत्र में उतने ही लघु हैं क्योंकि कला एक सृष्टि है। सृष्टि का रहस्य उसकी एकता में है, विखण्डन में नहीं। यदि वृक्ष का वृक्षत्व देखना है तो तने, डालों एवं पत्तों को मत देखो वरन् इस अनेकता के नीचे छिपी एकता को; वृक्ष की आत्मा को देखो। हमारी आँखों का भी यह स्वभाव है कि वे वस्तु को उसकी संपूर्णता में देखती हैं, उसके अंगों को पृथक्-पृथक् करके नहीं। रवीन्द्र की दृष्टि में मनुष्य ही कला का केन्द्रबिन्दु है। जर्मन दार्शनिक कांट की भाँति वे मनुष्य को किसी अन्य वस्तु का साधन नहीं, अपने आप में एक साध्य-बिंदु मानते हैं। हीगेल व मार्क्स की भाँति वे मानते हैं कि मनुष्य सब वस्तुओं की कसौटी है, इसीलिए सर्वोदय अथवा मानव-मात्र का

हित उनके अंतर्मन की इच्छा रही है। समग्र मानव जाति के प्रति एकात्म-बोध का यह भाव भी हमारे राष्ट्रीय गान 'जन-गण-मन अधिनायक' का प्राणवायु है।

इस प्रकार रवीन्द्र कला को कला के लिए न मानकर जीवन के लिए मानते हैं। उन्होंने सौंदर्य को ढूँढ़ा तो सही, पर जीवन की अभिव्यक्ति के रूप में ही।

सौंदर्य : रवीन्द्रनाथ ठाकुर की दृष्टि में

रवीन्द्रनाथ आध्यात्मिक सत्ता में विश्वास करते थे। उनके अनुसार कोई अलौकिक शक्ति ब्रह्म या ईश्वर अवश्य है जो इस जगत का नियन्त्रण करती है। यही सम्पूर्ण जगत का आरम्भ व अन्त है। इस शक्ति का बोध आनन्दमय है, इस आनन्द की अनुभूति सुख-दुःख से परे अनित्यता और नित्य सत्ता के रूप में होती है। यह आनन्द जो कुछ हमें दिखाई पड़ता है उससे ढँका पड़ा है। जब हम ऊपरी आवरण को हटा लेते हैं और वास्तविक अलौकिक शक्ति का अनुभव करते हैं तो हमें आनंद की अनुभूति होती है।

चित्र, मूर्ति, काँच, साहित्य में सौंदर्य की जो अभिव्यक्ति होती है, वह आनन्दमय होती है। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् की व्याख्या की है।

इनके अनुसार सत्य का ज्ञान हमें केवल आंखों से नहीं होता बल्कि हृदय से होता है। जब हम सत्य का ज्ञान हृदय से प्राप्त करते हैं तभी उस सत्य की अभिव्यक्ति भी हो सकती है। सत्य को यदि बुद्धि का विषय बना दिया जाये या केवल नेत्रों तक सीमित कर दिया जाय तो उस सत्य की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती और न ही आनन्द प्राप्त हो सकता। इस सृष्टि में आनन्द की अनुभूति सभी करते हैं।

रवीन्द्रनाथ के अनुसार सत्य और सौन्दर्य एक ही वस्तु है जो सत्य है वही सुन्दर है उसी से आनन्द की प्राप्ति होती है। रवीन्द्रनाथ की मान्यता है कि सत्य में ही सौन्दर्यबोध होता है लेकिन सत्य के द्वारा सौन्दर्य का बोध तभी होता है जब हम इसकी प्राप्ति ज्ञान से नहीं अपितु हृदय से करें।

रवीन्द्रनाथ ने सौंन्दर्य को शिव से भी जोड़ा है। सौंन्दर्य मंगल का अन्योन्याश्रित माना है अर्थात् वह कल्याणमयी है। किन्तु सभी प्रकार के सुन्दर मंगलमय नहीं मानते बल्कि जो सौंन्दर्य अपनी पूर्णता पर पहुँच जाता है वही मंगलमय होता है। मंगल एक सापेक्षित शब्द है क्योंकि मंगल के साथ ही अमंगल की भावना जुड़ी होती है।

सौन्दर्य का स्वरूप निश्चित करते हुए रवीन्द्रनाथ टैगोर ने सौन्दर्य को एक ऐसी शक्ति माना है जो सजीव है और हमारे मन को प्रभावित करती है।

सौन्दर्य का दूसरा गुण सौन्दर्य बाह्य तत्त्वों में नहीं होता है अन्तर में होता है। सौन्दर्य असीम अन्तर का तत्त्व है, इसकी अभिव्यक्ति कलाकृतियों में होती है। सौन्दर्य चिर् सत्य है। यद्यपि सौन्दर्य वस्तु का अवलम्बन लेकर प्रकट होता है किन्तु वस्तु का गुण नहीं बनता, इसलिये सौंदर्य में इच्छा-शक्ति का समन्वय रहता है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने सौंदर्य का कार्य जगत और हमारे जीवन में एक समन्वय स्थापित करना निश्चित किया। यह समन्वय हमें

विभित्त मोह-माया के बंधनों से मुक्त करता है, इसीलिये सौंदर्य मुक्तिदायी तत्त्व है। सौंदर्यबोध हमारे मनोभावों का परिमार्जन करता है साथ ही हमारी प्रवृत्तियों को संयत करता है। सौंदर्यबोध जगत के साथ हमारा केवलमात्र प्रयोजन का संबंध न रखकर बल्कि आनन्द का संबंध स्थापित करता है। इस सौंदर्य को देखने के लिए अन्तःचक्षुओं की आवश्यकता है क्योंकि अन्तःचक्षुओं से देखने पर हम किसी वस्तु को सुंदर या असुंदर कहते हैं। परंतु हृदय से देखने पर वस्तु के असुंदर रूप का कोई अर्थ नहीं रहता। यहाँ पहुँचकर सुन्दर और असुंदर की कमी पूरी हो जाती है और सौंदर्य में आध्यात्मिकता का समन्वय होता है। रवीन्द्रनाथ ने यद्यपि भरत के समान रस सिद्धान्त की व्याख्या नहीं की है। रसवाद का जो भारतीय और पाश्चात्य मत है, उसका विरोध करते हुए सौंन्दर्यानुभूति की व्याख्या प्रस्तुत की है। भारतीय सौंदर्यशास्त्र में सभी रस को संवेगों से सम्बद्ध मानते हैं। संवेग को समझने के लिये भाव तथा विचार को समझना आवश्यक है। विचार व्यक्तिगत नहीं होता और भाव या अनुभूति व्यक्तिगत होती है भावना में सत्य और असत्य का प्रश्न ही नहीं उठता। कला का संबंध संवेग या अनुभूतियों से है। अनुभूतियाँ दो प्रकार की मानी जाती हैं :

(1) कलात्मक सौंदर्यानुभूति, एवं

(2) व्यावहारिक अनुभूतियाँ।

सौंन्दर्यात्मक अनुभूतियों में विलगता होती है। वह निष्प्रयोजन और निरुद्देश्यीय होती है इसमें प्रयोजन होते हैं।

जीवन में संवेग प्रेरक का कार्य करते हैं। संवेग जीवन को चलाने की शक्ति है। लेकिन यह संवेगों का व्यवहारिक उपयोग है। संवेगों का संबंध सौन्दर्यात्मक अनुभूति से नहीं हो सकता क्योंकि इस अनुभूति में लय व्यवहारिकता से ऊपर उठ जाते हैं। इसी प्रकार से पाश्चात्य विचारक भी सौन्दर्यानुभूति में चेतना, विषय में एकीकृत हो जाती है ऐसा मानते हैं। रवीन्द्रनाथ पाश्चात्य और भारतीय दोनों मतों को अस्वीकार करते हैं और आपकी मान्यता है कि भारतीय विचारकों में महत्त्वपूर्ण दोष यह है कि रसानुभूति के समय विषय का लोप हो जाता है यह ठीक नहीं है। पाश्चात्य मत में एक कमी यह है कि चेतना विषय से एकीकृत नहीं हो सकती क्योंकि विषय तो निर्जीव पदार्थ है और चेतना सजीव, इसलिए तादात्म्य होना संभव नहीं है। इनके अनुसार चेतना और विषय दोनों को अलग-अलग नहीं कहा जा सकता। अतः दोनों का एक ही अस्तित्व स्वीकार करना पड़ता है। रसानुभूति के समय चेतना और विषय दोनों एक साथ रहते हैं। न तो विषय का लोप होता है और न ही चेतना विषय को लुप्त करती है और न ही चेतना को विषय में लुप्त करना है। बल्कि विषय और चेतना में एक संगति उत्पन्न करता है।

आनंद कुमारस्वामी (1877-1947 ई॰)

आनंद कुमारस्वामी रसविषयक मान्यताओं का सटिप्पण प्रामाणिक अंग्रेजी अनुवाद करने में अग्रणी हैं तथा पूर्व व पश्चिम के कला-विषयक तुलनात्मक अध्ययन करने का श्रेय

इन्हीं को है । इनका जन्म श्रीलंका में हुआ था । इनके पिता तमिल तथा माता अंग्रेज थी । इन्होंने अपनी जीवनयात्रा एक भूगर्भशास्त्र से प्रारंभ करके राजनीतिक सुधारक व कला के इतिहासकार होते हुए अन्ततः कला में 'शाश्वत दर्शन' के व्याख्याकार होकर समाप्त की । इन्होंने 10 वर्षों तक भारत में रहकर भारतीय कला का अध्ययन किया तथा 30 वर्षों तक अमेरिका बोस्टन म्यूजियम ऑफ फाइन आर्ट्स' में भारतीय कला-कक्ष के संरक्षक रहे । इन्होंने लगभग 341 निबंध तथा 'मिरर ऑफ जेस्वर (1917), 'द डान्स ऑफ शिव (1918), 'हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एण्ड इण्डोनेशियन आर्ट' (1927) तथा ' द ट्रांसफॉर्मेशन ऑफ नेचर इन आर्ट्स' (1934) सुप्रसिद्ध पुस्तकों की रचना की ।

आनंद कुमारस्वामी ने भारतीय दृष्टिकोण से रस-सिद्धान्त को ही सौंदय का पर्याय माना है । इनके अनुसार विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव आदि बाह्य उपादानों से ही रस उत्पन्न होता है । हम राम या दुष्यन्त आदि पात्रों के अभिनय से तादात्म्य स्थापित करते हैं । उनकी क्रियाओं तथा संवेदनाओं से हमारे संवेग जागृत होते हैं तथा धीरे-धीरे हम नाटक के पात्रों से पूर्ण तादात्म्य समन्वय स्थापित कर लेते हैं जिसमें अहं और देशकाल की भावना तिरोहित हो जाती है । यही रसानुभूति तथा रसानंद है । यह रसानुभूति दर्शक तथा पात्र की समानुभूति का परिणाम है । यह अवस्था नैतिकता तथा ऐन्द्रियता से भी परे है । रस आस्वाद्य वस्तु है जिसके आस्वादन में दो प्रमुख तथ्य हैं :

1. केवल रसिक ही रसास्वादन कर सकता है अर्थात् रस की स्थिति मानव-मन में होनी चाहिये । जिस प्रकार भक्त पाषाण प्रतिमा में भी ईश्वर के दर्शन करता है, उसी प्रकार रसिक भी प्रत्येक वस्तु में रसानुभव करता है । रसिक में जिज्ञासा भी होनी चाहिये । जिज्ञासा के कारण ही हम किसी वस्तु को प्राप्त करने के लिए आतुर होते हैं । इस प्रकार जहाँ जिज्ञासा या रुचि होगी वहीं आनंद प्राप्त होगा । इस कारण केवल रसिक ही रसानुभूति कर सकता है ।

2. रसास्वाद जागृत किया जा सकता है अर्थात् मानव में भाव जन्मजात होते हैं । उचित वातावरण या कलाकृति द्वारा उन सुप्त भावों को जागृत किया जा सकता है । इस प्रक्रिया में कल्पना तथा तकनीकी कुशलता दो प्रमुख तत्त्व होते हैं । तकनीकी कुशलता बाह्य उपादान है । कल्पना सौंदर्य चेतना को जागृत करने का प्रमुख तत्त्व है । कलाकार कल्पना द्वारा ही अपने भावों का संप्रेषण करता है । कल्पना से वह अपने विचार को प्रकट करने हेतु बिम्ब खोजता है । कलाकार की कल्पना जितनी कुशल तथा सजग होगी, कलाकृति उतनी ही अधिक संवेदनापूर्ण होगी । इसी प्रकार दर्शक में भी अनुभूति की तीव्रता का आधार कल्पना की गहनता है । दर्शक या रसिक नाटक का पात्रों या कलाकृति से कल्पना द्वारा ही समन्वय स्थापित करता है । रसिक स्वयं को उस भाव या स्थिति में कल्पित करता है जिसमें कलाकार या नाटक के पात्र होते हैं । कल्पना की गहराई समानुभूति जितनी तीव्र होगी, उतना ही रसिक अहं भाव को विस्तृत कर कलाकृति या पात्रों के भावों में तिरोहित हो जायेगा । यही रसानुभूति है जिसे जागृत किया जा सकता है ।

उक्त प्रक्रिया में प्रत्यक्षीकरण की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका है । काव्य, नाटक या कलाकृति के प्रत्यक्षीकरण से ही रसिक के संवेग जागृत होते हैं । इसके लिए कला वर्णनात्मक हो यह आवश्क नहीं है । कला में एक विचार या पंक्ति ही महत्त्वपूर्ण होती है । कला का विषय सदैव 'विशेष' होता है 'सामान्य' नहीं । कलाकार 'व्यक्ति' को प्रस्तुत करता है संपूर्ण 'जाति' को नहीं । कलाकार इस ईश्वरमय सृष्टि से सौंदर्य खोजता है, संकलित करता है तथा अन्ततः अपनी अनुभूति में समेटकर उसे व्यक्त करते हुए रसिक तक संप्रेषित करता है । यद्यपि यह कलाकार का व्यक्तिगत अनुभव होता है तथापि संपूर्ण मानव जाति हेतु ग्रहणीय होता है । यही रसानुभूति या सौंदर्यानुभूति की सार्वभौमिकता है । सौंदर्य या रस कलाकार की एक मनःस्थिति है जो व्यक्तिगत होने के कारण सापेक्षिक है । किंतु जब यह रस या सौंदर्य कला में व्यक्त होकर मानव जाति हेतु ग्रहणीय होता है तब यह निरपेक्ष है । उदाहरणार्थ, कलाकार की एक कृति कुछ व्यक्तियों को ही सुन्दर लग सकती है, किंतु अजंता की चित्रकला, ग्रीक, गोथिक या रोमनस्क कला संपूर्ण मानव जाति हेतु आकर्षक व सुंदर है ।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि आनंद कुमारस्वामी के अनुसार :

(1) रस का ज्ञान कलाकार को होता है, जो सहज ज्ञान है ।

(2) इस सहज ज्ञान को वह कलाकृति में अभिव्यक्त करता है ।

(3) इस अभिव्यक्ति द्वारा वह अपने भावों को रसिक तक संप्रेषित करता है । जिस प्रक्रिया में भाषा, रंग, रेखा आदि भौतिक उपादान अपेक्षित होते हैं ।

(4) रसिक के मन में भी वही भाव उत्पन्न होना चाहिये जो कलाकार के मन में उत्पन्न हो चुका है । रसिक, कलाकार तथा कलाकृति तीनों के परस्पर तादात्म्य से ही रस उत्पन्न होगा ।

आनंद कुमारस्वामी रस को अदृश्य मानते हैं । रस रसिक की कल्पनात्मक तथा ऐन्द्रिय चेतना का परिणाम है जो आनंदमय है । इस प्रकार रस में चेतना व आंनद का समन्वय है जो हमें सत् के दर्शन कराता है अर्थात् रस 'सच्चिदानंद' हैं । ये रस को 'ब्रह्मास्वाद सहोदर' मानते हैं । इनके अनुसार कलाकार कलाकृति को प्रस्तुत करता है और कला समीक्षक रसिक की सौंदर्य दृष्टि को जागृत कर देता है । समीक्षक स्वयं भी एक कलाकार ही है जो कलाकार की खोज में भी कुछ नवीन खोज कर लेता है । रसास्वाद या सौंदर्यानुभूति की अवस्था में हम एक दूसरी दुनिया में विचरण करने लगते हैं । यह अवस्था तन्मय की अवस्था है जिसमें कोई क्रम या श्रेणी नहीं होती, किसी वर्गीकरण हेतु कोई स्थान नहीं होता । सौंदर्य या रस ऐसी दृष्टि है जिसके पाश में हम बंध जाते हैं । इस सौंदर्य या रस में रचनात्मकता भी होनी चाहिये । यदि कलाकार कला में एक ही अभिव्यक्ति को व्यक्त करता जायेगा तो वह आकर्षित नहीं करेगी । उसमें निरंतर नवीनता का आभास होना चाहिये । वस्तुतः रस या सौंदर्य दृश्य जगत् के कण-कण में बिखरा है जो परमात्मा के प्रकाश का ही एक अंश है ।

ई॰ बी॰ हैवेल

ई॰ बी॰ हैवेल को हम एक सौन्दर्यशास्त्री तो नहीं कह सकते तथापि भारतीय कलाकार की आत्मा तक पहुँचकर उसके सृजन की प्रभावशील समीक्षा करने, राष्ट्रीय आदर्शवाद को समझने तथा कला के पुनर्जागरण में सक्रिय सहयोग करने में अंग्रेजी कला समीक्षक ई॰ बी॰ हैवेल का योगदान अविस्मरणीय है। ये एक अध्यापक थे किन्तु कला तथा कला संबंधी अध्ययन में अपनी विशेष रुचि के कारण एक कला समीक्षक बन गये। ये 1884 ई॰ में मद्रास कला विद्यालय में प्राचार्य नियुक्त हुए। 1896 में स्थानान्तरित कर इन्हें कलकत्ता कला विद्यालय में भेजा गया। इन्होंने तत्कालीन सुप्रसिद्ध चित्रकार अवनीन्द्रनाथ ठाकुर के साथ मिलकर कला में भारतीय आध्यात्मवाद, काव्य-सौष्ठव तथा पूर्वी देशों की विचारधारा को प्रतिध्वनित करने का प्रयास किया। इस प्रकार आधुनिक भारतीय चित्रकला का पुनर्जागरण आंदोलन ई॰ बी॰ हैवेल के सतत् प्रयासों से प्रारम्भ हुआ तथा अवनीन्द्रनाथ ठाकुर इसके कर्णधार बने।

अंग्रेज होने के पश्चात् भी हैवेल ने भारतीय छात्रों को अतिरंजित पश्चिमी प्रभाव का परित्याग करने तथा समृद्ध भारतीय संस्कृति के गुणों को ग्रहण करने की प्रेरणा दी। हैवेल के मतानुसार यूरोपीय कला तो केवल भौतिक वस्तुओं का ज्ञान कराती है जबकि भारतीय कला सर्वव्यापी, अमर तथा अपार है जिसमें आकार-कल्पना प्रमुख है जो समस्त कला की नींव है। भारतीय कला में सौंदर्य विद्यमान है जिसकी अनुभूति दर्शक को कलाकृति में तिरोहित होने को बाध्य कर देती है। इस सौंदर्यात्मक अनुभूति में संवेग उद्वेलित होते हैं तथा मन शांति का अनुभव करता है। हैवेल ने बंगाल की लोकपट चित्रकला के अतिरिक्त भारतीय कला पर अनेक पुस्तकें लिखीं जिनमें 'आइडियल्स ऑफ इण्डियन आर्ट', 'इण्डियन पेन्टिंग एण्ड स्कल्पचर', 'अजन्ता फ्रेस्कोज' प्रमुख हैं। वस्तुतः हैवेल एक सौंदर्यशास्त्री होने की अपेक्षा कला समीक्षक थे। इन्होंने भारतीय कला समीक्षा की दिशा बदलने के साथ ही कला समीक्षा हेतु ऐसे गद्यशिल्प का विकास किया जो कथ्य की दृष्टि से समृद्ध होने के साथ ही भारतीय कला-परम्परा की संवदेनशीलता तथा काव्यात्मकता से ओतप्रोत था।

□□□

प्रमुख सहायक ग्रंथ

संस्कृत / हिन्दी :

- अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग; नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली, 1959 ।
- कला; हंसकुमार तिवारी, मानसरोवर प्रकाशन, गया ।
- कला: एक जीवन-दर्शन; काका कालेलकर, सस्ता साहित्य मण्डल, 1937 ।
- कला और संस्कृति; डॉ॰ वासुदेवशरण अग्रवाल, प्रथम संस्करण ।
- कला क्या है ?; टॉल्सटॉय, हिन्दी रूपान्तर, हिंदी प्रचार पुस्तकालय, वाराणसी, 1955 ।
- काव्य में उदात्त-तत्त्व; डॉ॰ नगेन्द्र राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, 1958 ।
- ध्वनि और संगीत; ललितकिशोर सिंह, ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण ।
- पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परंपरा; संपादिका, डॉ॰ सावित्री सिन्हा, दिल्ली, प्रथम संस्करण ।
- भारत शिल्प के षडंग; भवनीन्द्रनाथ ठाकुर, अनुवादक, महादेव साहा, इलाहाबाद, 1958 ।
- भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका; डॉ॰ नगेन्द्र, ओरिएण्टल बुक डिपो, दिल्ली, 1955 ।
- रस-मीमांसा; रामचन्द्र शुक्ल, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, संवत् 2006 ।
- रस-सिद्धान्त : स्वरूप-विश्लेषण; आनंद प्रकाश दीक्षित, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1960 ।
- सत्यम् शिवम् सुन्दरम्; डॉ॰ रामानंद तिवारी (शास्त्री), राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर 1957 ।
- सौंदर्य तत्त्व और काव्य सिद्धान्त; डॉ॰ सुरेन्द्र बारलिंगे, अनुवादक डॉ॰ मनोहर काले, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली, 1963 ।
- सौंदर्य विज्ञान; हरिवंशसिंह शास्त्री, काशी विद्यापीठ, 1936 ।

- अरस्तू का काव्यशास्त्र; डॉ॰ नगेन्द्र व महेन्द्र चतुर्वेदी, भारती भंडार, इलाहाबाद, 1957 ।
- काव्य और कला तथा अन्य निबंध; भारती-भंडार, इलाहाबाद, पंचम संस्करण, 1958 ।
- ध्वन्यालोक-लोचन; अनु॰ जगन्नाथ पाठक, चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी, 1965 ।
- क्षेमेन्द्र औचित्य विचार-चर्चा; चौखम्भा संस्कृत सीरीज, 1933 ।
- भरत-नाट्यशास्त्र भाग 1; गायकवाड़, ओरिएंटल सीरीज, द्वितीय संस्करण, 1956 ।

अंग्रेजी :

- 'एस्थेटिक'; क्रोचे बेनादेत्तो, ट्रान्सलेटेड बाय ए॰ डगलस, विजन प्रेस, लंदन, 1953.
- 'एस्थेटिक एण्ड साइक्लॉजी; चार्ल्स मोरो, ट्रांन्सलेटेड फ्रॉम द फ्रेंच बाय रोजन फ्राय एण्ड केथरिन जॉन, लंदन, 1935.
- 'ए हिस्ट्री ऑफ एस्थेटिक्स'; कुहन एण्ड गिलबर्ट, मैकमिलन कम्पनी, न्यूयॉर्क, 1939.
- 'एरिस्टोटल्स थ्योरी ऑफ पॉयेट्री एण्ड फाइन आर्ट'; ट्रान्सलेटेड बाय एस॰ एच॰ बूचर, डोवर पब्लिकेशन, 1951.
- "कम्पेरेटिव ऐस्थेटिक्स"; डॉ॰ के॰ सी॰ पाण्डेय, वॉल्यूम I/II, बनारस 1950.
- 'कन्टम्परेरी ब्रिटिश आर्ट'; हर्बर्ट रीड़, फर्स्ट एडीशन.
- 'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका; इलेवन्थ एडीशन, 1910.
- 'फीलिंग एण्ड फॉर्म'; सूजन के॰ लेंगर, लंदन, 1953.
- 'फन्डामेन्टल्स ऑफ इण्डियन आर्ट'; एस॰ एन॰ दासगुप्त, बॉम्बे, फर्स्ट एडीशन.
- 'इण्डियन एस्थेटिक्स'; के॰ एस॰ रामास्वामी (शास्त्री), श्रीरंगम्, 1928.
- 'साइक्लोजिकल स्टॅडीज इन 'रस'; डॉ॰ राकेश गुप्त, अलीगढ़, फर्स्ट एडीशन.
- 'सम कॉन्सेप्ट्स ऑफ अलंकारशास्त्र; वी॰ राघवन, अड़यार, 1942.
- 'व्हाट इज आर्ट'; एडिट एण्ड ट्रान्सलेटेड, ए॰ मॉड ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन 1924, टॉल्सटॉय लियो.

□□□

लेखक नामानुक्रमणिका

अमृता शेरगिल 6,192
अरस्तू 4,9,20-29,30,37,38,40,41,42,
47,74,174,192
अभिनव गुप्त 4,34,175,177,178,184,
188,189
अवनीन्द्रनाथ ठाकुर 202
आई॰ ए॰ रिचर्ड्स 129,131,132,192
आगस्टाइन 31,34,35,36,37,38
ऑर्थर शॉपेनहॉवर 38,58,84
आनंद कुमारस्वामी 200 - 202
आनंदवर्धन 143,179,180
आर॰ जी॰ कलिंगवुड 4,103,133-136
ओटोरैंक 142
इमरसन 14
इमेनुअल कांट 1,21,47,56,58,62,72,73,74,87
उद्भट 181
एडमंड बर्क 48,53,54
एडवर्ड बुलो 115,142
एन॰ जी॰ चर्निशेवस्की 118,119
एडीसन 48,51,52,55,103
एडवर्ड मुंख 101,102
एफ॰ शेलिंग 58,73,74,118
एफ॰ शिलर 58,73,87
एस॰ लैफ़मान 151
ए॰ सी॰ मित्रा 83
ए॰ एलेक्जेण्डर 142
के॰ एस॰ रामस्वामी शास्त्री 3,7
कान्डिन्सकी वासिसी 6,102,106
कौटिल्य 164
कार्नोली 42
कान्स्टोबिल जॉन 54
कॉफमैन - 55
कॉलरिज 86
क्लांद लौरे 41
कार्ल मार्क्स 74,119
कार्ल युंग 142,155,
कार्लाइल 86
क्लाइव बेल 103,107
कालिदास 192
कार्लोकारा 106
केशव प्रसाद मिश्र 183
केशवदास 6,124,192
के॰ सी॰ पाण्डेय 34,181
किर्शनर ई॰ एल॰ 102
कोकोश्का ऑस्कर 102
क्रिस्टोफर कॉडवेल 115,117,119
कृशाश्व - 164
एम॰ मेन्डलसन 59
एलबर्ट ट्यूरर 41
एलेक्जेंडर बाउमगार्टेन 4,47,58,59
जयशंकर प्रसाद 4
जॉन ड्यूई 129,131
जॉन रस्किन 4,48,54,67,129,130,131
जॉन आपी 55
जॉर्ज कीट्स 6,86
जॉर्ज बर्कले 48,49
जॉर्ज संतायन 139,140,141
जॉर्ज देलातुर 41
जॉन दावि 42
जी॰ ई॰ लेसिंग 60,61
जी॰ टी॰ फेचनर 2,108,115
जी॰ डब्ल्यू॰ एफ॰ हीगेल 1,4,21,58,73,87,
117,118
जी॰ डब्ल्यू॰ लाइबनीज 42,46,47,58,63,75
जे॰ जी॰ हर्डर 61,62
जे॰ जी॰ सुल्जर 59

जे॰ जी॰ फिक्टे 58,73,118
जे॰ एच॰ आर्प 115
जैक्सन पोलक 115
जेम्स एन्सोर 101
जेरिको 86
जैनेन्द्र 4
जोशुआ रेनॉल्ड्स 55
जोड 64
टॉमस एक्विनॉस 37,38,40
टॉमस रीड 48,55
टॉमस गेसंबरो 55
टॉमस लॉरेंस 55
टर्नर 54,129,130
टिशियां 41
गुलाबराय 188
गुस्ताव कुर्बे 6
गेटे 58,72
घनानंद 124
डी॰ जी॰ रोजेटी 6,54,55,86
डी॰ टी॰ एलग्रिको 41,124
डेविड ह्यूम 48,52,55,62,63,64,65
डेविड कॉक्स 54
थियोडोर लिप्स 87,108,109,139,141
थेलीज 1
थिल्ली 64
दण्डी 181,182
दान्ते 6,32
दुहिण 164
नगेन्द्र 187
नन्दी 154,155
निकोलस पुसिन 41
पंचपगेश शास्त्री 3
पंडितराज जगन्नाथ 49,71,143,187,188
परशुराम शर्मा वैद्य 156
पाणिनि 164
पॉल क्ली 102
पॉल गोगिन 86,105
प्लाटिनस 4,32,33,34,47,51
प्लूटार्क 32
प्लेटो 4,9,10 - 20, 21, 22, 23, 24
27,30,31,33,35,38,40,41,42
44,47,51,67,68,74,104
123, 177
डब्ल्यू॰ वी॰ हम्बोल्ट 72
डि कुनिंग 115
पीटर ब्रूगेल 41
पीटर पॉल रूबेन्स 59
प्रिय बालाशाह 189
प्लैखनोव 145
फिडियास 68
फेयरबेर्न 115,141
फर्डिनांड होडलर 105
फ्रांसिस हचिसन 48
फ्रांसिस बेकन 42,43
फ्रांसिस हेमन 55
फ्रेडरिख़ नीत्शे 4,58,86
फ्रेडरिख़ श्लेगेल 86
फ्लोबेयर 103,104,105
बर्नार्ड बोसांके 21
बर्नेज 28
बॉदलेयर 6,86,103
ब्राक 101,102
बोइले 42
बिहारी 6,192
बी॰ जी॰ बेलिन्सिकी 117,118
बुल्व 63
बूचर 29
बेनादेतो क्रौचे 1,4,32,88-102,103,117
129,131,191,197
वेबर 65
ब्लूम फील्ड 163
भरत मुनि 2,4, 164,165-172,180,184
पाब्लो पिकासो 105
पिकाबिया फ्रांसिस 115
भट्ट तौत 175
भट्ट लोल्लट 172,173,174,176
भट्ट नायक 176,177,178,184, 185,188, 189
भामह 180,181,182
भोज 156
भोलानाथ तिवारी 4
मम्मट 182

मर्फी 16
माइकल ऐंजिलो 40,41,94,114
मार्शल धुंशा 115
मार्क्स एर्न्स्ट 115
मालेविच 106
मिलेस 6
मोरिस 106
मोतीचन्द्र 161
मोड्रिंया 106
महादेवी वर्मा 124
यशोधर पंडित 144,145
यामिनिराय 6
रवीन्द्रनाथ ठाकुर 6,183-200
रसैल 72
राजेन्द्रलाल मिश्र 158
रॉफेल 6,40,41
राधाकृष्णन् 101
रामचन्द्र शुक्ल 167,176,187,189,191
रूद्रट 181
रूप गोस्वामी 188
रूसो 120
रेम्ब्रां 41
रेने देकार्त 42,43,44
रेसीन 42
रोजर फ्राय 103,106
लॉक 42,48,49
लॉर्ड केमस 48,49
लियो टॉल्सटॉय 4,67,117,120-128
प्रो० लिवि 27
लियोनार्डो-द-विंसी 40,41,94
लोंजाइनस 32
वर्ड्सवर्थ 25,55,86,194
वर्नन ली 139
वामन 181,182
वॉन डाइक 55
वात्स्यायन 143,144,161
वाल्टर पेटर 103,105
वासुकि 164
विश्वनाथ 166,167,168,182,186,187
विन्किलमान 59,60,71
विलियम डॉब्सन 55
विलियम होगार्थ 48,50
विलियम ब्लेक 6,54,55,86
पिंसेन्ट वॉन गो 130
वेलास्क्वेज 41
प्रो० व्हाइटहैंड 18
होमर 16,35
होरेस 42
क्षेमेन्द्र 182
श्यामसुंदर दास 4, 183
शंकुक 173,174,175
शिरिको 106
शी हो 144
शैपट्सबरी 48,50,51,55
शेक्सपियर 6,86,100
संत जेरोम 31
संत बेसिल 31
साल्वोर डाली 115
सिगमंड फ्रायंड 4,109,191
सिसरो 32,36,38
सुकरात 9,18
सूजन के० लैंगर 2,4,129,138
सैंड्रो बोटिसेली 40
सोमेश्वर 194
सोरां 107
स्टैला क्रैमरिश 152
स्कोपास 68
स्पिनोजा 42,47
स्विनबर्न 132
हर्बर्ट रीड़ 4,129,136,137
हर्मन ग्रोत्स 106
हर्डर 58
हल्मन हंट 6
हम्बोल्ट 58
हॉब्स 44,45,46
हाल्बिन 55
हाइन्स 58,62
हेनरी मातिस 101,141

□□□

अकादमी द्वारा प्रकाशित ललितकला तथा संगीत विषयक अन्य पुस्तकें

1.	कला के सिद्धांत	आर.जी. कलिंगवुड	11.00
2.	विज्ञापन कला ISBN 81-7137-002-0	एकेश्वर हटवाल	138.00
3.	राजस्थानी चित्रकला ISBN 81-7137-106-X	डॉ. जयसिंह नीरज	116.00
4.	आधुनिक चित्रकला का इतिहास (पं.सं.) ISBN 81-7137-178-7	रवि. सांखलकर	101.00
5.	राजस्थान की सांस्कृतिक परम्परा (द्वि.सं.) ISBN 81-7137-159-0	सं. डॉ. जयसिंह नीरज डॉ. बी.एल. शर्मा	79.00
6.	राजस्थान का सांस्कृतिक इतिहास (द्वि.सं.) ISBN 81-7137-162-0	डॉ. गोपीनाथ शर्मा	60.00
7.	आधुनिक भारतीय चित्रकला के आधार स्तम्भ ISBN 81-7137-185-X	डॉ. प्रेमचन्द्र गोस्वामी	174.00

सौंदर्यशास्त्र पुस्तक में यूनानी सौंदर्यशास्त्र, नव प्लेटोवाद, नव शास्त्रीय युग, आंग्ल-अनुभववादी सौंदर्यशास्त्र, जर्मन सौंदर्यशास्त्र, अभिव्यंजनावादी सौंदर्यशास्त्र, कलावादी सिद्धान्त, मनोवैज्ञानिक सौंदर्यशास्त्र, रूसी भौतिकवादी एवं मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र एवं आधुनिक सौंदर्यशास्त्र के साथ ही सौंदर्यशास्त्र की भारतीय परम्परा, रस सिद्धान्त, भारतीय काव्यशास्त्र के व्याख्याकार एवं आधुनिक भारतीय सौंदर्य विचारकों पर विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। यह पुस्तक विषय से सम्बद्ध सभी जनों के लिए रुचिकर सिद्ध होगी।

डॉ. ममता चतुर्वेदी, जन्म 22 सितम्बर, 1960, चित्रकला में स्नातकोत्तर उपाधि (स्वर्ण पदक) 1981, पी-एच.डी. (जयपुर शैली के भित्ति चित्र) राजस्थान विश्वविद्यालय, 1987। राजस्थान ललित कला अकादमी द्वारा वर्ष 1985 व 93 में पुरस्कृत, विभिन्न स्थानों पर सामूहिक प्रदर्शनियाँ आयोजित, जैसे राष्ट्रीय कला प्रदर्शनी, नई दिल्ली 1986, राजस्थान ललित कला अकादमी, राज्य कला प्रदर्शनी, 1984, 1985, 1986, 1993, अखिल भारतीय कला प्रदर्शनी, 95 राजस्थान ललित कला अकादमी। क्षेत्रीय चित्र प्रदर्शनी नई दिल्ली, द्वारा एन.सी.जेड.सी.सी. इलाहाबाद 1995। एक्जीबिशन ऑफ कन्टम्परेरी पेंन्टिंग्स स्कल्पचर्स एण्ड ग्राफिक्स ऑफ वूमेन आर्टिस्ट, जवाहर कला केन्द्र, जयपुर 1995। अन्तर्राष्ट्रीय कला प्रदर्शनी डब्ल्यू.एल.आर.ए. वर्ल्ड कांग्रेस, 1993। यूथ एक्जीबिशन ऑफ पेंटिंग्स, स्कल्पचर्स एण्ड ग्राफिक्स, बम्बई, 1985। अखिल भारतीय प्रदर्शनी, ललित कला अकादमी, लखनऊ, 1984। अखिल भारतीय प्रिन्ट प्रदर्शनी, द्वारा टखमण्ड-28, 1984। इसके साथ ही विभिन्न कैम्प व वर्कशाप में सम्मिलित, टखमण्ड-28, द्वारा आयोजित अखिल भारतीय प्रिन्ट मैकर्स कैम्प 1983 एवं राजस्थान ललित कला अकादमी द्वारा आयोजित 1984 एवं समय-समय पर आयोजित विभिन्न कला शिविर। आकृति त्रैमासिक, राजस्थान ललित कला अकादमी, 1990, 95 भित्ति चित्र विशेषांक सुजस, राजस्थान पत्रिका, दैनिक भास्कर एवं दैनिक नव ज्योति में लेख प्रकाशित। सम्प्रति, व्याख्याता, चित्रकला, राजस्थान स्कूल ऑफ आर्ट, जयपुर।

मूल्य : 83.00 रुपये मात्र

ISBN 81-7137-222-8